

शैलेश मटियानी के साहित्य में महानगरीय यथार्थ

पीएच.डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत शोध प्रबंध

शणै गोंयबाब भाषा एवं साहित्य महाशाला

गोवा विश्वविद्यालय



शोधार्थी

अभिषेक कुमार गुप्ता

शणै गोंयबाब भाषा एवं साहित्य महाशाला

गोवा विश्वविद्यालय, गोवा

फरवरी- 2024

DECLARATION

I, Abhishek Kumar Gupta hereby declare that this thesis represents work which has been carried out by me and that it has not been submitted, either in part or full, to any other University or Institution for the award of any research degree.

Place: Taleigao Plateau

Abhishek Kumar Gupta

Date: 15/02/2024

CERTIFICATE

I hereby certify that the above Declaration of the candidate, Abhishek Kumar Gupta is true and the work was carried out under my supervision.

Dr. Bipin Tiwari
(Research Guide)

Assistant Professor

Shenoi Goembab School of Languages and Literature

आभार

इस पूरे शोधकार्य की अवधि में मुझे अपने माता-पिता तथा परिजनों का सहयोग प्राप्त होता रहा। समय-समय पर उनके द्वारा मुझे सकारात्मक सोच रखने तथा पूरी तन्मयता से अपना काम करने को प्रेरित करना, मेरा मनोबल बढ़ाता रहा। मेरे शोध निर्देशक डॉ. बिपिन तिवारी ने शोध के प्रत्येक चरण में मेरी सहायता की। शोध के संदर्भ में मार्गदर्शन से इतर वे मेरी व्यक्तिगत चिंताओं में भी बराबर के भागीदार रहे। शोध के लिए उपयुक्त सामग्री के चयन हेतु, उनका पुस्तकों का संग्रह सदैव मेरे लिए खुला था। उनके साथ हुई लंबी चर्चाओं से ही मेरा शोध अपना स्वरूप पा सका। उनकी अपेक्षाओं पर खरा उतरने को प्रतिबद्ध रहना ही उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना होगा।

गोवा विश्वविद्यालय की शणै गोंयबाब भाषा एवं साहित्य महाशाला की शोध अधिष्ठाता प्रो. वृषाली मांद्रेकर, तथा अन्य शिक्षकों का भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ, जो सहयोग को सदैव तत्पर रहते हैं तथा जिनसे समय-समय पर साहित्यिक चर्चा करना शोध में सहायक रहा है। हिंदी विभाग के पूर्व प्रोफेसर स्मृतिशेष रवींद्रनाथ मिश्र का भी मैं स्मरण कर रहा हूँ, जिनके उदार व्यवहार ने मुझे शोध पर ध्यान केन्द्रित करने को प्रवृत्त किया। हिंदी कार्यक्रम के गैर शैक्षणिक कर्मचारियों द्वारा भी सदैव सहयोग प्रदान किया जाता रहा। उनके विनम्र तथा सहयोगी व्यवहार के लिए मैं उनका धन्यवाद करता हूँ। शोधकार्य के लिए आवश्यक संदर्भ ग्रंथों के लिए मैं विश्वविद्यालय के पुस्तकालय पर निर्भर रहा। पुस्तकालय के कर्मचारियों के सहयोग से मैं सुविधाजनक ढंग से अध्ययन कर सका। अतः उनके प्रति भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं नवोदय विद्यालय के अपने शिक्षकों श्री वीरेंद्र कुमार यादव, श्री सतीश चंद्र जोशी, श्री नंदलाल तथा श्री गोविंद सिंह गुंजियाल का भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने विद्यार्थी जीवन में साहित्य में मेरी रुचि जगाई। उनका आशीर्वाद सदैव मेरा पाथेय रहा है।

शैलेश मटियानी के संबंध में विस्तार से जानने के लिए मैंने कई साहित्यकारों के साक्षात्कार भी लिए। उनसे हुई चर्चाओं ने मेरा ज्ञानवर्धन किया है। श्री सुधीर विद्यार्थी जी तो इस शोध की प्रेरणा ही रहे। उनसे ही, शैलेश मटियानी के संघर्षों का वर्णन सुन, मेरी इस विषय में रुचि उत्पन्न हुई। श्री लक्ष्मण सिंह बिष्ट 'बटरोही' ने शैलेश से संबंधित स्मृतियाँ साझा कीं तथा महत्वपूर्ण सामग्री भी उपलब्ध कराई। श्री गोविन्द मिश्र तथा श्री दामोदर दत्त दीक्षित का भी मैं आभारी रहूँगा, जिनसे लंबी चर्चाएं कर मैंने अपने कई संदेह दूर किए।

अंत में चर्चा दोस्तों की 'जिनसे जिंदगी में मानी पैदा होते हैं।' इस शोध को पूरा करने में भाई श्री रणजीत तिवारी तथा चंदन यादव का सहयोग रहा है। मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के मित्रों विशाल त्रिपाठी, वात्सल्य तिवारी, जगदंबा चौरसिया का भी पूरे शोध कार्य के दौरान सहयोग रहा। गोवा विश्वविद्यालय में विभाग के मेरे साथी रोहताश ने सदैव मेरा सहयोग किया है। उनका सद्व्यवहार, मुझे सदैव मनोबल प्रदान करता रहा है। अतः मैं इन सब मित्रों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

-समर्पण-

पिताजी को

जिन्होंने साहित्य में रुचि जगाई

माँ को

जिनकी ममता मेरी प्रेरणा है

प्राक्कथन

महानगर शब्द सुनने पर भौतिक सुख सुविधाओं से परिपूर्ण, समृद्ध और खुशहाल स्थानों का बोध होता है किंतु सच्चाई ऐसी नहीं है। वर्तमान महानगर समस्याओं के बोझ से ऐसे दबे हैं कि कुछ समय यहाँ रहने के बाद व्यक्ति अवकाश लेकर, यहाँ हुए तनाव को कम करने के लिए दूर जाना चाहता है। पूँजी, संसाधन तथा सेवा क्षेत्र की भरमार होने के बाद भी यहाँ प्रसन्नता नहीं है। विषमता ऐसी की भव्य घरों और फुटपथों पर सोने वाले लोग कुछ दूरी पर ही पाए जा सकते हैं। ऐसे में प्रश्न उठता है कि इन समस्याओं का क्या कारण है। क्या वर्तमान पूँजीवादी युग में, इनमें समस्याएं उत्पन्न हुई हैं या फिर इनकी निर्मिति के क्रम में इन समस्याओं के बीज पाए जा सकते हैं।

शैलेश मटियानी ने उत्तराखंड के पर्वतीय जन जीवन तथा महानगरों में अर्थाभाव की जिंदगी जी रहे लोगों पर अत्यंत महत्वपूर्ण लेखन किया है। इसकी महत्ता का कारण यह है कि लेखक ने जो ब्यौरे दिए हैं वे किसी शोध अथवा फील्ड वर्क का हिस्सा न होकर, लेखक के उस समाज के बीच रहने से प्राप्त हुए अनुभव हैं। निर्धनता, बेरोजगारी तथा प्रति व्यक्ति आय आदि के आंकड़े अर्थशास्त्र और समाजशास्त्र की पुस्तकों में मिल जाते हैं किंतु ये आंकड़े लोगों का जीवन किस तरह से गढ़ रहे हैं, प्रभावित कर रहे हैं, यह जानने के लिए साहित्य की शरण लेनी होगी। शैलेश मटियानी ने अपनी रचना यात्रा स्वतंत्र भारत में प्रारंभ की थी, जहाँ अव्यवस्थाओं के लिए जिम्मेदार, कोई विदेशी शासन न होकर भारतीय राजनेता और कर्मचारी थे। बीसवीं सदी के अंतिम चार दशक भारत में सामाजिक राजनीतिक परिवर्तन के रूप में रेखांकित किए जा सकते हैं, यही लेखक का रचनाकाल भी है। इस प्रकार उनके कथा साहित्य के माध्यम से स्वतंत्र्योत्तर भारत का इतिहास जाना जा सकता है।

उन्होंने अपनी सृजनात्मक प्रतिभा और यथार्थबोध से हिंदी साहित्य को समृद्ध किया। शैलेश मटियानी अनेक शहरों की खाक छानते हुए 1952 में बंबई पहुंचे। 1952 से 1957 तक का समय फुटपथों पर काफी संघर्ष करते हुए बीता। जूते-चप्पल चुराने, अपना खून बेचने, जेल में बंद होने, चोरी करने, भिखारियों की पंक्ति में बैठकर खाना खाने, दफा चौवन में बंद होने जैसे अशोभनीय कार्य उन्हें करने पड़े। कुमायूं और मुंबई उनकी रचनात्मकता के दो केंद्र रहे। एक ओर उन्होंने उत्तराखंड के पर्वतीय अंचल के लोगों की समस्याओं का यथार्थ चित्रण किया है, उसी तरह महानगरीय परिवेश में पिछड़े और अभावग्रस्त वर्ग के लोगों की जिंदगी की चुनौतियों का भी वर्णन किया। दरअसल मटियानी जी एक समतामूलक समाज का स्वप्न देखते थे किंतु जब महानगरों में उन्होंने एक ही स्थान पर गंदी, बदबूदार मलिन बस्तियों और उन्हें मुंह चिढ़ाती अट्टालिकाओं को देखा तो उनके स्वप्न चकनाचूर हो गए। वे उस वर्ग के प्रति चिंतित थे जहाँ विकास परियोजनाओं को तो छोड़िए प्रकृतिप्रदत्त सुविधाएं तक नहीं पहुँच पातीं। विशाल गगनचुम्बी इमारतों के साए तले बनीं अस्थायी झुग्गी-झोपड़ियों में न सूरज की रोशनी ही पहुँचती है, न हवा और न साफ पानी। प्रेमचंदयुगीन तथा उनके परवर्ती साहित्य में गरीबों, दलितों, बेसहारा स्त्रियों के संकटों का चित्रण हुआ किंतु मटियानी जी वर्ग विभेद की जड़ों तक पहुँचने के लिए बहुत गहरे उतरते हैं। इस यात्रा में वे स्टेशन पर काम करने वाले कुलियों, ट्रेन में लोगों का मनोरंजन कर दो-चार रुपए कमाने वाले लोगों, वेश्याओं तथा समाज द्वारा तिरस्कृत उनके बच्चों, मंदिर-मस्जिद, दरगाहों

के बाहर भीख मांगने वालों, शराब, जुएँ जैसे व्यसनों में पड़े लोगों को भी अपने साहित्य का विषय बनाते हैं। वे महानगरों में दरिद्रता और अभाव का जीवन जीने को अभिशप्त ऐसे लोगों का चित्रण करते हैं जिनके लिए स्वाभिमान, मानवीय गरिमा, अस्मिता जैसे भावों का कोई अर्थ नहीं। जिनके लिए जिन्दगी कोई सुखपूर्वक बिताने की चीज नहीं बल्कि जिनपर जिन्दगी एक कहर की तरह टूटती है।

स्नातक में अध्ययन के समय मेरी रुचि प्रेमचंद की विरासत को आगे बढ़ाने वाले जनवादी कथा धारा के लेखकों में बढ़ी और मैंने अमरकांत, रांगेय राघव, शैलेश मटियानी, मार्कंडेय जैसे लेखकों की रचनाओं का अध्ययन किया। इन लेखकों में मटियानी जी के विषय में मैंने एक कार्यक्रम में कवि वीरेन डंगवाल का संक्षिप्त व्याख्यान सुना था। बाद में लेखक सुधीर विद्यार्थी से मटियानी जी के दुर्धर्ष जीवन संघर्ष के किस्से सुनने को मिले। उनके प्रति उपजी सहानुभूति के कारण उनके साहित्य को गहराई से पढ़ने की इच्छा हुई। शैलेश के साहित्य के अध्ययन के दौरान लोककथा शैली में लिखी कुमायूं के जन जीवन पर आधारित कहानियां पढ़ना अविस्मरणीय अनुभव था और हाशिये के लोगों के प्रति मटियानी जी की प्रतिबद्धता मेरे लिए अनुकरणीय थी इस कारण मैंने उनके साहित्य पर शोध करने का निर्णय लिया। हिंदी साहित्य में उपेक्षा के शिकार लोगों पर गंभीर रचनाएं लिखी गयीं हैं और इस विषय से जुड़े आयामों पर विचार किया गया है किंतु शैलेश मटियानी के लेखन में सबसे निचले पायदान पर खड़े लोगों का जीवन व्यक्त किया गया है। महानगरों में अतिशय अभावों और अनिश्चितताओं का जीवन जीते लोगों की कहानियां मानव मन को कचोटने वाली हैं।

शैलेश मटियानी का सृजन कर्म स्वतंत्र भारत के चार दशकों का लेखा-जोखा है। उनके साहित्य में चार दशकों के इतिहास को सबॉल्टर्न दृष्टि से देखा जा सकता है। यह मेरी रुचि का क्षेत्र है। इस कारण भी मैंने शैलेश मटियानी के कथा साहित्य पर शोध करने का निर्णय लिया। उनका कुमायूं अंचल पर केन्द्रित साहित्य, भाषा, कल्पनाशीलता, विविध प्रयोगों के कारण पढ़ा और सराहा जाता है। उनकी कई रचनायें तो हिंदी साहित्य की थाती हैं। मैंने महानगरों पर केन्द्रित साहित्य को अपने अध्ययन का विषय बनाया। उनके द्वारा उठाये गए विषय आज भी प्रासंगिक हैं। कई संकट जिनकी और उन्होंने बहुत पहले ही संकेत किया था, वे आज और भयावह रूप में आज हमारे सामने खड़े हैं। ऐसे समय में उनका साहित्य और अधिक प्रासंगिक हो गया है।

अध्ययन में सुगमता की दृष्टि से इस शोध कार्य को पाँच अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय में महानगरीय यथार्थ के कोशगत अर्थ तथा परिभाषा, अवधारणा एवं स्वरूप, महानगरीय विकास के विविध चरणों तथा भारतीय महानगरों के विकास एवं उनकी समस्याओं को समझने का प्रयास किया गया है। औपनिवेशिक भारत में नगरों के विकास का विश्लेषण भी किया गया है।

द्वितीय अध्याय में हिंदी कथा साहित्य में महानगरीय जीवन के चित्रण की पड़ताल की गयी है। महानगरों में रहने वाले प्रत्येक वर्ग को केंद्र में रख रचनाएँ लिखी गयी हैं किंतु इस शोध प्रबंध में हाशिये के समाज पर केंद्रित रचनाओं का ही अध्ययन और विवेचन किया गया है।

तृतीय अध्याय प्रस्तुत शोध का प्रमुख अध्याय है, जिसमें मटियानी जी के महानगरों पर केन्द्रित कथा साहित्य का विवेचन किया गया है। उनके उपन्यास तथा कहानियों के कथ्य और उसमें निहित अंतर्दृष्टियों पर विचार किया गया

है। उनकी कृतियाँ थोथी कल्पनाओं पर आधारित न होकर अनुभवों के ताप और संवेदना की नमी से रची गयीं थीं। इन कृतियों का अध्ययन इतिहास के उस कालखंड का भी अध्ययन होगा जिसमें ये रची गयीं।

चौथे अध्याय में मटियानी जी के कथेतर लेखन का अध्ययन किया गया है। उनके संस्मरणों में महानगरों की उन स्याह सच्चाइयों का वर्णन है जिनकी जानकारी कम ही लोगों को हो पाती है। जेलों के भीतर के जीवन, पुलिस की कार्य प्रणाली, समाज में निहित असमानता और अपराध के संबंधों का उल्लेख इन संस्मरणों में किया गया है। हिंदी साहित्य में शैलेश मटियानी की ख्याति एक कहानीकार के रूप में है किंतु कथेतर गद्य विधाओं में भी उन्होंने महत्वपूर्ण साहित्य सृजन किया है। बात यदि महानगरीय जीवन पर केंद्रित उनके कथेतर साहित्य पर की जाए तो अनेक संस्मरणों, निबंधों तथा पत्रों के रूप में यह उपलब्ध होता है।

पांचवें अध्याय में शैलेश मटियानी के कथा साहित्य में वाक्य रचना एवं शब्द प्रयोग, लोकोक्तियों-मुहावरों, बिंब-प्रतीकों तथा भाषा की सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना का अध्ययन किया गया है। अपनी रचनाओं में उनके द्वारा किये गए भाषिक प्रयोग, पाठकों और आलोचकों द्वारा सराहे गए हैं। उनकी भाषा के विविध आयामों पर प्रस्तुत अध्याय में विचार किया गया है। शैलेश मटियानी अपने समय की समस्याओं को तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों के आलोक में देख रहे थे। स्वतंत्रत भारत के लगभग हर महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन- आपातकाल, जयप्रकाश नारायण के आन्दोलन, जनता पार्टी के उदय, मंडल आयोग की सिफारिशों के लागू होने तथा नब्बे के दशक में सांप्रदायिकता के उदय आदि पर शैलेश जी ने उल्लेखनीय टिप्पणियाँ की हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि आर्थिक असमानता तथा शोषण को वे राजनैतिक उदासीनता तथा भ्रष्टाचार की उपज मानते थे। अतः प्रस्तुत शोध में तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य को भी समझने का प्रयास किया गया है।

इस पूरे शोधकार्य के दौरान मुझे अपने माता-पिता तथा परिजनों का सहयोग प्राप्त होता रहा। समय-समय पर उनका मुझे सकारात्मक सोच रखने तथा पूरी तन्मयता से अपना काम करने को प्रेरित करना, मेरा मनोबल बढ़ाता रहा। मेरे शोध निर्देशक डॉ. बिपिन तिवारी ने शोध के प्रत्येक चरण में मेरी सहायता की। शोध के संदर्भ में मार्गदर्शन से इतर वे मेरी व्यक्तिगत चिंताओं में भी बराबर के भागीदार रहे। शोध के लिए उपयुक्त सामग्री के चयन हेतु, उनका पुस्तकों का संग्रह सदैव मेरे लिए खुला था। उनके साथ हुई लंबी चर्चाओं से ही मेरा शोध अपना स्वरूप पा सका। उनकी अपेक्षाओं पर खरा उतरने की प्रतिबद्धता ही उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना होगा।

गोवा विश्वविद्यालय की शणै गोंयबाब भाषा एवं साहित्य महाशाला की शोध अधिष्ठाता प्रो. वृषाली मांद्रेकर, तथा अन्य शिक्षकों का भी मैं आभार व्यक्त करता हूँ, जो सहयोग को सदैव तत्पर रहते हैं तथा जिनसे साहित्यिक चर्चा करना शोध में सहायक रहा है। हिंदी विभाग के पूर्व प्रोफेसर स्मृतिशेष रवींद्रनाथ मिश्र का भी मैं स्मरण कर रहा हूँ, जिनके उदार व्यवहार ने मुझे शोध पर ध्यान केन्द्रित करने को प्रवृत्त किया।

मैं नवोदय विद्यालय के अपने शिक्षकों श्री वीरेंद्र कुमार यादव, श्री सतीश चंद्र जोशी, श्री नंदलाल तथा श्री गोविंद सिंह गुंजियाल का भी आभार व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने विद्यार्थी जीवन में साहित्य में मेरी रूचि जगाई। उनका आशीर्वाद सदैव मेरा पाथेय रहा है।

शैलेश मटियानी के संबंध में विस्तार से जानने के लिए मैंने कई साहित्यकारों के साक्षात्कार भी लिए। उनसे हुई चर्चाओं ने मेरा ज्ञानवर्धन किया है। श्री सुधीर विद्यार्थी जी तो इस शोध की प्रेरणा ही रहे। उनसे ही, शैलेश मटियानी के संघर्षों का वर्णन सुन, मेरी इस विषय में रूचि उत्पन्न हुई। श्री लक्ष्मण सिंह बिष्ट 'बटरोही' ने शैलेश से संबंधित स्मृतियाँ साझा कीं तथा महत्वपूर्ण सामग्री भी उपलब्ध कराई। श्री गोविन्द मिश्र तथा श्री दामोदर दत्त दीक्षित का भी मैं आभारी रहूँगा, जिनसे लंबी चर्चाएं कर मैंने अपने कई संदेह दूर किए।

अंत में चर्चा दोस्तों की 'जिनसे जिंदगी में मानी पैदा होते हैं।' इस शोध को पूरा करने में भाई श्री रणजीत तिवारी तथा चंदन यादव का सहयोग रहा है। मैं उनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ। इलाहाबाद विश्वविद्यालय के मित्रों विशाल त्रिपाठी, वात्सल्य तिवारी, जगदंबा चौरसिया का भी पूरे शोध कार्य के दौरान सहयोग रहा। गोवा विश्वविद्यालय में विभाग के मेरे साथी रोहताश ने सदैव मेरा सहयोग किया है। उनका सद्व्यवहार, मुझे सदैव मनोबल प्रदान करता रहा है। अतः मैं इन सब मित्रों के प्रति भी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

अनुक्रमणिका

शैलेश मटियानी के साहित्य में महानगरीय यथार्थ

- प्राक्कथन

1. महानगरीय यथार्थ: सैद्धांतिक विवेचन

1-47

1.1 कोशगत अर्थ तथा परिभाषाएँ

1.1.1. कोशगत अर्थ

(क) महानगर

(ख) यथार्थ

1.1.2. परिभाषाएं

1.2 अवधारणा एवं स्वरूप

1.3 महानगरीय विकास के विविध चरण

1.3.1 गाँव

1.3.2 क़स्बा

1.3.3 नगर

(क) नगरीय जीवन का आरंभ

(ख) नगर क्रांति

(ग) वैश्विक नगर

(घ) नगरीकरण के कारक

1.3.4 महानगर

1.4 भारतीय महानगरों का विकास

1.4.1 पूर्व औपनिवेशिक काल

1.4.2 औपनिवेशिक काल

1.4.3 उत्तर औपनिवेशिक काल

1.5 महानगरीय जीवन की समस्याएं

1.5.1. महानगरीय समाज की संरचना

(क) अस्थिरता

(ख) कृत्रिमता

(ग) व्यक्तिवादिता

1.5.2. महानगरों की समस्याएं

(क) निर्धनता

(ख) मलिन बस्तियां

(ग) प्रवास

(घ) अकेलापन तथा अजनबियत

(ङ) पर्यावरण की चुनौती

(च) असंगठित क्षेत्र के श्रमिक

1.6. साहित्यकारों की दृष्टि में महानगर

2. हिंदी कथा साहित्य में महानगरीय यथार्थ

48-75

2.1 हिंदी कथा साहित्य में महानगरीय यथार्थ के चित्रण की पृष्ठभूमि

2.2 हिंदी कथा साहित्य में महानगरीय यथार्थ

2.2.1 प्रेमचंद पूर्व हिंदी कथा साहित्य में महानगरीय यथार्थ

2.2.2 प्रेमचंद युगीन हिंदी कथा साहित्य में महानगरीय यथार्थ

2.2.3 प्रेमचंदोत्तर हिंदी कथा साहित्य में महानगरीय यथार्थ

2.3 भूमंडलोत्तर कहानी

3.1 शैलेश मटियानी का कथा साहित्य

3.2 शैलेश मटियानी का महानगर केन्द्रित कथा साहित्य

3.2.1 उपन्यास

(क). बोरीवली से बोरीबंदर तक

(ख). कबूतरखाना

(ग). किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई

(घ). मंजिल दर मंजिल

(ङ) बर्फ गिर चुकने के बाद

(च). छोटे-छोटे पक्षी

(छ). आकाश कितना अनंत है

(ज). सवित्तरी

(झ). डेरेवाले

(ञ). बावन नदियों का संगम

(ट). अर्द्धकुंभ की यात्रा

(ठ). चंद औरतों का शहर

3.2.2. शैलेश मटियानी की कहानियां

(क). इल्लेस्वामी

(ख). चिथड़े

(ग). दैट माई फादर बाल जी

(घ). जिसकी जरूरत नहीं थी

(ङ) मौत का सामान

(च). विट्ठल

(छ). एक कोप चा: दो खारी बिस्किट

(ज). इब्बूमलंग

3.3 शैलेश मटियानी के साहित्य में चित्रित महानगरीय समस्याएं

3.3.1. उपन्यासों में चित्रित महानगरीय समस्याएं

(क) स्त्रियों की दुर्दशा का चित्रण

(ख) आर्थिक विपन्नता से जूझते लोग

(ग) राजनीति और सरकारी तंत्र की संवेदनशून्यता

(घ) महानगरीय जीवन में एकाकीपन

3.3.2. कहानियों में चित्रित महानगरीय समस्याएं

(क) असंगठित मजदूरों तथा नौकरों की स्थिति

(ख). भूख की समस्या

(ग)स्त्रियों की समस्याएं

4. शैलेश मटियानी के कथेतर साहित्य में महानगरीय यथार्थ

104-133

4.1 शैलेश मटियानी का कथेतर गद्य

4.1.1. संस्मरण

4.1.2. निबंध एवं वैचारिक लेख

4.1.3. संपादन

4.1.4. लोक साहित्य

4.1.5. बाल साहित्य

4.2 शैलेश मटियानी के कथेतर गद्य साहित्य में महानगरीय यथार्थ

(क) मैं और मेरी रचना प्रक्रिया

(ख) लेखक की हैसियत से

(ग) पर्वत से सागर तक

(घ) मुड़-मुड़कर मत देख

4.3. शैलेश मटियानी के कथेतर गद्य में महानगरों की समस्याएं

(क). गरीबी तथा भूख

(ख). स्त्रियों की समस्याएं

(ग). महानगरों में अपराध

(घ). शहरों में जातीय द्वेष तथा सांप्रदायिक घृणा

(ङ). राजनीतिक उदासीनता तथा शासन का भ्रष्टाचार

(च). महानगरों में हताशा और अजनबीपन

5. शैलेश मटियानी के कथा साहित्य का भाषागत अध्ययन

134-158

5.1 शैलेश मटियानी की भाषा विषयक मान्यताएं

5.2 शैलेश मटियानी के कथा साहित्य की भाषा

5.2.1 मुहावरे और लोकोक्तियाँ

5.2.2 बिम्ब तथा प्रतीक योजना

5.2.3 उपमाएं

5.3 शैलेश मटियानी के कथा साहित्य की भाषा का सांस्कृतिक अध्ययन

5.3.1 शैलेश मटियानी की शब्दावली

5.3.2 महानगरों का वर्ग विभेद

5.3.3 स्त्रियों की दुर्दशा तथा वेश्या समस्या

5.3.4 राजनीतिक चेतना को प्रदर्शित करती भाषा

5.3.5 अस्थिर संबंध तथा कुंठाएं

5.3.6 शैलेश मटियानी की भाषिक विशिष्टताएं

परिशिष्ट

- साहित्यकारों से शैलेश मटियानी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर केन्द्रित भेंटवार्ताएँ
 - 1. लेखक गोविंद मिश्र से शैलेश मटियानी से संबंधित बातचीत 159-166
 - 2. लक्ष्मण सिंह बिष्ट “बटरोही” का साक्षात्कार 167-168
- उपसंहार 169-172
- संदर्भ ग्रंथ सूची 173-176

अध्याय :1

महानगरीय यथार्थ : सैद्धांतिक विवेचन

मानव सभ्यता के आरंभिक चरण में मनुष्य, आखेट तथा पशु-पालन के सहारे अपना भोजन जुटाता तथा घुमंतू जीवन व्यतीत करता था। यह दौर लंबा चला। समय के साथ वह जीवन को सुगम बनाने की वस्तुओं का आविष्कार करता रहा और अपने अनुभव से जीवन जीने की पद्धतियाँ भी विकसित करता रहा। कृषि कर्म के आरंभ के बाद मनुष्य स्थायी बस्तियों में सहजीवन में रहने लगा। कृषि के साथ-साथ अन्य व्यवसाय भी प्रारंभ हुए। मानवीय साधनों के विकास तथा जनसंख्या वृद्धि के साथ मानव बस्तियों का विकास होना प्रारंभ हुआ। ये समूह आकार, स्वरूप, व्यवस्था आदि में भिन्नता लिए हुए थे, फलतः इनके विकास की गति में भी भिन्नता थी। इनमें से कुछ बड़े नगर ही, ग्राम से कस्बे, कस्बे से नगर और फिर बड़े नगरों के रूप में विकसित होकर महानगर के रूप में जाने गए। महानगरों पर गहन शोध करने वाले अमेरिकी समाजशास्त्री लेविस ममफोर्ड ने अपनी पुस्तक ‘द सिटी इन हिस्ट्री’ में लिखा है कि- “नगरों की उत्पत्ति के मूल में ग्राम हैं। कालांतर में बड़े ग्रामों ने विकसित होकर नगरों का रूप धारण कर लिया। ग्राम और नगर की संस्कृति के मिलने से एक नई जीवन विधि का विकास हुआ।”¹ ‘महानगरीय यथार्थ’ के विवेचन से पूर्व इन दोनों शब्दों के अर्थ को जानना आवश्यक होगा।

1.1 कोशगत अर्थ तथा परिभाषाएं

1.1.1. कोशगत अर्थ

(क) महानगर

‘नगर’ शब्द के लिए अंग्रेजी में ‘सिटी’ शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्राचीन रोम में नागरिकों की स्थानीय प्रशासनिक इकाइयों को ‘सिविटास’ कहा जाता था। इसी लैटिन शब्द ‘सिविटास’ से ‘सिटी’ शब्द बना है जिसका आशय नागरिकता से है। ‘नगर’ शब्द से अनेक विशेषताओं वाली भौगोलिक इकाई का बोध होता है जो उसे गाँव और कस्बों से अलग करती है। यह भिन्न परिवेश ही वहां के निवासियों के व्यवहार को भी निर्धारित करता है।

महानगर शब्द अंग्रेजी के ‘मेट्रोपोलिटन’ का हिंदी अर्थ है जो ग्रीक साहित्य में उद्धृत मेट्रोपोलिस अर्थात् ‘मातृनगर’ से उत्पन्न है। अधिक जनसंख्या घनत्व, उच्च स्तरीय शिक्षण तथा स्वास्थ्य संस्थाओं और राष्ट्रीय एवं अंतर्राष्ट्रीय कार्यों के महत्वपूर्ण केंद्र स्थल महानगर कहलाते हैं।

(ख) यथार्थ

यथार्थ का अर्थ है- यथा+अर्थ यानी जैसा है वैसा अर्थ। यथार्थवाद वास्तविकता को चित्रित करने वाली शैली है। हिंदी साहित्य कोष में यथार्थवाद को साहित्य की एक विशिष्ट पद्धति बताया गया है जिसके अनुसार कलाकार को

जीवन के वास्तविक रूप का अंकन ही अपनी रचनाओं में करना चाहिए। “भारतीय विद्वानों में जयशंकर प्रसाद यथार्थवाद को ‘जीवन के दुःख और अभावों’ का उल्लेख मानते हैं, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेई ‘यथार्थवाद’ का संबंध प्रत्यक्ष वास्तु जगत से जोड़ते हैं, शिवदान सिंह चौहान इसे ‘निर्विकल्प रूप से जीवन की वास्तविकता का प्रतिबिम्ब’ स्वीकार करते हैं तथा प्रेमचंद यथार्थवाद को ‘चरित्रगत दुर्बलताओं, क्रूरताओं और विषमताओं का नम्र चित्र’ मानते हैं।”²

इस प्रकार महानगरीय यथार्थ का आशय महानगरों में रहने वाले लोगों की स्थितियों के समेकित और वास्तविक विवेचन से है।

1.1.2 परिभाषाएं

अनेक समाजशास्त्रियों, इतिहासकारों तथा विचारकों ने नगर की अनेक परिभाषाएँ दी हैं। कुछ महत्वपूर्ण परिभाषाओं का जिक्र करना उपयुक्त होगा-

लुईस ममफोर्ड, जिनका लेखन नगरों के अतीत और उनके विकसित होने की प्रक्रिया पर अत्यंत महत्वपूर्ण शोध है, अपने लेख ‘व्हाट इज ए सिटी’ में नगर की परिभाषा देते हुए नगर को एक ऐसा क्षेत्र बताते हैं “जिसमें अनेक प्रकार के व्यक्ति समूह, आर्थिक संगठनों और क्रियाकलापों में जुटे होते हैं। जिनका संचालन कुछ नियमों पर आधारित होता है तथा जो एक सीमित भौगोलिक क्षेत्र में निर्मित स्थायी संरचनाओं के अंतर्गत स्थित होते हैं।”³

लुई वर्थ ने लिखा है- सामाजिक रूप से विषमतायुक्त व्यक्तियों की ऐसी स्थायी बसावट जो अपेक्षाकृत वृहत् एवं सघन हो, नगर कहलाती है।”⁴

मैकाइवर और पेज ने नगरीय एवं ग्रामीण जीवन की विशेषताओं के आधार पर नगर को स्पष्ट करने की कोशिश की है। उनके अनुसार- “जहाँ ग्रामीण जीवन में कुछ विशिष्ट लक्षण होते हैं, जैसे परिवार का प्रभुत्व, प्राथमिक संबंध, सरल-सादा जीवन, कृषि प्रधान व्यवसाय इत्यादि, वहीं नगरों की भी कुछ विशेषताएं होती हैं, जैसे व्यावसायिक विशेषीकरण, तीव्र प्रतिस्पर्धात्मक वातावरण, स्त्री पुरुष की सामाजिक प्रस्थिति, सामाजिक गतिशीलता इत्यादि।”⁵

नगर को भौगोलिक, ऐतिहासिक, पारिस्थितिकीय आदि अनेक दृष्टिकोणों से व्याख्यायित किया जा सकता है। संक्षेप में सभी दृष्टिकोणों के विवेचन को इस रूप में सारगर्भित किया जा सकता है- कानूनी दृष्टि से नगर वह स्थान है, जो अपने सीमाक्षेत्र में नगर पालिका जैसी स्थानीय प्रशासनिक संस्थाओं द्वारा संचालित होता है तथा जहाँ की जनसंख्या एक निश्चित संख्या से अधिक होती है। पारिस्थितिकीय दृष्टिकोण से, नगर का अर्थ उस स्थान से है, जहाँ ग्रामीण क्षेत्र के उलट एक विशेष प्रकार का प्राकृतिक परिवेश पाया जाता है। जनसंख्यात्मक दृष्टिकोण से, किसी स्थान विशेष में निवास करने वाले लोगों की संख्या तथा वहाँ के जनसंख्या के घनत्व आदि को आधार बनाकर उसकी श्रेणी निर्धारित की जाती है। सभ्यता के विकास में मनुष्य के स्थायी रूप से समूहों में निवास आरंभ किया लेकिन ये समूह अपने आकार, बसावट तथा कार्यविधि में शुरू से भिन्न थे। कुछ समूह आकार में बड़े तो कुछ बहुत छोटे आकर के थे। पानी की उपलब्धता, कृषि की सहूलियतों से इनकी विकास की गति पर भी असर

पड़ा। नदियों के किनारे के समूह अपेक्षाकृत अधिक विकसित होते गए और इन्हें नगर कहा गया। संभवतः इसीलिए लुईस ममफोर्ड ने नगर को मनुष्य की बसावट जितना ही प्राचीन बताया। नगर की अवधारणा आधुनिक विश्व में सामने आयी हो ऐसी बात नहीं है, बल्कि प्राचीनकाल में ही नगर अस्तित्व में आ गए थे। पश्चिमी देशों में घटित हुई औद्योगिक क्रांति से नए नगरों का विकास हुआ और नगरीकरण की प्रक्रिया को गति मिली। इसी कारण अध्ययन की सुविधा के लिए नगरों को औद्योगिक क्रांति पूर्व के नगर तथा क्रांति के पश्चात के नगरों के रूप में विभाजित भी किया जाता है। नगरों के विधिवत अध्ययन की सही पद्धति भी उसके बाद विकसित हुई जिसे नगरीय समाजशास्त्र का नाम दिया गया। मेयर, विलकॉक्स, ग्रांट जैसे विदेशी विद्वानों ने नगरों पर वृहत अध्ययन प्रस्तुत किया है। नगरों की विशिष्टताओं को आधार बनाकर वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ अध्ययन समाजशास्त्र की एक नवीन शाखा के रूप में करने हेतु नगरीय समाजशास्त्र को सत्रहवीं, अठारहवीं सदी की औद्योगिक क्रांति के पश्चात विकसित किया गया। हालाँकि इससे बहुत पहले 1588 ई. में ही इटली के लेखक जोवानी बोटेरो ने नगरों के अध्ययन पर ‘डेले कॉज डेला ग्रैंडेजा सिता’ नाम की पुस्तक लिखी, जिसको इस विषय पर लिखी पहली पुस्तक माना जाता है।

1.2 अवधारणा एवं स्वरूप

महानगर शब्द ‘मातृनगर’ के अर्थ में प्राचीन ग्रीक साहित्य में प्रयोग किया गया है। ग्रीस के सभी प्राचीन नगर इसी भावना के आधार पर बसे हुए थे। आर्थिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक विशेषताओं के आधार पर ये छोटे-छोटे समूहों में संगठित थे। बाद में जब ग्रीस के निवासियों ने उपनिवेश बनाये तो वहाँ भी वे अपने साथ मातृनगर के सार्वजनिक चूल्हे की अग्नि ले कर गए। इस प्रकार की राष्ट्रीयता के विकसित होने से इन नगरों की विशेषताओं को बढ़ावा मिला और 10 लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगर को महानगर कहा जाने लगा। हालाँकि आधुनिक नगरों में राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय महत्व के संस्थानों का होना अधिक आवश्यक है। अतः महानगर अधिक जनसंख्या वाले, विजातीयता से परिपूर्ण, गतिशील सामाज्य होते हैं। अनेक चरणों से होते हुए, एक क्रमबद्ध प्रक्रिया में महानगरों का निर्माण होता है। किसी क्षेत्र के क्षेत्रफल, जनसंख्या, आधारभूत संरचना तथा अंतर्राष्ट्रीय महत्व से उसे महानगर की श्रेणी में रखा जाता है।

नगर बड़ी संख्या में लोगों के निवास के साथ ही आर्थिक और राजनीतिक गतिविधियों के केंद्र भी होते हैं। जब किसी अर्थव्यवस्था में खाद्य उत्पादन के अतिरिक्त अन्य आर्थिक गतिविधियाँ विकसित होने लगती हैं तब किसी एक स्थान पर जनसंख्या का घनत्व बढ़ जाता है। इसके फलस्वरूप कोई क्षेत्र विस्तार पाकर कस्बे के रूप में विकसित होने लगता है। गाँव तथा नगर परस्पर एक-दूसरे पर निर्भर भी होते हैं। जहाँ गाँव कृषि उपज तथा दुग्ध उत्पादों के उत्पादन के केंद्र होते हैं तो नगर इनके विपणन, भंडारण और उपभोग के केंद्र। जो मानव संसाधन नगरों में विभिन्न प्रकार की योजनाओं को मूर्त रूप देते हैं, गाँव और कस्बों से ही नगरों में आता है। इस प्रकार ग्रामीण क्षेत्र और नगरीय क्षेत्र अन्योन्याश्रित हैं। व्यापार और सेवा क्षेत्र के अतिरिक्त परिवहन व्यवस्था महानगरीय विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। आकार में बड़े होने के कारण महानगरों की प्रशासनिक व्यवस्था सुचारू रूप से चलाना भी एक चुनौती होता है। इस कारण महानगरों को अनेक जिलों तथा अन्य उपभागों में बांटा जाता है। अनेक उद्यमों के केंद्र होने के बावजूद अधिकतर महानगर कुछ विशेष गतिविधियों के केंद्र माने जाते हैं, जैसे,

भारत में मुंबई को आर्थिक राजधानी माना जाता है तो वहीं बेंगलुरु, सूचना प्रौद्योगिकी संबंधी सेवाओं में अग्रणी है, राजधानी होने के कारण दिल्ली का राजनीतिक महत्व है। इसी तरह विश्व के अनेक महानगर- पेरिस, लंदन, प्राग का किसी एक क्षेत्र में विशेष महत्व है।

इसके सैकड़ों उप-विभाग होते हैं। यह हम भारत के महानगरों में देख सकते हैं। जैसे दिल्ली, कोलकाता, मुम्बई, चेन्नई आदि। इनमें छोटे नगर अग्नि रक्षा-जिला, जिला, पुलिस जिला और स्कूल जिले जैसे अनेक उपभाग होते हैं। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि एक महानगर के अन्दर अनेक नगर और जिले होते हैं जो सब मिलकर एक महानगर गढ़ते हैं। महानगर छोटे नगरों को प्रभावित करते हैं, क्योंकि यह विभिन्न क्रियाकलापों के केन्द्र होते हैं (Hubs of activities)। प्रत्येक महानगर में अनेक समुदाय होते हैं जो जनता की विभिन्न प्रकार की दैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं जैसे, अण्डे, मक्खन, डबलरोटी, दूध आदि। इतना ही नहीं, यहां तरह-तरह की दुकानें होती हैं जो जनता की आवश्यकताओं को पूर्ण करती हैं चाहे वे ब्रान्डेड दुकान हों या लोहे की विभिन्न वस्तुओं की। यहां व्यावसायिक शिक्षा के भी केन्द्र होते हैं। पारिवारिक व्यापार के लिए ऋण भी दिया जाता है। राष्ट्रीय स्तर के कलाकार होते हैं। महानगरों की यह भी विशेषता है कि वे दूसरे महानगरों पर भी विभिन्न चीजों के लिए निर्भर होते हैं। ये सभी चीजें विशेषीकृत और ब्रान्डेड होती हैं, जो किसी महानगर की पहचान होती हैं। ये वहीं बनती हैं। जैसे न्यूयॉर्क सुविधाएं प्रदान करता है स्टॉक एक्सचेंज की, रुपयों का बाजार, वस्तुओं के थोक के बाजार यह नगर के आस-पास के क्षेत्रों की आवश्यकताओं को पूर्ण करती है। आवागमन के साधनों की क्षेत्रीय सुविधाएं होने से नगर परस्पर जुड़ने लगते हैं।

सामाजिक संरचना के संदर्भ में भी महानगर अनेक विशेषताएं लिए होते हैं। महानगरीय समाज में व्यक्ति आत्मकेंद्रित, व्यस्त तथा व्यावसायिक कार्यों को प्राथमिकता देने वाला होता है। परिवार एकल होते हैं। स्त्री-पुरुष संबंधों में तनाव भी महानगरों में एक सामान्य बात है। इन स्थितियों के अपवाद भी पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं।

प्रकार के दृष्टिकोण अपनाए गए हैं। अमेरिका में 1950 में जनगणना के आधार पर सूची बनाई गई है। महानगर के निर्धारण के लिए उद्योग, व्यवसाय तथा जनसंख्या को आधार मन गया है। इसके विपरीत इंग्लैंड में कस्बों के आधार पर महानगर को परिभाषित किया गया। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो पर हुए शोधों से यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि भारत में ईसा पूर्व ही नगरों की बसाहट प्रारंभ हो चुकी थी। गंगा नदी के किनारे पाटलिपुत्र नाम का नगर जो अब पटना के नाम से जाना जाता है, पहली शताब्दी के मध्य विकसित हुआ था। गिस्ट और हेल्बर्ट के अनुसार, सभ्यता की उत्पत्ति के साथ ही नगरों की उत्पत्ति भी हुई। मानवीय साधनों के विकास के साथ-साथ नगरों का भी विकास हुआ। आखेट और पशुपालन की अवस्था को पार करते हुए जब मनुष्य ने कृषि युग में प्रवेश किया उसी समय ग्राम एवं शहरों की उत्पत्ति हुई। कृषि के साथ-साथ अन्य व्यवसायों का भी जन्म हुआ। धीरे-धीरे जनसंख्या वृद्धि होने लगी और नगरों का विकास होना प्रारंभ हो गया।

महानगर की निम्नलिखित विशेषताओं को रेखांकित करना उपयुक्त होगा:-

- 1 जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि
- 2 उच्च स्तरीय राष्ट्रीय तत्वों का विद्यमान होना
- 3 उच्च स्तरीय शिक्षण संस्थाएं

- 4 अंतर्राष्ट्रीय कार्यों का महत्वपूर्ण केंद्र स्थल
- 5 आवागमन के उच्च स्तरीय साधन
- 6 विशाल औद्योगिक एवं व्यावसायिक केंद्र
- 7 कला, साहित्य, विज्ञान, चिकित्सा एवं तकनीकी ज्ञान की अनेक विशाल संस्थाएं
- 8 विशिष्ट चिकित्सीय व्यवस्था

1.3 महानगरीय विकास के विविध चरण

1.3.1 ग्राम

ग्राम, भाषिक, सांस्कृतिक एकरूपता लिए अपेक्षाकृत छोटी भौगोलिक इकाइयाँ हैं। सामाजिक व्यवस्था का निर्माण क्रमबद्ध रूप में हुआ है। प्राचीन काल में लोग अलग-अलग सामाजिक समूहों में रहते थे। ये सामाजिक समूह ही बाद में ग्रामों के रूप में स्थापित हुए। महाभारत में हमें घोघ, ब्रज, पल्लि जैसी मानव बस्तियों का उल्लेख मिलता है। साथ ही ग्राम तथा उससे सम्बद्ध प्रशासनिक व्यवस्था का भी उल्लेख मिलता है। ग्राम का मुखिया 'ग्रामिणी', तो दस गांवों के समूह के प्रमुख को 'दस ग्रामिणी' कहा जाता था। समाजशास्त्रियों ने गांवों को 'लघु समुदाय' कहा है तथा उसकी चार विशेषताएं- लघुता, प्रथक्कता, सजातीयता तथा सुदृढ़ता बताई हैं। प्रसिद्ध समाजशास्त्री पितरिम सोरोकिन तथा कार्ल जिमरमेन ने अपनी पुस्तक 'प्रिंसिपल्स ऑफ रूरल अर्बन सोशियोलॉजी' में आठ प्रमुख मानकों पर ग्रामीण समाज को शहरी समाज से अलग ठहराया है। ग्रामीण समाज की जो विशेषताएं उन्होंने बताई वे हैं⁶-

१. व्यवसाय:- ग्रामीण समाज का एक बड़ा वर्ग कृषि कार्यों से जुड़ा होता है जबकि नगरीय समाज में उद्योग, वाणिज्य, व्यापार की प्रधानता होती है
२. पर्यावरण:- ग्रामीण समाज प्रकृति के अधिक निकट होता है जबकि नगरों में कृत्रिम संरचनाएं, भवन आदि मानव निर्मित अधिक होते हैं
३. समुदाय का आकार सामान्यतः लघु होता है जबकि नगरीय समाज आकार में बड़ा होता है। महानगर जैसी इकाइयों में तो यह आकार और भी बड़ा हो जाता है
४. जनसंख्या का घनत्व :- ग्रामीण समाज में जनसंख्या घनत्व कम होता है जबकि नगरों में बसाहट अधिक सघन होती है। नगरीयता तथा जनसंख्या के घनत्व में सकारात्मक सह संबंध देखा जाता है
५. जनसंख्या की सजातीयता:- ग्रामीण समाज मनोवैज्ञानिक तथा प्रजातिगत रूप से सजातीय देखा जाता है जबकि नगरों में अधिक विजातीयता पायी जाती है
६. पारस्परिक विभेदीकरण तथा स्तरीकरण:- ग्रामीण समाज में विभेदीकरण, नगरों की अपेक्षा कम पाया जाता है जबकि शहरों में स्तरीकरण तथा विभेदीकरण अधिक देखने को मिलता है

७. गतिशीलता तथा प्रवासन:- गांवों में गतिशीलता कम देखने को मिलती है। ग्रामीण जनों का छोटे क्षेत्र में ही सीमित कार्य व्यापार होने से वहां वाहनों आदि का उपयोग भी कम ही होता है। जबकि नगरों में गतिशीलता बहुत अधिक होती है। प्रवास गाँव से नगरों की ओर होता है।
८. सामाजिक अंतर्क्रिया की पद्धति:- ग्रामीण समाज में अंतःक्रिया का क्षेत्र सीमित होता है किन्तु वहां संबंध अधिक स्थायी होते हैं जबकि नगरों में अन्तःक्रिया का क्षेत्र व्यापक होता है किन्तु सम्बन्ध स्थायी नहीं होते। प्रायः यह संबंध औपचारिक तथा व्यावसायिक उद्देश्यों के लिए बनाये जाते हैं।

अपनी पुस्तक 'रूरल सोशियोलॉजी इन इंडिया' में ए आर देसाई ने ग्रामीण समाज के उदय का सम्बन्ध कृषि के उद्भव के साथ जोड़ा और बताया कि जब व्यक्ति घुमंतू जीवन से निकल कर और शिकार कर भोजन जुटाने के बजाए के बजाए एक स्थान पर रहकर धरती में अन्न उगाना सीखा तब ग्राम जैसी इकाइयाँ अस्तित्व में आयीं। भारतीय संदर्भ में ऐसे गैर-नगरीय क्षेत्र को, जहाँ पाँच हजार से कम जनसंख्या निवास करती हो, जहाँ ग्राम पंचायत का गठन हुआ हो तथा 75 प्रतिशत से भी ज्यादा आबादी कृषि कार्य में संलग्न हो और प्रति वर्ग मील एक हजार से कम लोग रहते हों, ग्राम कहलाती है। उपभोक्तावाद के गहरे दबाव के बाद भी इन गांवों में प्रकृति से निकटता विद्यमान है, संयुक्त परिवारों का अस्तित्व है तथा लोग सामुदायिक भावना के साथ निवास करते हैं। विकास की दौड़ में ये गाँव पिछड़े हैं। यहाँ रोजगार के साधन बहुत कम हैं, गरीबी और मूलभूत सुविधाओं का भी अभाव है। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से गांवों का उद्भव सामाजिक संरचना में आए महत्वपूर्ण परिवर्तनों से हुआ जहाँ खानाबदोशी जीवन की पद्धति जो शिकार, भोजन संकलन तथा अस्थायी कृषि पर आधारित थी, का संक्रमण स्थायी जीवन में हुआ। स्थानीय कृषि अथवा कृषि का वह रूप जहाँ जीविकोपार्जन के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं घूमना पड़ता- के साथ सामाजिक संरचना में भी परिवर्तन आया। भूमि निवेश तथा तकनीकी खोजों ने कृषि में अतिरिक्त उत्पादन की संभावना को जन्म दिया जो उसके सामाजिक अस्तित्व के लिए अपरिहार्य है। अतः स्थायी कृषि का अर्थ हुआ संपत्ति का जमाव, जिसके कारण सामाजिक विषमताएं भी आयीं। अत्यधिक उच्च श्रम विभाजन ने व्यावसायिक विशिष्टता की आवश्यकता को जन्म दिया। इन सब परिवर्तनों ने मिलकर गाँव के उद्भव को एक आकार दिया जहाँ लोगों का निवास एक विशिष्ट प्रकार के सामाजिक संगठन पर आधारित था। आर्थिक तथा प्रशासनिक शब्दों में, ग्रामीण तथा नगरीय बसावट के दो मुख्य आधार हैं: जनसंख्या का घनत्व तथा कृषि आधारित क्रियाओं का अनुपात। अतः शहरों तथा नगरों में जनसंख्या का घनत्व अधिक होता है- अथवा प्रति इकाई क्षेत्र में लोगों की संख्या, जैसे वर्गकिलोमीटर तुलना में गाँव। यद्यपि लोगों की संख्या की दृष्टि से वे छोटे होते हैं, परंतु गांवों का विस्तार तुलनात्मक रूप से अधिक बड़े क्षेत्र में होता है। शहरों तथा नगरों से गाँव को उनके आर्थिक प्रारूप में कृषिजन्य क्रियाकलापों में एक बड़े भाग के आधार पर भी अलग किया जाता है। दूसरे शब्दों में, गांवों की आबादी का एक बड़ा हिस्सा कृषि संबंधी व्यवसाय से जुड़ा है। अधिकांश वस्तुएं कृषि उत्पाद ही होती हैं जो इनकी आय का प्रमुख स्रोत होता है।

1.3.2 कस्बा

ग्राम, समय के साथ-साथ भौगोलिक तथा तथा जनसांख्यिकीय विस्तार पाते रहते हैं। वे व्यापार, स्वास्थ्य-शिक्षा जैसी मूलभूत सुविधाओं के छोटे केंद्र बन जाते हैं। तब इन्हें कस्बा कहा जाने लगता है। इन सामाजिक इकाइयों में ग्रामीण समाज के लक्षण कम होने लगते हैं तथा यहाँ नगरीय तत्व विकसित होने लगते हैं। इस प्रकार के समाज कस्बाई समाज कहलाते हैं। अतः कहा जा सकता है कि कस्बा मानवीय निवास स्थान का वह स्वरूप है जो जीवन क्रम तथा क्रियाओं में गाँव व नगर दोनों प्रकार के तत्वों से मिलकर निर्मित होता है। यह गाँव का विकसित रूप तथा नगर के पूर्व के स्तर का समाज होता है। कस्बों में उपलब्ध परिवहन तथा सेवाओं का स्तर और यहाँ के निवासियों के व्यवसाय ग्रामीण समाज से भिन्न होते हैं और नगरों का अनुकरण करते दिखते हैं। कस्बे को कई बार उपनगर की संज्ञा भी दी जाती है। कस्बों की निम्नलिखित विशेषताएं देखने को मिलती हैं-

1. कस्बों में ग्रामीण तथा नगरीय समाज की मिली-जुली संस्कृति देखने को मिलती है
2. धर्म, जाति, पेशे के आधार पर यहाँ के समाज में अधिक वैविध्य दिखाई देता है
3. यहाँ सामाजिक, आर्थिक परिवर्तन तीव्र गति से घटित होते हैं
4. अधिकतर कस्बों में व्यवसाय की छोटी-छोटी मंडियां भी विकसित हो जाती हैं

मुख्यतः कस्बे तथा नगर में अंतर, प्रशासनिक परिभाषा का विषय है। एक कस्बा तथा नगर मुख्यतः एक ही प्रकार के व्यवस्थापन होते हैं, जहाँ अंतर उनके आकार के आधार पर होता है। ‘शहरी संकुल’ शब्द एक ऐसे नगर के सन्दर्भ में प्रयुक्त होता है जिसके चारों ओर उपनगरीय क्षेत्र तथा उपाश्रितव्यवस्थापन होते हैं।

स्थायित्व की दृष्टि से कस्बे महानगरों से बेहतर माने जाते हैं। कुबेरनाथ राय ने लिखा है- “महानगर का मन कस्बा मन से भिन्न होता है। महानगर औद्योगिक विकास और मशीनी सभ्यता की संतति है जबकि कस्बा मानवीय सभ्यता के सहज और क्रमिक विकास के द्वारा उत्पन्न होता है। आज मशीन मर जाए महानगर नहीं रहेगा, पर कस्बा तब तक जिन्दा रहेगा जब तक मनुष्य है। महानगर मशीन की कृति है तो कस्बा मनुष्य की।”⁷

1.3.3 नगर

समाजशास्त्री लेविस ममफोर्ड ने नगर के उत्थान और पतन की कई अवस्थाएं बताई हैं। ‘प्रथम अवस्था को **योपोलिस** माना है जिसमें कि ग्रामीण समुदाय की स्थापना होती है और इस अवस्था में पशुपालन और कृषि का विकास होता है। कालांतर में बड़े गांवों की स्थापनाएं होने लगीं जहाँ शिक्षा और कारीगरी में भी पर्याप्त विकास हुआ। द्वितीय चरण **पोलिस** में गाँव में सामान्य संगठन की स्थापना हुई जो रक्त समूह पर आधारित है। जो संगठन एक सामान्य स्थान पर बने और सामूहिक रूप से आक्रमण से अपनी रक्षा करते थे। तृतीय अवस्था **मेट्रोपोलिस** है। जनसंख्या को जीवन की अधिकतम सुविधाएं जहाँ प्राप्त हुई, वहीं जनसंख्या का घनत्व बढ़ता गया।”⁸ इस तृतीय अवस्था में ही नगरों ने महानगरों का रूप लिया।

नगरीय जीवन का आरंभ :-

महानगरों के विकास को समझने के लिए मानव के रहन-सहन के विभिन्न पड़ावों तथा उनमें अब तक आये परिवर्तनों को जानना आवश्यक है। इस बात का सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि आरंभिक नगरों के विकास की गति वही नहीं रही होगी जिस गति से बीसवीं और इक्कीसवीं सदी में नगर विकसित हो रहे हैं। आरम्भ में एक लंबे कालखंड में नगरों का विकास हुआ होगा। प्रारंभिक मानव के रहन-सहन के बारे में उपलब्ध साक्ष्य का पुनर्निर्माण करने की कोशिश करते हैं तो हम अपने आपको ज्यादा सुनिश्चित आधार पर पाते हैं। उपलब्ध साक्ष्य का पुनर्निर्माण करने का एक तरीका यह है कि उनके द्वारा निर्मित शिल्पकृतियों के फैलाव की जाँच करना। उदाहरणस्वरूप, केन्या में किलोम्बे और ओलोर्जेसाइली के खनन स्थलों पर हजारों की संख्या में शल्क-उपकरण और हस्तकुठार मिले हैं। ये औजार 700,000 से 500,000 साल पुराने हैं। इतने सारे औजारों का एक ही स्थान पर मिलना यह प्रदर्शित करता है कि कुछ स्थानों पर खाद्य प्राप्ति के संसाधन प्रचुर मात्र में उपलब्ध थे और वहां लोग बार-बार आते रहे। ऐसे क्षेत्रों में लोग शिल्पकृतियों सहित अपने क्रियाकलापों के चिह्न छोड़ जाते होंगे। 400,000 से 125,000 पहले गुफाओं तथा खुले निवास क्षेत्र का प्रचलन शुरू हो गया। इसके साक्ष्य यूरोप के पुरस्थलों में मिलते हैं। लगभग 35000 वर्ष पहले जानवरों को मारने के तरीकों में सुधार हुआ। इस बात का प्रमाण यह है कि फेंककर मारने वाले भालों तथा तीर-कमान जैसे नए किस्म के औजार बनाए जाने लगे। मांस को साफ़ किया जाने लगा। उसमें से हड्डियाँ निकल दी जाती थीं और फिर उसे सुखाकर, हल्का सेंकते हुए सुरक्षित रख लिया जाता था। इस प्रकार सुरक्षित रखे खाद्य को बाद में खाया जा सकता था। लाखों सालों तक मानव जंगली जानवरों का शिकार करके और जंगली पेड़-पौधों को इकट्ठा करके अपना भरण-पोषण करते रहे थे। फिर 10,000 से 4500 वर्ष पहले तक दुनिया के भिन्न-भिन्न भागों में रहने वाले लोगों ने कुछ जंगली पौधों को अपने उपयोग के लिए उगाना और जानवरों को पालतू बनाना सीख लिया। इसके फलस्वरूप खेती और पशुचारण कार्य उनकी जीवन पद्धति का अंग बन गया। इधर-उधर बिखरे हुए खाद्य पदार्थों को बटोरकर खाने के बजाय उन्हें खेती के जरिये स्वयं उपजाकर प्राप्त करना मानव-इतिहास की एक युगांतरकारी घटना है।

लगभग तेरह हजार साल पहले अंतिम हिमयुग का अंत हो गया और उसके साथ ही अपेक्षाकृत अधिक गर्म और नम मौसम की शुरुआत हो गई। इसके फलस्वरूप जंगली जौ और गेहूं जैसे अनाज के पौधे उगाने के लिए परिस्थितियाँ अनुकूल हो गईं। साथ ही जैसे-जैसे खुले जंगलों और घास के मैदानों का विस्तार होता गया वैसे-वैसे जंगली भेड़ों, बकरियों, मवेशियों, सुअरों और गधों जैसे जानवरों की संख्या में भी वृद्धि होती गई। इससे यह इंगित होता है कि मानव समाज धीरे-धीरे ऐसे इलाकों को अधिक पसंद करने लगे जहाँ इन जंगली घास-फूस और जानवरों की बहुतायत थी। इसके अलावा, अब पहले से काफी बड़े जन-समुदाय ऐसे इलाकों में वर्ष के अधिकांश भाग में लगभग स्थाई रूप से रहने लगे। चूंकि कुछ इलाकों को अपेक्षाकृत अधिक पसंद किया जाता था, इसलिए वहां भोजन की आपूर्ति को बढ़ाने के लिए दबाव बढ़ने लगा। संभवतः इसी कारण से कुछ खास किस्म के पौधों को उगाने और जानवरों को पालने की प्रक्रिया चालू हो गई। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जलवायु परिवर्तन, जनसंख्या का दबाव, कुछ खास किस्म के पौधों (जैसे गेहूं, जौ, चावल और मोठ-बाजरा आदि) और जानवरों (जैसे भेड़, बकरी, गधा, मवेशी और सुअर आदि) की जानकारी और उस पर मनुष्य की

निर्भरता जैसे अनेक कारकों ने मिलकर ऐसा परिवर्तन लाने में अपनी भूमिका अदा की। “एक ऐसा क्षेत्र जहाँ आज से लगभग दस हजार साल पहले खेती और पशुचारण प्रारंभ हुआ, यह फर्टाइल क्रीसेंट यानी उर्वर अर्धचन्द्राकार क्षेत्र मध्यसागर के तट से लेकर ईरान में जागरोस पर्वतमाला तक फैला हुआ है।” खेती की प्रथा चालू हो जाने से लोगों ने एक स्थान पर पहले से ज्यादा लम्बे अरसे तक टिकना शुरू कर दिया। इस प्रकार गारे, कच्ची ईंटों और पत्थरों से भी स्थायी घर बनाए जाने लगे। ये पुरातत्वविदों को ज्ञात प्राचीनतम गांवों में से कुछ हैं। खेती और पशुचारण से कई अन्य परिवर्तन प्रारंभ हुए, जैसे मिट्टी के ऐसे बर्तन बनाना जिनमें अनाज तथा अन्य उपजों को रखा जा सके और खाना पकाया जा सके। इसके अलावा पत्थर के नए किस्म के औजारों का इस्तेमाल होने लगा। हल जैसे अन्य उपकरण खेती के काम आने लगे। धीरे-धीरे लोग तांबा और रांगा जैसी धातुओं से परिचित हो गए। मिट्टी के बर्तन बनाने और परिवहन के लिए पहिये का इस्तेमाल होने लगा।

शहरी जीवन की शुरुआत मेसोपोटामिया में हुई थी। फरात और दजला नदियों के बीच स्थित यह प्रदेश आजकल इराक देश का हिस्सा है। मेसोपोटामिया की सभ्यता अपनी संपन्नता, शहरी जीवन, विशाल एवं समृद्ध साहित्य, गणित और खगोलविद्या के लिए प्रसिद्ध है। अभिलिखित इतिहास के आरंभिक काल में, इस प्रदेश को मुख्यतः इसके शहरीकृत दक्षिणी भाग को सुमेर और अक्कद कहा जाता था। 2000 ई. पू. के बाद जब बेबीलोन एक महत्वपूर्ण शहर बन गया तब दक्षिणी क्षेत्र को बेबिलोनिया कहा जाने लगा। लगभग 1100 ई. पू. से, जब असीरियाईयों ने उत्तर में अपना राज्य स्थापित कर लिया, तब उस क्षेत्र को ‘असीरिया’ कहा जाने लगा। इराक भौगोलिक विविधता का देश है। इसके पूर्वोत्तर भाग में हरे-भरे, ऊंचे-नीचे मैदान हैं जो धीरे-धीरे वृक्षाच्छादित पर्वत श्रृंखला के रूप में फैलते गए हैं। यहाँ स्वच्छ झरने तथा जंगली फूल हैं। यहाँ अच्छी फसल के लिए पर्याप्त वर्षा हो जाती है। यहाँ 7000 से 6000 ई.पू. के बीच खेती शुरू हो गई थी। उत्तर में ऊंची भूमि है जहाँ स्टेपी घास के मैदान हैं, यहाँ पशुपालन खेती की तुलना में आजीविका का अच्छा साधन है। सर्दियों की वर्षा के बाद, भेड़-बकरियां यहाँ उगने वाली छोटी-छोटी झाड़ियों और घास से अपना भरण-पोषण करती हैं। पूर्व में दजला की सहायक नदियाँ ईरान के पहाड़ी प्रदेशों में जाने के लिए परिवहन का अच्छा साधन है। दक्षिणी भाग एक रेगिस्तान है और यही वह स्थान है जहाँ सबसे पहले नगरों और लेखन प्रणाली का प्रादुर्भाव हुआ। इन रेगिस्तानों में शहरों के लिए भरण-पोषण का साधन बन सकने की क्षमता थी। क्योंकि फरात और दजला नाम की नदियां उत्तरी पहाड़ों से निकलकर अपने साथ उपजाऊ बारीक मिट्टी लाती रही हैं। जब इन नदियों में बाढ़ आती है अथवा जब इनके पानी को सिंचाई के लिए खेतों में ले जाया जाता है तब यह उपजाऊ मिट्टी वहां जमा हो जाती है। इस प्रकार यहाँ नगरों की स्थापना हुई।

5000 ई.पू. से दक्षिणी मेसोपोटामिया में बस्तियों का विकास होने लगा था। इन बस्तियों में से कुछ ने प्राचीन शहरों का रूप ले लिया। ये शहर कई तरह के थे। पहले वे जो मंदिरों के चारों ओर विकसित हुए; और शेष शाही शहर थे। राजाओं ने अपने समुदाय पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करने के लिए तथा अपने हितों को सुदृढ़ करने के उद्देश्य से ग्रामीणों को अपने पास बसने के लिए प्रोत्साहित किया। इससे वे आवश्यकता पड़ने पर सेना भी जल्दी इकट्ठी कर सकते थे। उरुक, जो उन दिनों सबसे पुराने मंदिर नगरों में से एक था, से हमें सशस्त्र वीरों और उनसे हताहत हुए शत्रुओं के चित्र मिलते हैं; और सावधानीपूर्वक किए गए पुरातत्वीय सर्वेक्षणों से पता चला

है कि 3000 ई.पू. के आसपास जब उरुक नगर का 250 हेक्टेयर भूमि में विस्तार हुआ तो उसके कारण दर्जनों छोटे-छोटे गाँव उजाड़ गए और बड़ी संख्या में आबादी का विस्थापन हुआ। उसका यह विस्तार शताब्दियों बाद फले-फूले मोहनजोदड़ो नगर से दो गुना हुआ था। यह भी उल्लेखनीय तथ्य है कि उरुक नगर की रक्षा के लिए उसके चारों ओर काफी पहले ही एक सुदृढ़ प्राचीर बना दी गई थी। उरुक नगर 4200 ई.पू. से 400 ईसवी तक बराबर अपने अस्तित्व में बना रहा, और उस दौरान 2800 ई.पू. के आसपास वह बढ़कर 400 हेक्टेयर में फैल गया। इस समय तक आते-आते नगरों की सामाजिक व्यवस्था में एक उच्च या संभ्रांत वर्ग का प्रादुर्भाव हो चुका था। धन-दौलत का ज्यादातर हिस्सा समाज के एक छोटे से वर्ग में केन्द्रित था। इस बात की पुष्टि इस तर्क से होती है कि बहुमूल्य चीजें विशाल पात्र में राजाओं और रानियों की कुछ कब्रों या समाधियों में उनके साथ दफनाई गई मिली है। “बाद में 1095 ई. में पोप ने बाईजेंटाइन सम्राट के साथ मिलकर पुण्यदेश(होली लैंड) को मुक्त कराने के लिए ईश्वर के नाम पर युद्ध के लिए आह्वान किया। 1095 और 1291 के बीच पश्चिमी यूरोपीय इसाईयों ने पूर्वी भूमध्यसागर के तटवर्ती मैदानों में मुस्लिम शहरों के खिलाफ युद्धों की योजना बनाई और फिर लगातार अनेक युद्ध लड़े गए। इन लड़ाइयों को बाद में ‘धर्मयुद्ध’ नाम दिया गया। इसमें दूसरे धर्मयुद्ध में ईसाईयों को पराजित करसलाह अल-दीन ने मिस्री-सीरियाई साम्राज्य स्थापित किया और जेरुसलम पर कब्जा कर लिया।”¹⁰

नए जीते गए क्षेत्रों में बसे हुए लोगों का प्रमुख व्यवसाय कृषि था। इस्लामी राज्य में इसमें कोई परिवर्तन नहीं किया गया। जो भूमि संपत्तियां इस्लामी विजय के बाद मालिकों द्वारा छोड़ दी गई थीं, वे राज्य द्वारा अपने हाथों में ले ली गईं और साम्राज्य के विशिष्ट वर्ग के मुसलमानों को दे दी गई थीं, विशेष रूप से खलीफा के परिवार के सदस्यों को। 10वीं शताब्दी से राज्य ने अधिकारियों को अपना वेतन भूमियों के कृषि राजस्व से, जिसे इक्ता कहा जाता था, लेने के लिए प्राधिकृत किया। खेती में खुशहाली तथा राजनीतिक स्थिरता साथ-साथ आई। बहुत से क्षेत्रों में, विशेष रूप से नील घाटी में, राज्य ने सिंचाई प्रणालियों, बांधों और नहरों के निर्माण, कुओं की खुदाई के लिए सहायता दी। किसानों की पहल और राज्य के समर्थन के जरिए खेती योग्य भूमि का विस्तार हुआ और प्रमुख प्रौद्योगिकीय परिवर्तनों के आभाव की स्थिति में भी उत्पादकता में वृद्धि हुई। बहुत सी नई फसलों; जैसे-कपास, संतरा, केला, तरबूज, पालक और बैंगन की खेती की गई और यूरोप को उनका निर्यात भी किया गया।

जैसे-जैसे शहरों की संख्या में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई, वैसे ही इस्लामी सभ्यता फली-फूली। बहुत से नए शहरों की स्थापना की गई, जिनका उद्देश्य मुख्य रूप से अरब सैनिकों को बसाना था, जो स्थानीय प्रशासन की रीढ़ थे। इस श्रेणी के फौजी शहरों में, जिन्हें मिस्र कहा जाता था(इजिप्ट का अरबी नाम), कुफा और बसरा इराक में, और फुस्तात तथा काहिरा मिस्र में थे। अब्बासी खिलाफत(800) की राजधानी के रूप में अपनी स्थापना के बाद आधी सदी के अंदर बग़दाद की जनसंख्या बढ़कर लगभग दस लाख तक पहुँच गई थी। इन शहरों के साथ-साथ दमिश्क, इस्फ़हान और समरकंद जैसे कुछ पुराने शहर थे, जिन्हें नया जीवन मिल गया था। खाद्यान्नों और शहरी विनिर्माताओं के लिए कच्ची सामग्री, जैसे कपास और चीनी के उत्पादन में वृद्धि की गई जिससे इन शहरों के आकार और इनकी जनसंख्या में बढ़ोत्तरी हुई। इस प्रकार सम्पूर्ण क्षेत्र में शहरों का एक विशाल जाल विकसित हो गया। एक शहर दूसरे शहर से जुड़ गया और परस्पर संपर्क एवं कारोबार बढ़ गया। शहर के केंद्र में दो भवन समूह होते थे, जहाँ से सांस्कृतिक और आर्थिक शक्ति का प्रसारण होता था: उनमें एक मस्जिद होती थी जहाँ सामूहिक

नमाज़ पढ़ी जाती थी। यह इतनी बड़ी होती थी कि दूर से दिखाई दे सकती थी। सामान्य नागरिकों और सैनिकों के रहने के क्वार्टर बाहरी घेरे में होते थे और प्रत्येक में अपनी मस्जिद, गिरिजाघर अथवा सिनेगोग, छोटी मंडी और सार्वजनिक स्नानघर और एक महत्वपूर्ण सभास्थल होता था। शहर के बाहरी इलाकों में शहरी गरीबों के मकान, देहातों से लाई जाने वाली हरी सब्जियों और फलों के लिए बाज़ार, काफिलों के ठिकाने और अस्वच्छ दुकानें जैसे चमड़ा साफ़ करने या रंगने की दुकानें और कसाई की दुकानें होती थीं। शहर की दीवारों के बहार कब्रिस्तान और सराय होते थे। सराय में लोग उस समय आराम कर सकते थे जब शहर के दरवाजे बंद कर दिए गए हों। सभी शहरों का नक्शा एक जैसा नहीं होता था, इस नक्शे में परिदृश्य, राजनीतिक परम्पराओं और ऐतिहासिक घटनाओं के आधार पर परिवर्तन किए जा सकते थे। रोमन साम्राज्य के पतन के पश्चात उसके नगर उजाड़ और तबाह हो गए थे। परंतु ग्यारहवीं सदी से जब कृषि का विस्तार हुआ और वह अधिक जनसंख्या का भार सहने में सक्षम हुई तो नगर फिर से बढ़ने लगे। जिन कृषकों के पास अपनी आवश्यकता से अधिक खाद्यान्न होता था, उन्हें एक ऐसे स्थान की आवश्यकता महसूस हुई जहाँ वे अपना एक बिक्री केंद्र स्थापित कर सकें। इस जरूरत ने मियादी हाट-मेलों को बढ़ावा दिया और छोटे विपणन केंद्रों का विकास किया जिनमें धीरे-धीरे नगरों के लक्षण विकसित होने लगे – एक नगर चौक, चर्च, सड़कें जहाँ पर व्यापारी, घर और दुकानों का निर्माण कर सकें और एक कार्यालय जहाँ से नगर पर शासन करने वाले व्यक्ति मिल सकें। दूसरे स्थानों पर नगरों का विकास, बड़े दुर्गों, बिशपों की जागीरों और बड़े चर्चों के चारों तरफ होने लगा। नगरों में लोग, सेवा के स्थान पर उन लार्डों को जिनकी भूमि पर नगर बसे थे, कर देने लगे। नगरों ने कृषक परिवारों के जवान लोगों को वैतनिक कार्य और लार्ड से नियंत्रण से मुक्ति की अधिक संभावनाएं प्रदान कीं।

नगर क्रांति

महानगरों का विकास कई तीव्र और युगांतरकारी परिवर्तनों का परिणाम है। नगरों के सन्दर्भ में इस प्रकार के परिवर्तनों की श्रृंखला को नगर क्रांति का नाम दिया गया। क्रांति एक लम्बे समय के पश्चात उत्पन्न होती है। प्रथम नगर-क्रांति सभ्यता के साथ जुड़ी है। सामान्यतया सभ्यता का अर्थ लिखने के कार्य में विकास, पशुओं का पालना, बीज का रखना, आदि से लिया जाता है। इस संदर्भ में जटिल श्रम-विभाजन, उन्नत प्रौद्योगिकी, उन्नत राजनीतिक व्यवस्था और नाजुक धार्मिक व्यवस्था, दार्शनिक विचार और कलात्मक संस्थाएं स्थापित होने लगती हैं। नगरीकरण के लिए सभ्यता का होना आवश्यक है। सभ्यता के पोषक तत्व व उच्च-कृषि और अधिक जनसंख्या नगरीकरण की दिशा को निर्धारित करते हैं। नगर के विद्वानों का यह कहना है कि नगरीकरण की प्रक्रिया स्थापित होने से पूर्व कृषि उत्पादन उस स्थिति में पहुंच गया था जिसने पशुओं, अन्न, जंगली पशुओं और घास की आवश्यकता को समाप्त प्रायः कर दिया था। इस स्थिति ने व्यक्ति के बंजारा जीवन को स्थायित्व प्रदान किया। अन्न उत्पादन अपने में इतना बड़ा साधन नहीं था, जिससे नगर स्थापित होते। यह मात्र उनके लिए काफी था जो कृषि नगर के चारों तरफ बसे हुए थे। कृषि का विस्तार हुआ, जिससे एक निश्चित भूमि पर अधिक से अधिक अन्न उत्पन्न किया जा सके। इसके लिए अच्छे बीज, सिंचाई, खाद और व्यवस्थित रूप में फसल का चक्र रूप में या फेरबदल करके (रोटेशन) अधिक से अधिक अन्न उत्पन्न करने लगे।

एक बार जब जनसंख्या के लिए खाद्य-पदार्थ की आवश्यकताएं पूर्ण होने लगीं तो नगरीय लोगों को जीविका के अन्य साधनों की भी आवश्यकता पड़ने लगी, जिसकी नगरीय क्षेत्र में उपलब्धि सम्भाव्य हो। हस्तकला के विशेषज्ञों ने नए नगर की जनसंख्या को आवश्यकता की पूर्ति की। हस्तशिल्प की चीजों का न केवल अन्न के उत्पादकों ने ही उपभोग करना आरम्भ किया बल्कि अभिजात्य वर्ग के लोगों ने भी इसका उपभोग किया। यदि नगर को बना रहना है तो उसे मार्केटिंग और व्यापार के प्रबन्धन की आवश्यकता पड़ती है। जिस सामान का उत्पादन हुआ है, उसे बेचना भी है और कच्चा माल खरीदना भी पड़ेगा। वितरण प्रणाली को विकसित करना होगा, क्योंकि वैयक्तिक विनिमय पर्याप्त नहीं है। नगर के समुदायों को अन्न वितरित करना और जब अधिक से अधिक अन्न सप्लाई किया जाता है तो कर भी देना होता और राज्य अन्न को जमा भी करता है। इस दृष्टि से लेखन कार्य आवश्यक हो जाता है क्योंकि लिखा-पढ़ी में कर देना, बाजार का प्रबन्धन और अन्न का वितरण करना होता है। इसके साथ ही अपने नगर की सीमाओं के बाहर भी विनिमय करना आवश्यक है, क्योंकि बहुत सा उत्पाद और कच्चा माल बहुत दूर से नगर में आता है। इसलिए नगर सुरक्षा की भी जरूरत है, जिससे कि उत्पाद और कच्चा माल सुरक्षित नगर में पहुंच सके। इसलिए सैनिक संस्था नगर जीवन के लिए आवश्यक है। बाजार, चीजों के वितरण और सैनिक क्रिया-कलापों की दृष्टि से सरकार और सेना के मध्य तालमेल होना भी आवश्यक है। किसी भी प्रकार की सरकार के बिना कोई भी नगर सुन्दर नहीं बन सकता है। सरकार का कार्य शान्ति बनाए रखना और नगर के चारों तरफ के क्षेत्र से कर प्राप्त करना भी है। कहा जाता है कि 3,500 बी.सी. और 3,000 बी.सी. के मध्य नगर स्थापित होने आरम्भ हो गए थे। विशेष तौर से उपजाऊ भूमि के निकट सीरिया, इराक, कुछ समय के पश्चात् नील घाटी एवं सिन्धु घाटी। इसके पश्चात् चीन और मेसोमेरिका में नगर बसने लगे। विश्व के विभिन्न नगरों के मध्य कब और किस समय संबंध विकसित हो गए, यह जानना महत्वपूर्ण है।

नगर-क्रांति के इस प्रथम चरण में विकास और उन्नति के अनेक उदाहरण सामने आते हैं। इस चरण तक पहुंचते-पहुंचते नगर में तरह-तरह के कारीगर जैसे डलिया बनाने वाले, बई, औजार व जवाहरात बनाने वाले, चमड़ा व्यापारी, चमड़े का काम, हड्डियों पर काम करने वाले कारीगर, लकड़ी पर नक्काशी के कारीगर, रंग-रोगन करने वाले आदि उपलब्ध होने लगे थे। नगर का धनाढ्य होना इस तथ्य का प्रमाण है कि विशाल स्तर पर व्यापार किया जाता था। तरह-तरह के उत्सव मनाए जाते थे जो इस बात का प्रतीक है कि धार्मिक संस्थाएं बहुत उन्नति कर चुकी थीं। 7,000 बी.सी. तक नगर आकार, घनत्व और उसमें विद्यमान विभिन्नताएं, वर्गीकरण का आधार बन चुकी थीं।

द्वितीय नगर क्रांति

रीस मेकेन्जी नगर क्रांति के द्वितीय चरण की व्याख्या करते हुए लिखते हैं कि यह चरण औद्योगीकरण और नगरीकरण के मिश्रण से उत्पन्न हुआ था। औद्योगिक क्रांति ने हस्त उत्पादन, घरेलू उद्योग-धन्धों और छोटे दुकान के कार्यों को मशीन द्वारा उत्पन्न चीजों ने समाप्त कर दिया और उत्पादन फैक्ट्रियों में केन्द्रित हो गया। स्तरीय सामान का उत्पादन होने लगा और जिनकी विभिन्न चीजों द्वारा अदला-बदली भी की जाने लगी। श्रमिकों का जन्म हुआ, जो वेतन के लिए काम करने लगे। वह चीजों को बनाने के लिए अब औजार क्रय नहीं करता था। जनसंख्या में काफी वृद्धि हो चुकी थी। वह कृषि कार्य नहीं करता था। बहुत सस्ते दामों पर चीजें प्राप्त होने लगीं।

नगर-क्रांति के द्वितीय चरण में नगरों में बहुत तीव्रता से वृद्धि हो रही थी। नगरों में वृद्धि उस समय तक नहीं हो सकती थी जबकि प्रौद्योगिकी और यातायात के साधनों में वृद्धि न होती। जनसंख्या की आधी आबादी औद्योगिक राष्ट्र के रूप में नगरों में बस गई थी। अल्पसंख्यक रूप में ही कृषक श्रमिक बच गए थे। जनसंख्या में वृद्धि प्राकृतिक रूप में न होकर, यह व्यक्ति-व्यक्ति के स्तर पर हुई, जैसे व्यक्ति पहले छोटे नगरों में गया, फिर बड़े नगरों में। जैसे आरम्भ में अमेरिका में जनसंख्या वृद्धि बहुत तेजी से हुई अपेक्षाकृत ग्रामीण समाज के। गाइडन सजोबर्ग ने यह उल्लेख किया है कि पूर्व-औद्योगिक समाज और औद्योगिक समाज में मुख्य तत्त्व प्रौद्योगिकी है। यह समाज के सभी अंगों को प्रभावित करती है।

नगर-क्रांति के द्वितीय स्तर तक पहुंचते-पहुंचते व्यक्ति के लिए नगरवाद एक जीवनशैली बन गई। यह जीवनशैली मात्र नगर तक ही सीमित नहीं रही, वरन ग्रामीण समाज के अन्दर भी पहुंच गई, विशेषतौर से जो नगर के चारों ओर थे। औद्योगिक नगर विशाल बनते गए इसका कारण था कि आवागमन के साधन एवं संचार साधन, समाचार, फैशन आदि नगर के चारों तरफ बसे गांवों में फैलते जा रहे थे। व्यक्ति इनका आदी होता जा रहा था। लुईस बर्थ दुखाम की तरह कहते हैं कि विशेषीकरण इसलिए होता है कि एक निश्चित क्षेत्र में जनसंख्या वृद्धि की समस्याओं का समाधान हो सके। व्यक्ति किसी वस्तु के यहां किसी अन्य पर निर्भर नहीं रहता बल्कि उससे मिलती-जुलती दूसरी चीज उसे बाजार में मिल जाती है। एक तरफ लोगों में अन्तः क्रिया का विस्तार होता है, किन्तु व्यक्तियों का परस्पर संबंधों के बारे में ज्ञान कम होता जाता है और मानवीय संबंध कम होते जाते हैं। लोगों में अवैयक्तिक संबंध स्थापित होते हैं। व्यक्ति संवेदनात्मक बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इस तरह सामाजिक ढांचा जटिल बनता जाता है क्योंकि जनसंख्या के घनत्व में वृद्धि से विभिन्नताओं में वृद्धि होती है। इतना ही नहीं, काम के स्थान और निवास के स्थान अलग हो जाते हैं। नगर में कुछ विशेष बाजार बन जाते हैं जहां विशेष चीजों की दुकानें होती हैं,

तीसरी नगर क्रांति

प्रथम सन 2000 तक विश्व की अधिक जनसंख्या वाले देशों का नगरीकरण हो चुका था। द्वितीय विकसित औद्योगिक राष्ट्रों में नगरों की उत्पत्ति और तीसरा नगरीय औद्योगिक समाज, जो पहले से ही नगरीकृत हो चुका है। वहां नए प्रकार के नगरीकरण का उदय। नगरीकरण एक विश्वव्यापी घटना है किन्तु नगर का विकास सभी क्षेत्रों में समान रूप से नहीं होता। यह विभिन्न क्षेत्रों में पृथक-पृथक रूप में होता है। इसका अर्थ है कि नगरीकरण एक प्रक्रिया है, परन्तु वह सभी क्षेत्रों, नगरों व महानगरों में समान रूप से नहीं होती है। उसमें विभिन्न कारणों से पर्याप्त अन्तर देखा जाता है। इसे किसी भी महानगर से जुड़े क्षेत्रों में देखा जा सकता है। एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि अतीत और वर्तमान के नगरीकरण में अन्तर यह है कि ग्रामीण और नगर की जनसंख्या में तीव्रता से वृद्धि हो रही है, विशेषतौर से विकसित राष्ट्रों में। ग्रामीण समाज में बढ़ती हुई जन्म दर, जनसंख्या का दबाव और मृत्यु दर कम होने के कारण नगर में आते हैं, अपेक्षाकृत नगर के आकर्षण के। उत्तरी अमेरिका और यूरोप में नगरीकरण और औद्योगीकरण से नगरों में गांवों की तुलना में कहीं अधिक जनसंख्या में वृद्धि हुई है। जनसंख्या की वृद्धि को जब तक टाला नहीं जा सकता है, तब तक औद्योगीकरण विकास को पुनः सम्भव नहीं बनाता है। उत्तरी अमेरिका और पश्चिमी यूरोप में, नगरीकरण के दौरान अनेक विकसित राष्ट्रों के समाज में आदिम समूह के टूटने से भी नगर की जनसंख्या में वृद्धि होती है। इनका शनैः शनैः नगरीय समाजीकरण होता है। इस प्रक्रिया से आदिम समाज के व्यक्ति स्थाई रूप से नगर में बसने लगते हैं। वे शहर में काम करके धन अर्जन करते हैं और अपने घर पुनः वापस जाते हैं। यह स्थाई नहीं होता, बस कुछ समय के लिए ही ये अपने घर में रहते हैं, जब तक कि अर्जित धन से उनकी आवश्यकताएं पूर्ण होती रहती हैं। नगरीकरण की एक समस्या यह भी है कि एक नगर राष्ट्रीय समाज पर आर्थिक,

सामाजिक और सांस्कृतिक रूप में आधिपत्य रखता है। इस प्रकार के नगर सभी नगरों के विकास को पीछे छोड़ देते हैं।

वैश्विक नगर

वैश्विक शहर संसार के समस्त राष्ट्रों को एक ऐसे शहर में परिणत करने की परिकल्पना है, जिसका जन्म वैश्वीकरण की प्रक्रिया के कारण हुआ है। वैश्वीकरण वस्तुतः एक ऐसी अवधारणा है, जिसमें किसी व्यक्ति, वस्तु अथवा सेवा का एक राष्ट्र से दूसरे राष्ट्र में आवागमन निर्बाध रूप से होता है। अर्थात् वैश्वीकरण का मूल आर्थिक प्रक्रिया से है, परंतु उसके साथ ही किसी एक देश की सभ्यता, संस्कृति व भाषा आदि का भी प्रसार अन्य देशों में अनायास ही हो जाता है। इसमें किसी राष्ट्र की सीमा बाधक नहीं बरन् साधक होती है। आर्थिक उदारीकरण, निजीकरण तथा नवसंचार माध्यमों ने वैश्वीकरण की प्रक्रिया में उत्प्रेरक का कार्य किया है और इसके कारण ही आज 'वैश्विक शहर' की अवधारणा मूर्त रूप ले चुकी है। राष्ट्रीय क्षेत्राधिकार, सांस्कृतिक रेखाएं, सामाजिक विशिष्टताएं और नैतिक प्रश्नों की दीवारें- कोई भी वैश्वीकरण को रोकने की स्थिति में नहीं है। भारतीय संस्कृति सदा ही वैश्वीकरण की पक्षधर रही है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से ओत-प्रोत भारतीय दर्शन विश्व में निवास करने वाले समस्त मानवों को अपना भाई-बंधु मानने की दृष्टि देता है तथा सामंजस्य, सम्मिलन एवं सह अस्तित्व के सिद्धांतों से परिपुष्ट यह दर्शन सकारात्मक भावनाओं का संचार करता है। इसकी अवधारणा आर्थिक नहीं बरन् धार्मिक व सामाजिक है। लेकिन यह वर्तमान वैश्वीकरण के लिए मजबूत आर्थिक आधार स्तंभ भी तैयार करती है।

मानव ज्ञान का निरंतर विकास हुआ है जैसे-जैसे मानव का विकास हुआ उसी के अनुसार भौतिक सभ्यता में भी वृद्धि हुई। इस प्रगति के परिणामस्वरूप मनुष्य ने साथ-साथ रहकर सामुदायिक भावना का विकास किया। मानव समाज के इस सामुदायिक विकास को समाज वैज्ञानिकों ने प्राकृतिक इतिहास की संज्ञा दी। जबकि कुछ विद्वानों के अनुसार यह सामुदायिक विकास, प्राकृतिक विकास न होकर सांस्कृतिक विकास है। मानव की भौतिक प्रगति का प्रत्येक आयाम सदियों से विकसित होता आ रहा है। जैसे आधुनिक युग में यातायात का विकास तेजी से हुआ। यह किसी समय विशेष की देन नहीं है, बल्कि यह एक लम्बे समय के परिवर्तन का परिणाम है। मनुष्य की कला, विश्वास, पारिवारिक संगठन तथा श्रम विभाजन इत्यादि विशेषताएं केवल एक-दूसरे से संबंधित ही नहीं हैं, बल्कि यह अतीत से भी प्रेरणा लेती रहती हैं। मनुष्य हमेशा इनमें हुए परिवर्तन के साथ अपना समन्वय करता रहता है। नगरीकरण का यह विकास कई सदियों में जाकर हुआ। नगरीकरण के विकास के पश्चात् लोगों ने स्वयं को नगरीय जीवन शैली में ढालना प्रारंभ कर दिया और अपने कामों को नगरीय विधा के रूप में करना सीख लिया। इस प्रकार एक ऐसे सामाजिक वर्ग का निर्माण हुआ जिसका भूमि से कोई संबंध नहीं था। इस वर्ग को दूसरे शब्दों में औद्योगिक श्रमिकों का वर्ग कह सकते हैं।

विकास मनुष्य की प्रगति का प्रथम स्तर है। विकास के दूसरे स्तर में, एक मानवीय समुदाय दूसरे मानवीय समुदाय के साथ संबंध स्थापित करता है। इन बाहरी संपर्कों के फलस्वरूप ही एक समुदाय दूसरे समुदाय

पर अपना आधिपत्य स्थापित कर लेता है। अतः ऐसे स्थान जहाँ मनुष्य की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए नवीन वस्तुओं का उत्पादन होता है, वहाँ परिवर्तन की प्रक्रिया भी अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक तीव्र होती है। इस प्रकार प्रायः ऐसे स्थान शक्तिशाली होकर विभिन्न प्रकार के कार्यकलापों के केंद्र बन जाते हैं और अंत में नगरीय समुदायों के रूप में विकसित हो जाते हैं। लेविस ममफोर्ड लिखते हैं- 'नगर का अधिक अंश अदृश्य था परंतु यह एक अप्रजनित अंडे की भांति था, न कि विकसित गर्भस्थ शिशु की भांति क्योंकि उसके भावी विभेदीकरण और जटिल सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया के लिए पूरक पुरुष के पितृसूत्रों की आवश्यकता थी।'¹¹

अनेक विद्वानों का यह मानना है कि सभ्यता का विकास नगरों से हुआ। वालबैंक तथा टाईलर ने सभ्यता को एक विकसित जीवन पद्धति के रूप में परिभाषित किया। इस मान्यता के अनुसार, सभ्यता का विकास नगरों में हुआ। इस विकास के फलस्वरूप मानव समाज में नए सामाजिक संबंधों ने जन्म लिया। इतिहासकारों के अनुसार ऐसे संबंधों की शुरुआत सर्वप्रथम नील नदी की घाटी में ईसा से 5000 वर्ष पूर्व हुई। प्राचीन युग में नगरों के विकास में निम्नलिखित कारक महत्वपूर्ण रहे:-

- 1 विश्व के अधिकतर महानगर समुद्र और नदी के किनारे बसे हुए थे। भौगोलिक सुविधाओं के कारण मानव ऐसे स्थान पर बस गया था।
- 2 कृषि के लिए अच्छी और उपजाऊ भूमि, सिंचाई की सुविधा और अनुकूल वातावरण जहाँ भी मानव को उपलब्ध हुआ, वह वहीं पर बस गया।
- 3 प्राचीन समय में आवागमन के साधन नहीं थे। संभवतः नदियाँ ही आवागमन का माध्यम हुआ करती थीं। इसलिए नदियों के किनारे ही अधिकतम नगर बसे।
- 4 प्राचीनकाल में अनेक छोटी-छोटी रियासतें और राज्य थे। इनकी अपनी सेनाएं थीं जो किलों में निवास करती थीं। इन बड़े-बड़े किलों और सैनिक छावनियों के स्थानों पर भी नगर बस गए, क्योंकि सैनिकों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यापारी और शिल्पकार इत्यादि यहाँ एकत्रित होने लगे।
- 5 भारत एक धर्मप्रधान देश रहा है और हर धर्म को यहाँ सम्मान दिया जाता है। इसलिए प्रत्येक धार्मिक स्थल पर नगर बस गए।

भारत में 2000 से अधिक वर्षों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि वाले अनेक नगर हैं। इनमें से अधिकांश का विकास धार्मिक अथवा सांस्कृतिक केन्द्रों के रूप में हुआ है। वाराणसी इनमें से सर्वाधिक महत्वपूर्ण नगर है। प्रयागराज (इलाहाबाद), पाटलिपुत्र (पटना), मद्रास देश में प्राचीन नगरों के कुछ अन्य उदाहरण हैं।

नगरों के उद्भव और विकास की दृष्टि से मध्यकालीन युग अत्यंत महत्वपूर्ण है। आरंभ में रोम के निवासियों ने लम्बे समय तक यूरोप के अधिकांश देशों को अपनी सैनिक शक्ति से प्रभावित किया। रोम के इस आधिपत्य के परिणामस्वरूप पाश्चात्यदेशों में केवल रोमन संस्कृति का ही प्रसार नहीं हुआ, बल्कि उस संस्कृति का भी पूरा विकास हुआ, जिसे रोम के अन्य देशों ने ग्रहण किया था। परंतु बाद में जब रोम का पतन हुआ तो उसके सांस्कृतिक प्रभाव भी विलीन हो गए। साथ ही पश्चिमी और पूर्वी यूरोप आपस में विकेंद्रित हो गए।

इसके पश्चात् यूरोप के अन्य देशों में नगरों का विकास हुआ। रोम के स्थान पर वेनिस का विकास हुआ। लेकिन इस विकास का आधार सैनिक विकास नहीं था। बल्कि यह विकास उद्योग और वाणिज्य के आधार पर हुआ। आरंभ में नगर प्रभुत्व के केंद्र थे। बाद में ये धीरे-धीरे वाणिज्य और उद्योग धंधों के केंद्र हो गए। भिन्न-भिन्न उद्योगों में काम करने वाले लोग यहाँ आकर बसने लगे। मध्यकालीन नगर व्यापार तथा उद्योगों के केंद्र थे। सैनिक आधार पर इसे संगठित किया गया था। ग्रामीण क्षेत्रों के श्रमिक और कारीगर धीरे-धीरे इन नगरों में बसने लगे। इसीलिए यूरोप के अनेक नगरों में औद्योगिक जनसंख्या में वृद्धि होती गई। वर्तमान के लगभग 100 नगरों का इतिहास मध्यकाल से जुड़ा है। इनमें से अधिकांश का विकास रजवाड़ों और राज्यों के मुख्यालयों के रूप में हुआ। ये किला नगर हैं जिनका निर्माण प्राचीन नगरों के खंडहरों पर हुआ है। ऐसे नगरों में दिल्ली, हैदराबाद, जयपुर, लखनऊ, आगरा और नागपुर महत्वपूर्ण हैं।

नगरों का जो स्वरूप हम देखते हैं वह एक लम्बे ऐतिहासिक विकास का परिणाम है। प्रारंभ में ये नगर प्रभुत्व के केंद्र थे। सैनिक आधार पर इन्हें संगठित किया गया था। इतिहास को देखने से ये बातें स्पष्ट होती हैं कि नगरों का विकास अधिकतर उन स्थानों पर हुआ जहाँ नगरीय जीवन के अनुकूल विभिन्न प्रकार की भौगोलिक सुविधाएं उपलब्ध थीं, जैसे- यातायात की सुविधा, औद्योगिक विकास की वस्तुओं की उपलब्धता और सैनिक सुविधाएं इत्यादि।

विकास के परिणामस्वरूप नगरों में आज कुछ ऐसी विशेषताएं पाई जाती हैं, जो प्राचीनकाल के नगरों में नहीं पाई जाती थीं। वर्तमान युग के नगरों की कुछ महत्वपूर्ण विशेषताएं निम्नलिखित हैं:-

- 1 नगरों के विकास में सबसे महत्वपूर्ण योगदान औद्योगिक क्रांति का रहा है। नगरों में नए-नए कारखानों और फैक्ट्रियों की स्थापना हो रही है। औद्योगिक क्रांति ने नगरों में रोजगार के बहुत से विकल्प प्रस्तुत किए हैं। जब भी किसी स्थान पर कोई औद्योगिक संस्थान खुलता है तो धीरे-धीरे वह नगर बन जाता है।
- 2 वर्तमान नगरों का विकास विद्युत द्वारा संचालित उपकरणों के कारण और अधिक हुआ। लेविस ममफोर्ड ने वर्तमान नगरों के विकास में मशीनों के महत्व को स्वीकार किया है। वर्तमान नगरों में मानव के सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र में भी विस्तार हुआ है। मानव का वर्तमान जीवन केवल उत्पादन तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह विभिन्न सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, एवं व्यावसायिक संगठनों का भी सदस्य है।
- 3 वर्तमान समय में नगरों में विशेषीकरण है। इस विशेषीकरण का मुख्य कारण किसी भी स्थान की अपनी विशेषता है। जैसे- आगरा के पर्यटन स्थल तथा लखनऊ का चिकन उद्योग इत्यादि।

ब्रिटेन औद्योगीकरण से गुजरने वाला पहला समाज था जो सबसे पहले ग्रामीण से रूपांतरित होकर नगरीय देश बना। प्रसिद्ध समाजशास्त्री एंथोनी गिडिंग्स ने अपनी पुस्तक में लिखा है- “सन् 1800 में 10000 निवासियों वाले कस्बों और शहरों में पूरी जनसंख्या के 20% लोग रहते थे। सन् 1900 तक यह अनुपात 74% का हो गया। राजधानी लंदन में सन् 1800 में, लगभग 1.1 करोड़ लोग रहा करते थे। बीसवीं सदी के प्रारंभ तक यह आकार

बढ़कर इतना हो गया कि इसकी जनसंख्या तकरीबन 7 करोड़ हो गई थी। लंदन उस वक्त तक दुनिया का सबसे बड़ा नगर था। वह उत्पादन, वाणिज्य और आर्थिकी का सबसे बड़ा केंद्र था। यह केंद्र निरंतर फैलते हुए ब्रिटिश साम्राज्य का हृदय क्षेत्र हो गया था।”¹²

नगरीकरण के कारक

नगरीकरण की प्रक्रिया में अनेक कारकों का योगदान है। मुख्यतः सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, औद्योगिक तथा भूमंडलीय कारक इसके लिए उत्तरदायी हैं। सामाजिक कारणों की बात की जाए तो बेहतर जीवन स्तर, बेहतर स्वास्थ्य-शिक्षा की सुविधाओं की आकांक्षा में तथा अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित और आधुनिक होने के बोध के कारण लोग गाँव तथा कस्बों से आकर शहरों में रहना चाहते हैं। आजीविका के लिए महानगरों में जाने वाले लोगों की भी अगली पीढ़ी गाँव वापस जाने के बजाय वहीं बस जाना पसंद करते हैं। नगरीकरण का आर्थिक कारक भी इतना ही महत्वपूर्ण है। महानगरों में रोजगार की उपलब्धता तथा पारिश्रमिक का अधिक होना ग्रामीण लोगों के पलायन का कारण बनता है। गाँवों में कृषि के अतिरिक्त रोजगार के सीमित विकल्प ही मौजूद होते हैं। छोटी जोत के किसानों के परिवारों के लिए खेती की आय से आजीविका चलाना बहुत कठिन पड़ता है। फलतः वे गाँव का मोह छोड़ महानगरों में जाने का निर्णय कर लेते हैं। लम्बे समय से नगरों में मजदूरी या लघु व्यवसाय कर रहे लोग महानगरों से बाहर किसी उपनगरीय इलाके में आवास का बंदोबस्त भी कर लेते हैं और शहरों के बाशिंदे बन जाते हैं। गाँवों में श्रमिकों, कारीगरों को उचित पारिश्रमिक न मिलना भी उनके महानगरों का रुख करने का कारण बनता है। एक कड़वी सच्चाई यह भी है कि सामंती व्यवस्था के अवशेष आज भी ग्रामीण समाज में मौजूद हैं। गाँव के प्रभावशाली लोग कई बार श्रमिकों को उनका भुगतान देरी से अथवा तय पारिश्रमिक से कम करते हैं। लैंगिक तथा जातिगत आधार पर भेदभाव भी इन क्षेत्रों में कोई नयी बात नहीं। इस संदर्भ में एक महत्वपूर्ण पुस्तक ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस द्वारा प्रकाशित ‘शेड्यूल्ड कास्ट इन द इंडियन लेबर मार्केट: इम्प्लायमेंट डिस्क्रिमिनेशन एंड इट्स इम्पैक्ट ऑन पावर्टी’ है। इसमें बताया गया है कि “खेतिहर मजदूरों के रूप में दलितों को श्रम व्यवस्था के अंतिम पायदान पर रखा गया है। खेतिहर मजदूरों को ध्यान में रखकर राष्ट्रीय ग्रामीण गारंटी योजना लाई गयी लेकिन वहां भी कार्य वितरण को लेकर सवर्ण जातियों का दबदबा रहा, हालाँकि यह सही है कि मनरेगा जैसी योजना दलित श्रमिकों के लिए राहत बनकर आई थी, लेकिन अब धीरे-धीरे उसे भी खत्म किया जा रहा है। ...अनुसूचित जातियों का मेहनताना उच्च जातियों की तुलना में बहुत कम होता है।”¹³

कई महानगरों के प्रदेश की राजधानी के रूप में स्थापित होने से उनका राजनीतिक महत्व भी बढ़ा है। इन शहरों में अनेक संस्थाएं तथा विभिन्न विभागों के कार्यालय भी स्थापित किये गए हैं। दिल्ली, लखनऊ, बेंगलुरु, अहमदाबाद, हैदराबाद, मुंबई, चेन्नई आदि विकसित महानगरों में राजनीतिक कारणों की भी भूमिका है। प्रौद्योगिकीय विकास ने भी नगरीकरण को गति प्रदान की है। तकनीकी के प्रयोग से विभिन्न उद्योग, कारखाने, फैक्ट्रियां उत्पादन के बड़े केन्द्रों के रूप में उभरे हैं। इस तकनीकी विकास का लाभ छोटे नगरों को भी मिला है और वहां भी उद्योग धंधे स्थापित हुए हैं। और अंत में, भूमंडलीकरण का महत्व जान लेना नगरीकरण की प्रक्रिया को संपूर्णता में समझने में आवश्यक होगा। भूमंडलीकरण से विश्व के विभिन्न देश अपने उत्पादों का व्यापार, विपणन आसानी से कर रहे हैं। भौगोलिक सीमाएं टूटी हैं और एक देश का उत्पाद दूसरे देश में उपलब्ध है। इन सभी कारकों से नगरीकरण की प्रक्रिया निरंतर चल रही है।

1.4 भारतीय महानगरों का विकास

भारत में महानगरों का विकास पश्चिम से भिन्न रूप में हुआ। जहाँ पश्चिमी जगत में यह समय के साथ उत्तरोत्तर विकास करते हुए, औद्योगिक क्रांति और तकनीक की सहायता से संभव हुआ, जिसका लाभ जनसंख्या के एक बड़े भाग को मिला। किसानों और गाँव में जीवनयापन करने वाले लोगों के जीवन स्तर को महानगरों के जीवन स्तर जैसा करने के लिए प्रोत्साहन योजनाएँ चलाई गयीं तथा सब्सिडी उपलब्ध कराई गयी किन्तु भारत में हुआ विकास एक वर्ग विशेष तक सीमित रह गया। इस संबंध में समाजवादी चिंतक सच्चिदानंद सिन्हा ने लिखा है- “पश्चिमी दुनिया में नगरों का विकास उनकी फैलती उत्पादन क्षमता से जुड़ा था। उनके उद्योगों के विकास के साथ ही उनकी राष्ट्रीय आय भी तेजी से बढ़ी और श्रमिकों की आवश्यकता फैलते हुए शहरी उद्योग में इतनी थी कि अनेक बार यहाँ की सरकारें कृषकों को उद्योगों में लाने के लिए तरह-तरह के प्रोत्साहन देती थीं। इस क्रम में गांवों की आवादी पूरी आवादी का एक बहुत छोटा हिस्सा रह गयी। पर नगरों की उत्पादन क्षमता इतनी बढ़ गयी थी कि बढ़ती आबादी के बावजूद नगरों में बसने वाले लोगों की स्थिति में सुधार होता गया।...इसके विपरीत भारत या इसी तरह की अन्य पिछड़ी अर्थव्यवस्थाओं में, चूँकि प्रारंभ से ही नगरों का विकास एक अभिजात वर्ग की जरूरत के लिए मूलतः गैर उत्पादक दिशा में होता रहा है।”¹⁴

1.4.1 पूर्व औपनिवेशिक काल

रामायण एवं महाभारत दोनों ही महाकाव्यों में उस समय के नगरों की सामाजिक संरचना का विस्तृत वर्णन मिलता है। आरंभिक भारतीय इतिहास में छठी शताब्दी ई.पू. को एक महत्वपूर्ण परिवर्तनकारी काल माना जाता है। इस काल को प्रायः आरंभिक राज्यों, नगरों, लोहे के बढ़ते प्रयोग और सिक्कों के विकास के साथ जोड़ा जाता है। इसी काल में बौद्ध तथा जैन सहित विभिन्न दार्शनिक विचारधाराओं का विकास हुआ। अधिकांश महाजनपदों पर राजा का शासन होता था लेकिन गण और संघ के नाम से प्रसिद्ध राज्यों में कई लोगों का समूह शासन करता था, इस समूह का प्रत्येक व्यक्ति राजा कहलाता था। प्रत्येक महाजनपद की एक राजधानी होती थी जिसे प्रायः किले से घेरा जाता था। छठी शताब्दी ई.पू. में उपमहाद्वीप के विभिन्न क्षेत्रों में इस प्रकार की किलेबंद राजधानियों का नगरों के रूप में विकास हुआ। प्रायः सभी नगर संचार मार्गों के किनारे बसे थे। पाटलिपुत्र जैसे कुछ नगर नदीमार्ग के किनारे बसे थे। उज्जयिनी जैसे अनेक नगर भूतल मार्गों के किनारे थे। इसके अलावा पुहार जैसे नगर समुद्रतट पर थे, जहाँ से समुद्री मार्ग प्रारंभ हुए। मथुरा जैसे अनेक शहर व्यावसायिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक गतिविधियों के जीवंत केंद्र थे। अनेक स्थलों पर विभिन्न प्रकार के पुरावशेष प्राप्त हुए हैं। इनमें उत्कृष्ट श्रेणी के मिट्टी के कटोरे और थालियाँ मिली हैं जिन पर चमकदार कलई चढ़ी है। इन्हें उत्तरी कृष्ण मार्जित पात्र कहा जाता है। संभवतः इनका उपयोग अमीर लोग किया करते होंगे। साथ ही सोने, चांदी, कांस्य, तांबे, हाथी दांत, शीशे जैसे तरह-तरह के पदार्थों से बने गहने, हथियार, उपकरण, बर्तन, सीप और पक्की मिट्टी मिली है। द्वितीय शताब्दी ई.पू. आते-आते हमें कई नगरों में छोटे दानात्मक अभिलेख प्राप्त होते हैं। इसमें दाता के नाम के साथ-साथ प्रायः उसके व्यवसाय का भी उल्लेख होता है। छठी से चौथी शताब्दी ई.पू. में मगध सबसे शक्तिशाली महाजनपद बन गया। आधुनिक इतिहासकार इसके

कई कारण बताते हैं। एक यह कि मगध क्षेत्र में खेती की उपज खास तौर पर अच्छी होती थी। दूसरे यह कि लोहे की खदानें भी आसानी से उपलब्ध थीं जिससे उपकरण और हथियार बनाना सरल होता था। जंगली क्षेत्रों में हाथी उपलब्ध थे जो सेना के एक महत्वपूर्ण अंग थे। साथ ही गंगा और उसकी उपनदियों से आवागमन सस्ता व सुलभ होता था। लेकिन आरंभिक जैन और बौद्ध लेखकों ने मगध की महत्ता का कारण विभिन्न शासकों की नीतियों को बताया है। इन लेखकों के अनुसार बिम्बसार, अजातशत्रु और महापद्मानंद जैसे प्रसिद्ध राजा अत्यंत महत्वाकांक्षी शासक थे, और उनके मंत्री उनकी नीतियाँ लागू करते थे। प्रारंभ में राजगाह मगध की राजधानी थी। पहाड़ियों के बीच बसा राजगाह एक किलेबंद शहर था। बाद में चौथी शताब्दी ई.पू. में पाटलिपुत्र को राजधानी बनाया गया, जिसे अब पटना कहा जाता है जिसकी गंगा के रास्ते आवागमन के मार्ग पर महत्वपूर्ण अवस्थिति थी।

प्राचीन साहित्य में अनेक नागर संस्थाओं का उल्लेख भी मिलता है जिनकी कार्यप्रणाली से तत्कालीन प्रशासन की जानकारी मिल सकती है। लेखक भगवान् सिंह ने अपनी पुस्तक 'भारतीय सभ्यता की निर्मिति' में लिखा है- "ऋग्वेद में हमें कुछ संगठनों का उल्लेख मिलता है, जिनसे पता चलता है कि उनका समाज गानों में, या जनों में विभाजित है। शर्ध, व्रात, गण, ग्राम, जन, विश आदि एक तरह के गठन हैं, तो दूसरी ओर विद्वत् (विद्वत् सभा या दरबार), का चरित्र अधिक विकसित लगता है। यह बैठक से मिलती-जुलती है। सभा के कई रूप देखने में आते हैं, परन्तु सभी का एक लक्षण है- एक ही सरोकार से किसी निश्चित स्थल पर जुटने और उसमें भाग लेने वाले सदस्य।"¹⁵ कालांतर में परिषद् जैसी संस्थाएं इसी कड़ी में देखी जा सकती हैं। ऋग्वेद युग में नगरों का अस्तित्व तो था ही बल्कि उनमें महानगरीय जीवन की जटिलताएं यथा- वर्ग विभेद, आर्थिक विषमता आदि के प्रमाण भी मिलते हैं। लेखक भगवान सिंह के अनुसार- "ऋग्वेद में भवन निर्माण और नगर योजना के बहुत स्पष्ट वर्णन मिलते हैं। आवास के लिए जिन पर्यायों का प्रयोग हुआ है, उससे लगता है नितांत विपन्न या काम चलाऊ आवासों से लेकर विशाल और भव्य भवन उसी समाज में थे, जो आर्थिक विषमता के बहुत बड़े होने का सूचक है।"¹⁶ हड़प्पा सभ्यता के बाद डेढ़ हजार वर्षों के लंबे अंतराल में उपमहाद्वीप के विभिन्न भागों में कई प्रकार के विकास हुए। यही वह काल था जब सिन्धु नदी और इसकी उपनदियों के किनारे रहने वाले लोगों द्वारा ऋग्वेद का लेखन किया गया। उत्तर भारत, दक्कन पठार क्षेत्र और कर्नाटक जैसे उपमहाद्वीप के क्षेत्रों में कृषक बस्तियां अस्तित्व में आयीं। साथ ही दक्कन और दक्षिण भारत के क्षेत्रों में चरवाहा बस्तियों के प्रमाण भी मिलते हैं। ईसा पूर्व पहली सहस्राब्दी के दौरान मध्य और दक्षिण भारत के शवों के अंतिम संस्कार के नए तरीके भी सामने आए, जिनमें महापाषाण के नाम से ख्यात पत्थरों के ढांचे मिले हैं। कई स्थानों पर पाया गया है कि शवों के साथ विभिन्न प्रकार के लोहे से बने उपकरण और हथियारों को भी दफनाया गया था। ईसा पूर्व छठी शताब्दी से नए परिवर्तनों के प्रमाण मिलते हैं। शायद इनमें ज्यादा मुखर आरंभिक राज्यों, साम्राज्यों और रजवाड़ों का विकास है। इन राजनीतिक प्रक्रियाओं के पीछे कुछ अन्य परिवर्तन थे। इनका पता कृषि उपज को संगठित करने के तरीके से चलता है। इसी के साथ-साथ लगभग पूरे महाद्वीप में नगरों का उदय हुआ।

अपने एक लेख में उन्होंने बताया है की फिरोजशाह तुगलक के काल में शहरी अर्थव्यवस्था का काफी विकास हुआ। यह तभी संभव था जब व्यापार को बड़े पैमाने पर गतिमान किया गया हो। इसके लिए उद्योग के कच्चे माल तथा शहरी आबादी को खिलाने के लिए बड़े पैमाने पर अनाज की आवश्यकता थी। इन दोनों की पूर्ति करने वाला व्यापारी वर्ग इस काल में तीव्र विकास करता है। नायक वर्ग या जाति के रूप में अनाज व्यापारी

विकास करते हैं। उन पर सत्ता द्वारा सरकारी कर्ज देकर ज्यादा से ज्यादा अनाज शहर लाने के लिए दबाव बनाया गया। मुगल काल में इन्हें शंबंजाराश कहा जाता था। यह दिखाता है कि अनाज बाजार में बड़े पैमाने पर बिकता था। नील का निर्यात होता था तथा ईरान से रेशम आयात होता था। दिल्ली छोड़े व गुलामों का बड़ा बाजार था। (इरफ़ान हबीब; इतिहास में उत्पादन संबंधों की परतों को खोलने वाला इतिहासकार, नरेन्द्र कुमार, कथांतर पत्रिका, सितंबर, 2023, पृष्ठ स 84 .)

1.4.2 औपनिवेशिक काल

औपनिवेशिक काल में भारत के सामाजिक-आर्थिक जीवन में अनेक परिवर्तन हुए। समय के साथ संरचनागत विकास का क्रम पहले से ही चल रहा था लेकिन अंग्रेजों ने अपनी भिन्न प्रकार की तकनीक व्यवस्था से इसमें एक क्रमभंग पैदा किया और इसको गति दी। विशेष रूप से परिवहन तथा राजस्व की पद्धति में परिवर्तन दृष्टिगत हुए। समाजशास्त्री एम एन श्रीनिवास ने इस पूरी प्रगति की समीक्षा इन शब्दों में की है- “उन्नीसवीं शताब्दी में अंग्रेजों ने धीरे-धीरे भूमि का सर्वेक्षण करके, राजस्व निर्धारित किया, आधुनिक अधिकारी-तंत्र, सेना और पुलिस की स्थापना की, अदालतें स्थापित करके कानून की संहिताएं बनाईं, संचार-साधनों-रेलों, डाक और तार, सड़कों और नहरों- का विकास किया, स्कूलों और कॉलेजों की स्थापना की और इन सबके द्वारा एक आधुनिक राज्य की नींव डाली।”¹⁷ श्रीनिवास ने परिवर्तनों की इस श्रृंखला को ‘पश्चिमीकरण’ का नाम दिया तथा औद्योगीकरण और नागरीकरण को इसकी सहवर्ती प्रक्रियाएं बताया। अंग्रेजों और अन्य यूरोपियों ने भारत में अनेक नगरों का विकास किया। तटीय स्थानों पर अपने पैर जमाते हुए उन्होंने सर्वप्रथम सूरत, दमन, गोवा, पांडिचेरी इत्यादि जैसे व्यापारिक पत्तन विकसित किए। बाद में तीन मुख्य नोडों, मुंबई (बंबई), चेन्नई(मद्रास), और कोलकाता(कलकत्ता) पर अपनी पकड़ मजबूत की और उनका अंग्रेजी शैली में निर्माण किया। अपनेप्रभाव को प्रत्यक्ष रूप से अथवा रजवाड़ों पर नियंत्रण के माध्यम से तेजी से बढ़ाते हुए उन्होंने प्रशासनिक केंद्रों, ग्रीष्मकालीन विश्राम स्थलों के रूप में पर्वतीय नगरों को स्थापित किया और उनमें सिविल, प्रशासनिक और सैन्य क्षेत्रों को जोड़ा। 1850 के बाद आधुनिक उद्योगों पर आधारित नगरों का भी जन्म हुआ। जमशेदपुर इसका एक उदहारण है। उन्नीसवीं सदी से लेकर अब तक शहरों में रहने वाले लोगों की संख्या बढ़ती ही गई है।

विनोद दास ने लिखा है- “मराठा हमलों से बचने के लिए किस तरह ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपना हेड क्वार्टर मुंबई बनाया।फोर्ट में एक दीवार बनाकर किस तरह कम्पनी ने एक किले के भीतर अपने लिए एक पूरा शहर बसाया जिसकी सुरक्षा के लिए सेना की टुकड़ी भी तैनात थी। सेना की टुकड़ी में तोपें भी थीं। अपना व्यापार बढ़ाने के लिए अंग्रेजों ने सूरत से पारसी, हिन्दू, जैन, मुस्लिम, बोहरा, मेमन, खाजा को अपने साथ लाकर यहाँ बसाया।”¹⁸

1.4.3 उत्तर औपनिवेशिक काल

स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् अनेक नगर प्रशासनिक केंद्रों जैसे-चंडीगढ़, भुवनेश्वर, गांधीनगर, दिसपुर इत्यादि और औद्योगिक केंद्रों जैसे दुर्गापुर, भिलाई, सिंदरी, बरौनी के रूप में विकसित हुए। कुछ पुराने नगर महानगरों के चारों ओर अनुषंगी नगरों के रूप में विकसित हुए जैसे दिल्ली के चारों ओर गाज़ियाबाद, रोहतक और गुरुग्राम इत्यादि। ग्रामीण क्षेत्रों में बढ़ते निवेश के साथ पूरे देश में बड़ी संख्या में मध्यम और छोटे शहरों का विकास हुआ।

तालिका 1.1 : भारत- नगरीकरण की प्रवृत्तियां, 1901-2011¹⁹

वर्ष	नगरों/नगरीय संकुलों की संख्या	नगरीय जनसंख्या (हजारों में)	कुल नगरीय जनसंख्या का %	दशकीय वृद्धि (%)
1901	1,827	25,851.9	10.84	-----
1911	1,815	25,941.6	10.29	0.35
1921	1,949	28,086.2	11.18	8.27
1931	2,072	33,456.0	11.99	19.12
1941	2,250	44,153.3	13.86	31.97
1951	2,843	62,443.7	17.29	41.42
1961	2,365	78,936.6	17.97	26.41
1971	2,590	1,09,114	19.91	38.23
1981	3,378	1,59,463	23.34	46.14
1991	4,689	2,17,611	25.71	36.47
2001	5,161	2,85,355	27.78	31.13
2011	6,171	3,77,000	31.16	31.08

स्रोत: भारत की जनगणना, 2011

नगरीकरण के स्तर का माप कुल जनसंख्या में नगरीय जनसंख्या के प्रतिशत के रूप में किया जाता है। वर्ष 2011 में भारत में नगरीकरण का स्तर 31.16 प्रतिशत था जो विकसित देशों की तुलना में काफी कम है। 20वीं शताब्दी के दौरान नगरीय जनसंख्या 11 गुना बढ़ी है। नगरीय केंद्रों के विवर्धन और नए नगरों के आविर्भाव ने देश में नगरीय जनसंख्या की वृद्धि और नगरीकरण में सार्थक भूमिका निभाई है किंतु नगरीकरण की वृद्धि दर पिछले दो दशकों में धीमी हुई है। भारत की 60% नगरीय जनसंख्या प्रथम वर्ग के नगरों में रहती है। इन 468 नगरों में से 53 नगर अथवा नगरीय संकुल महानगर हैं। इनमें से छः मेगानगर हैं जिनमें से प्रत्येक की जनसंख्या 50 लाख से अधिक है। पांचवें भाग से अधिक नगरीय जनसंख्या इन मेगानगरों में रहती है। इनमें से 1 करोड़ 84

लाख लोगों के साथ मुंबई सबसे बड़ा नगरीय संकुल है; दिल्ली, कोलकाता, चेन्नई, बेंगलुरु और हैदराबाद देश के अन्य मेगानगर हैं।

स्वतंत्र भारत में अनेक नगरों के विकास हो जाने के बाद भी लोगों ने ग्रामीण ढंग की जीवनशैली को ही अपनाए रखा। लेखक धनञ्जय वर्मा इस सम्बन्ध में लिखते हैं- “...मगर यह जानते देर न लगेगी कि भारत में एक साथ कई-कई युगों की संस्कृतियाँ सांस ले रही हैं। इसे संस्कृतियों का अजायबघर कुछ यों ही थोड़ी कहा गया है। इसमें कुछ तथ्य है। यहाँ एक और बनारस की गलियाँ हैं तो दूसरी ओर अत्याधुनिक चंडीगढ़ की बस्ती भी है, जो भारत के चिरपुरातनवादी संस्कार और आधुनिकता-बोध को आवरण की तरह ओढ़ने वाली मनोवृत्ति के प्रतीक हैं।...यह अंतर्विरोध स्थितियों का ही नहीं, मनोवृत्तियों और रुचियों का भी है।”²⁰

भारत की जनगणना नगरों को छः वर्गों में वर्गीकृत करती है। एक लाख से अधिक नगरीय जनसंख्या वाले नगरीय केंद्र को नगर अथवा प्रथम वर्ग का नगर कहा जाता है। 10 लाख से 50 लाख की जनसंख्या वाले नगरों को महानगर तथा 50 लाख से अधिक जनसंख्या वाले नगरों को मेगा नगर कहा जाता है। बहुसंख्यक महानगर और मेगा नगर नगरीय संकुल हैं।

समाजशास्त्रियों ने नगरों के उत्थान और पतन की मुख्य रूप से छह विशेषताएं बताई हैं। ये नगरों की उत्पत्ति के सामान्य तथ्य हो सकते हैं, परंतु सभी देशों के नगरों के विकास पर सामान्य रूप से लागू होते हों ऐसा आवश्यक नहीं है। यह वह अवस्था है जिसमें ग्राम समुदाय की स्थापना होती है और पशुपालन और कृषि का विकास होता है। इस अवस्था में समाज में अनेक प्रकार की विभिन्नताएं देखी जा सकती हैं। जैसे- व्यावसायिक समूहों में अंतर, छोटे-बड़े गांवों की स्थापना, प्राथमिक समूहों के महत्व में वृद्धि, धीरे-धीरे बड़े गांवों की स्थापना हुई, कारीगरी का भी विकास हुआ। इसी अवस्था में पाषाणयुगीन संस्कृति का भी महत्व देखा जा सकता है।

द्वितीय अवस्था में गांवों में सामान्य संगठनों की स्थापना हुई जो रक्त समूह पर आधारित थे। इस युग में व्यवसाय में विविधता उत्पन्न हो गई थी। छोटे-बड़े उद्योगों की स्थापना हो गई थी जिसके साथ कारीगरी और श्रम विभाजन विकसित हो चुका था। मशीनीकरण का विकास हो चुका था। शिक्षा के क्षेत्र में गणित, दर्शनशास्त्र तथा ज्योतिषशास्त्र का विकास होने लगा था। संगीत और चित्रकला भी विकसित हो चुकी थी। प्रशासनिक कार्यों का विकास हुआ। नागरिक विचारों में भी परिपक्वता आने लगी थी। यह वह अवस्था थी जिसने नगरों को स्थापित करने के लिए मजबूत नींव रखी। इस युग में कृषि, व्यापार, शिक्षा, कला, यंत्रीकरण, प्रशासन, व्यवसाय और सड़कों का निर्माण होना प्रारंभ हुआ।

जीवन की अधिकतम सुविधाएं जहाँ प्राप्त हुईं, वहाँ पर जनसंख्या घनत्व बढ़ता गया। पीने के लिए पानी और कृषि योग्य भूमि जहाँ पर पाई जाने लगी वहाँ नगर बसने लगे। इन स्थानों पर यातायात की सुविधाएं विकसित हुईं। इससे दूसरे स्थानों से संपर्क बढ़ा और संस्कृति का परस्पर आदान-प्रदान भी होने लगा। इस अवस्था में उद्योगपतियों के बीच संघर्ष प्रारंभ हो गया। भूमिहीन कृषकों की संख्या में वृद्धि हुई। अभिजात वर्ग की संख्या में भी वृद्धि हुई। तर्क एवं अभिव्यक्ति के साधनों में वृद्धि हुई और इस तार्किक युग ने विज्ञान की नींव रखी। व्यक्तिवाद का विकास हुआ जिसने सामाजिक संबंधों को कमजोर बनाया।

यह युग पूंजीवादी अवस्था का प्रतीक बन गया। अधिक से अधिक धन कैसे एकत्रित किया जाए, व्यक्ति इसमें लिप्त हो गया। प्रतिस्पर्धा और संघर्ष इस युग की देन है। धन संचय इस युग की विशेषता है। पूंजीपति इस युग में अधिक शक्तिशाली बनने की कामना रखने लगा। शोषण प्रारंभ हो गया। महानगर अनेक संस्कृतियों के केंद्र बन गए। छोटे नगरों का महत्व घटने लगा। इस अवस्था में पूंजीवादी व्यवस्था की स्थापना हो चुकी थी। वर्गीय समाज स्थायी हो गए थे। धन का महत्व सर्वोपरि था। प्रतिस्पर्धा और संघर्ष जीवन के अंग बन गए थे। समाज में भ्रष्टाचार बढ़ना आरंभ हो चुका था। वर्गों में पद और सामाजिक स्थिति उत्पन्न हो चुकी थी। वर्गीय समाज की स्थापना और पूंजीपतियों की शक्ति की वृद्धि से समाज में बेकारी, भुखमरी और निर्धनता जैसी सामाजिक समस्याओं में वृद्धि हुई। वह युग पूंजीवादी व्यवस्था से उत्पन्न अनेक समस्याओं का था।

ममफोर्ड के अनुसार, नगर विकास के इस अंतिम चरण में नगर में व्यक्ति और पूंजीपति निजी स्वार्थों के चलते आपस में लड़ने लगे। गाँव और कसबे उजड़ने लगे। परम्परागत व्यावसायिक ढांचा बिगड़ने लगा। लोग लूटपाट जैसे कामों में जुटने लगे। समाज में अराजकता और बर्बरता फैल गई।

‘महानगरीय क्षेत्र’ के अंतर्गत एक से अधिक नगर आते हैं अथवा एक क्रमवार शहरी व्यवस्थापन जो एक अकेले शहर के कई गुना बराबर होते हैं। जिस दिशा में आधुनिक समाज का विकास हुआ है, नगरीकरण की प्रक्रिया अधिकतर देशों में देखी जा रही है। यह ऐसी प्रक्रिया है जहाँ क्रमशः नगरीय जनसंख्या का बड़े से बड़ा हिस्सा ग्रामीण क्षेत्रों की अपेक्षा नगरों में रहता है। अधिकांश विकसित देश ज्यादातर नगरीय हैं। विकासशील देशों में भी नगरीकरण के प्रति रुझान देखा जा रहा है। यह तीव्र अथवा मद्धिम हो सकता है, अगर कोई विशेष कारण न हो तो इसे अवरुद्ध नहीं किया जा सकता। अधिकांश सन्दर्भों में यह प्रक्रिया घटित हो रही है। संयुक्त राष्ट्र संघ की 2007 की रिपोर्ट के अनुसार, मानव इतिहास में पहली बार, संसार की नगरीय जनसंख्या ग्रामीण जनसंख्या को पीछे छोड़ देगी। भारतीय समाज में भी नगरीकरण की प्रक्रिया देखी जा सकती है। स्वतंत्रता के तुरंत बाद नगरीय क्षेत्रों में निवास करने वाली जनसंख्या का प्रतिशत 1901 में 11% से थोड़ा कम तथा 1951 में 17% से थोड़ा ज्यादा था। 2001 की जनगणना के अनुसार अब 28% के करीब जनसंख्या नगरीय क्षेत्रों में रहती है। 2011 की जनगणना के अनुसार भारत की लगभग 35% जनसंख्या नगरों में निवास करती है।

नगर की व्यवस्था गांवों की व्यवस्था से भिन्न होती है। यहाँ व्यक्ति किसी न किसी कार्य में विशेष योग्यता रखता है। नगर के व्यावसायिक ढांचे में नित्य परिवर्तन हो रहे हैं। इसलिए इनसे जुड़े कामों के लिए एक नया वर्ग स्थापित हो गया है। नगरों में फैशन डिजाइनिंग, मार्केटिंग, कंप्यूटर प्रोग्रामिंग, इंटीरियर डेकोरेशन, हेल्थ क्लब, ब्यूटी पार्लर, कृत्रिम ज्वेलरी, सोने के स्थान पर हीरे के आभूषण इत्यादि का प्रचार हो रहा है। शिक्षा ने एक व्यवसाय का रूप ले लिया है। पूंजीपति लोग बड़े-बड़े पब्लिक स्कूल और कॉलेज खोल रहे हैं। मैक्स वेबर के अनुसार, वस्तुओं पर अधिकार और आमदनी की सुविधाएं नगरों में वर्गों का निर्धारण करती हैं। इसी के आधार पर वर्ग समूहों को निश्चित सामाजिक स्थिति प्राप्त होती है। नगरीय समाज मुक्त होते हैं। यहाँ विस्तृत श्रम विभाजन, प्रतियोगी प्रकृति तथा अवैयक्तिकता एवं अर्जित गुणों की महत्ता अधिक होने के कारण व्यक्ति अपने जीवन काल में ही पद को उच्च या निम्न कर सकता है। डेविस के अनुसार, नगर वह स्थान है जहाँ वैधानिक नियंत्रण दिन-

प्रतिदिन प्रमुख होता जा रहा है और जहाँ लोकाचारों तथा जनरीतियों के द्वारा व्यक्तियों के व्यवहार को नियमित करने की महत्ता कम होती जा रही है।

नगर अपने आप में बेहद प्राचीन हैं- ये प्राचीन समाज में भी थे। नगरवाद जनसमूह के एक बड़े भाग की जीवन पद्धति के रूप में आधुनिक घटना है। आधुनिक काल से पहले व्यापार धर्म तथा युद्ध कुछ महत्वपूर्ण कारक थे जो नगरों की महत्ता तथा स्थिति तय करते थे। ऐसे नगर जो मुख्य व्यापार मार्ग अथवा पत्तन और बंदरगाहों के किनारे बसे थे, प्राकृतिक रूप से लाभ की स्थिति में थे। इसी प्रकार वह नगर जो सामरिक रूप से बेहतरीन रूप में स्थित थे। आखिरी में धार्मिक स्थल अधिक संख्या में भक्तों को आकर्षित करते थे और इस प्रकार नगर अर्थव्यवस्था को सहारा देते थे। भारत में भी प्राचीन नगरों के उदहारण देखे जा सकते हैं, जैसे असम में ब्रह्मपुत्र नदी के किनारे बसा मध्यकालीन व्यावसायिक नगर तेजपुर अथवा कोजीकोट (जो पहले कालीकट के नाम से जाना जाता था)। इसी प्रकार मंदिर, नगरों तथा धर्मस्थलों के कई उदहारण हैं; जैसे राजस्थान में अजमेर, उत्तर प्रदेश में वाराणसी तथा तमिलनाडु में मदुरई। जैसा कि समाजशास्त्रियों ने स्पष्ट किया है, नगरीय जीवन तथा आधुनिकता दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। वास्तव में प्रत्येक को दूसरे की अंतर अभिव्यक्ति माना जाता है। हालाँकि यहाँ बहुत अधिक तथा सघन जनसंख्या निवास करती है तथा चूँकि ये इतिहास में जन राजनीति के स्थल के रूप में जाने जाते हैं, नगर को आधुनिक व्यक्ति का प्रभावक्षेत्र भी माना जाता है।

प्राचीन भारत में छोटे-छोटे गाँव के बीच कुछ शहर भी थे जिनका राजनीतिक, धार्मिक या व्यापारिक महत्व था। राजनितिक महत्व वाले नगर राज्यों या साम्राज्यों की राजधानी थे। यहीं से शासन के काम परिचालित होते थे, ये सम्राटों और राजकुमारों के मुख्यालय थे। विभिन्न राज्याधिकारियों और सेनाध्यक्ष, अभिजात्य वर्ग के लोग और उनके सेवक भी यहीं रहते थे। सेना की छावनी भी राजधानी में होती थी। शासक एवं अभिजात वर्ग की दैहिक या कलात्मक, स्वस्थ या अस्वस्थ आवश्यकताओं तथा मनतरंगों की पूर्ति के लिए वाराणसी, संगीतज्ञ, स्थापत्य कला विशारद, चित्रकार, कवि आदि भी इन्हीं शहरों में रहते थे। बनारस, मथुरा, पुरी, नासिक जैसे दूसरे प्रकार के भी शहर थे जो मुख्यतः उपासना केंद्र या तीर्थस्थल थे। हजारों तीर्थयात्रियों की जरूरतों का खयाल रखने वाले लोगों की इन शहरों में एक निश्चित आबादी होती थी। इनके अतिरिक्त व्यापारिक महत्व के वे शहर भी थे जो आवागमन के उपयुक्त नदियों के किनारे या प्रसिद्ध वाणिज्यिक मार्गों के संगम पर या समुद्र तट पर बसे थे। इन नगरों में विविध हस्तशिल्प उद्योग पल्लवित थे।

नगर उद्योग संपन्न वणिज और कुलीन परिवारों के लिए विलासिता के सामान, इस्पात के लड़ाई के हथियार तथा सेना के अन्य सरंजाम, सैनिक दुर्ग, विशाल मंदिर, भव्य राजप्रासाद आदि अभियंत्रण कला के विरल स्मारक और खेतों की सिंचाई के लिए नहरों का निर्माण कराता था। वस्त्र निर्माण हिंदुस्तान का प्रमुख उद्योग था। यहाँ के सूती और रेशमी कपड़ों की साड़ी दुनिया में मांग थी। तेरहवीं, चौदहवीं और पंद्रहवीं शताब्दियों में धातु कार्य, प्रस्तरशिल्प, शक्कर, नील और कागज के भी उद्योग विकसित थे। कुछ भागों में काष्ठकर्म, मृत्तिका पात्र और चर्म कार्य आदि उद्योग भी पल्लवित हुए।...देश के कई हिस्सों में रंगाई प्रमुख उद्योग थी। बहुत सारे यात्रियों ने भारत में निर्मित लोहे और यहाँ के रासायनिक उद्योग की प्रशंसा की है। चीन की तरह ही भारत में भी चीनी मिट्टी के

बर्तनों का उद्योग काफी विकसित था। गजदंत से भुजदंड, अंगूठी, पासे, मनका, पलंग और अन्य अनेक चीजें बनती थीं और सारी दुनिया में खासकर यूरोप में इनकी बड़ी मांग थी। बेशकीमती पत्थरों पर किए गए काम में भी बड़ी कुशलता का परिचय मिलता है। इस प्रकार भारत के अनेक क्षेत्र विभिन्न प्रकार की सामग्री के निर्माण के केंद्र बने हुए थे।

(घ) महानगरीय बोध

“आज का हर रचनाकार महानगर के बीच अपने परिवेश सहित स्वयं एक-एक उपनगर है: वह उपनगर अकेलेपन का हो तो, तबाही का हो तो, पारिवारिक संकट का हो तो, सारे मूल्यों को तोड़कर विद्रोही हो उठने का हो तो, परंपरा के साथ ताल-मेल बैठाने का हो तो, अपनी मनःस्थिति के लूडो का हो तो, अपने नसीब के रेकोर्स का हो तो..उपनगर है। इन सबकी सामूहिकता से ही महानगर बनता है, महानगर बनते है।”²¹

अंग्रेजों ने भारत के नगरों को पूंजीवादी अर्थव्यवस्था के अनुरूप विकसित करने से पहले आत्मनिर्भर भारतीय ग्राम समुदाय के ढांचे को तहस-नहस कर दिया। भारत में अर्थव्यवस्था का एकीकरण उत्पादन के प्राक् पूंजीवादी रूपों के विघटन और उनके स्थान पर नए पूंजीवादी प्रकारों की स्थापना के बाद हुआ। यह आर्थिक परिवर्तन अंग्रेजों की भारत विजय के कारण ही संभव हो सका। आदिम हल और बैल से खेती और साधारण औजार की मदद से दस्तकारी की बुनियाद पर टिका आत्मनिर्भर गाँव, यही अंग्रेजों के आने से पहले की भारतीय अर्थव्यवस्था का मूल सत्य है। ये स्वपर्याप्त गाँव सदियों से भारतीय जीवन की मूल आर्थिक इकाई थे। इनमें न्यूनाधिक परिशोधन हुए थे, लेकिन राजनीतिक हलचल, धार्मिक उथल-पुथल और विनाशकारी युद्धों के बावजूद अंग्रेजों के आगमन के पहले तक गांवों की चिरंतन प्रकृति लगभग अक्षुण्ण रही। विदेशी आक्रमण हुए, राजवंश बदले, आपसी लड़ाइयों के बाद विभिन्न राज्यों के भूभागों का नया बंटवारा हुआ, नए राज्य बने और बिगड़े लेकिन आर्थिक इकाई के रूप में गांवों की हैसियत ज्यों की त्यों रही। “ग्राम समुदाय छोटे-छोटे गणतंत्र हैं। अपनी जरूरत की सारी चीजें इन्हें अपने यहाँ प्राप्त हैं और विदेशी संबंधों से ये लगभग मुक्त हैं। जहाँ कुछ भी स्थाई नहीं, वहाँ ये जैसे अकेले अमर हैं। राजकुल लुढ़कते रहे, क्रांतियाँ होती रहीं, हिन्दू, पठान, मुगल, मराठा, सिक्ख, अंग्रेज क्रमशः मालिक बने, लेकिन ग्राम समुदाय यथापूर्व बने रहे।”²² इस प्रकार आर्थिक रूप से गाँव आत्मनिर्भर थे। स्थानीय श्रम और साधन प्रसूत स्थानीय उत्पादन का स्थानीय उपभोग होता था। गाँव और बाहर की दुनिया के बीच विनिमय संबंध लगभग शून्य थे। अक्सर सप्ताह में किसी एक दिन किसी बड़े गाँव के बाज़ार में कई केंद्रों से आए कई तरह के सामानों की बिक्री होती थी। उन दिनों जो थोड़ा बहुत व्यापार होता था, वह इसी रूप में संभव था। प्राचीन भारत में छोटे-छोटे गाँव के बीच कुछ शहर भी थे जिनका राजनीतिक, धार्मिक तथा व्यापारिक महत्व भी था। नगर उद्योगों के विषय में संभवतः सर्वाधिक उल्लेखनीय तथ्य यह है कि उनका बाज़ार अत्यंत सीमित था। इन उद्योगों में साधारण लोगों के दैनिक इस्तेमाल की चीजों के बदले शीर्षस्थ व्यक्तियों एवं स्थानों के लिए आवश्यक उपकरण तैयार होते थे। फिर गाँव वालों की जरूरतें तो स्थानीय कारीगर उद्योग से पूरी हो जाती थीं। इस तरह नगर उद्योगों का बाज़ार इने-गिने इलाकों में सीमित रहा।

शहर के औद्योगिक एवं वाणिज्यिक वर्ग गांवों में वहां की संतुलित अर्थव्यवस्था के कारण व्यापारिक क्रियाकलाप का विस्तार नहीं मिल पाया। इस तरह प्राक् ब्रिटिश भारत में व्यापार और उद्योग का विकास तो सीमित रहा ही, ये वर्ग सामंती राजाओं और उनके कुलीन सहचरों पर आश्रित बने रहे। वे न तो गांवों पर अपना आर्थिक प्रभुत्व कायम कर सके और न सामंतवाद के विरुद्ध ग्रामीण जनता का समर्थन ही प्राप्त कर सके और इस तरह सत्तासीन होने से वंचित रहे। शेलवंबर के अनुसार एक और कारण से भी प्रारंभिक भारतीय बुर्जुआजी सामंती राजतन्त्र को समाप्त न कर सकी और सक्षम पूंजीवादी अर्थव्यवस्था की स्थापना में असफल रही। भारत की कृषि व्यवस्था के लिए लोकनिर्माण और सिंचाई के कार्य आवश्यक थे और इन्हें ऐसा कोई संगठन ही पूरा कर सकता था जिन्हें राज्य के सारे साधन एवं अधिकार प्राप्त हों। इस तरह भूमि कर की वसूली एवं जनकार्य के नियंत्रण, नियमन और पर्यवेक्षण के लिए राज्य को विभिन्न स्थानीय केंद्रों अर्थात् शहरों में अपने प्रतिनिधि रखने को बाध्य होना पड़ा। “इस तरह यद्यपि राज्यों की नियति भूमि पर आश्रित थी, फिर भी भारत में राज्यों ने शहर को अपने क्रियाकलाप का केंद्र रखा और उन पर भी अपनी पकड़ ढीली नहीं होने दी।”²³ बाद में इंग्लैंड की अग्रवर्ती बुर्जुआजी ने भारत में सामंती रजवाड़ों की राजनीतिक शक्ति का उन्मोचन किया, देश पर अपना राजनीतिक स्वत्व स्थापित किया और यहाँ की ग्रामीण एवं नागरिक अर्थव्यवस्था का दूर तक पूंजीवादी रूपांतरण किया। मार्क्स के अनुसार भारतीय इतिहास की यह एक मात्र विशुद्ध सामाजिक क्रांति है।

अठारहवीं शताब्दी में राजनीतिक तथा व्यापारिक पुनर्गठन के साथ पुराने नगर पतनोन्मुख हुए और नए नगरों का विकास होना प्रारंभ हुआ। मुगल सत्ता के क्रमिक क्षरण के कारण ही उसके शासन से सम्बद्ध नगरों का अवसान हो गया। मुगल राजधानियों, दिल्ली और आगरा ने अपना प्रभुत्व खो दिया। नयी क्षेत्रीय ताकतों का विकास क्षेत्रीय राजधानियों- लखनऊ, हैदराबाद, पूना, नागपुर, बड़ौदा तथा तंजौर के बढ़ते महत्व में परिलक्षित हुआ। व्यापारी, प्रशासक, शिल्पकार तथा अन्य लोग पुराने मुगल केंद्रों से इन नयी राजधानियों की ओर काम तथा संरक्षण की तलाश में आने लगे। नए राज्यों के बीच निरंतर लड़ाइयों का परिणाम यह था कि भाड़े के सैनिकों को भी यहाँ रोजगार मिलता था। व्यापार तंत्रों में परिवर्तन शहरी केंद्रों के इतिहास में परिलक्षित हुए। यूरोपीय व्यापारिक कंपनियों ने पहले, मुगल काल में ही विभिन्न स्थानों पर आधार स्थापित कर लिए थे: पुर्तगालियों ने 1510 में पणजी में, डचों ने 1605 में मछलीपट्टम में, अंग्रेजों ने मद्रास में 1639 में तथा फ्रांसीसियों ने 1673 में पोंडिचेरी में। “व्यापारिक गतिविधियों में विस्तार के साथ ही इन व्यापारिक केंद्रों के आस-पास नगर विकसित होने लगे। अठारहवीं शताब्दी के अंत तक स्थल-आधारित साम्राज्यों का स्थान शक्तिशाली जल-आधारित यूरोपीय साम्राज्यों ने ले लिया। अंतर्राष्ट्रीय व्यापार, वाणिज्यवाद तथा पूंजीवाद की शक्तियां अब समाज के स्वरूप को परिभाषित करने लगी थीं।”²⁴

मध्य अठारहवीं शताब्दी से परिवर्तन का एक नया चरण आरंभ हुआ। जब व्यापारिक गतिविधियाँ अन्य स्थानों पर केन्द्रित होने लगीं तो सत्रहवीं शताब्दी में विकसित हुए सूरत, मछलीपटनम तथा ढाका पतनोन्मुख हो गए। 1757 में प्लासी के युद्ध के बाद जैसे-जैसे अंग्रेजों ने राजनीतिक नियंत्रण हासिल किया, और इंग्लिश ईस्ट इंडिया कंपनी का व्यापार फैला, मद्रास, कलकत्ता तथा बंबई जैसे औपनिवेशिक बंदरगाह शहर तेजी से नयी आर्थिक राजधानियों के रूप में उभरे। ये औपनिवेशिक प्रशासन और सत्ता के केंद्र भी बन गए।

नए भवनों और संस्थानों का विकास हुआ तथा शहरी स्थानों को नए तरीकों से व्यवस्थित किया गया। नए रोजगार विकसित हुए और लोग इन औपनिवेशिक शहरों की ओर उमड़ने लगे। 1800 तक ये जनसंख्या के लिहाज से भारत के विशालतम शहर बन गए थे। सन् 1800 के बाद हमारे देश में शहरीकरण की रफ्तार धीमी रही। पूरी उन्नीसवीं सदी और बीसवीं सदी के पहले दो दशकों तक देश की कुल आबादी में शहरी आबादी का हिस्सा बहुत मामूली और स्थिर रहा। 1900 से 1940 के बीच 40 सालों के दरमियान शहरी आबादी 10% से बढ़कर लगभग 13% हो गई थी। उस समय छोटे कस्बों के पास आर्थिक रूप से विकसित होने के ज्यादा मौके नहीं थे। दूसरी तरफ कलकत्ता और मद्रास तेजी से फैले और जल्दी ही विशाल शहर बन गए। नए व्यावसायिक एवं प्रशासनिक केंद्रों के रूप में इन तीन शहरों के पनपने के साथ-साथ कई दूसरे तत्कालीन शहर कमजोर भी पड़ते जा रहे थे।

1853 में रेलवे की शुरुआत हुई। इसने शहरों की कायापलट कर दी। आर्थिक गतिविधियों का केंद्र परंपरागत शहरों से दूर जाने लगा क्योंकि ये शहर पुराने मार्गों और नदियों के समीप थे। सभी रेलवे स्टेशन कच्चे माल का संग्रह केंद्र और आयातित वस्तुओं का वितरण बिंदु बन गया। उदहारण के लिए, गंगा के किनारे स्थित मिर्जापुर दक्कन से कपास तथा सूती वस्त्रों के संग्रह का केंद्र था जो बंबई तक जाने वाली रेलवे लाइन के अस्तित्व में आने के बाद अपनी पहचान खोने लगा था। रेलवे नेटवर्क के विस्तार के बाद रेलवे वर्कशॉप्स और रेलवे कॉलोनियों की भी स्थापना शुरू हो गई। 18वीं सदी तक मद्रास, कलकत्ता और बंबई महत्वपूर्ण बंदरगाह बन चुके थे। यहाँ जो आबादी बसी वे चीजों के संग्रह के लिए काफी उपयोगी साबित हुई। ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपने कारखाने इन्हीं बस्तियों में बनाए और यूरोपीय कंपनियों के बीच प्रतिस्पर्धा के कारण सुरक्षा के उद्देश्य से इन बस्तियों की किले बंदी कर दी। मद्रास में फोर्ट सेंट जॉर्ज, कलकत्ता में फोर्ट विलियम और बंबई में फोर्ट, ये इलाके ब्रिटिश आबादी के रूप में जाने जाते थे। यूरोपीय व्यापारियों के साथ लेन-देन चलाने वाले भारतीय व्यापारी, कारीगर और कामगार इन किलों के बाहर अलग बस्तियों में रहते थे। यूरोपीय और भारतीयों के लिए शुरू से ही अलग क्वार्टर बनाए गए थे। उस समय के लेखन में उन्हें ‘व्हाइट टाउन’ (गोरा शहर) और ‘ब्लैक टाउन’ (काला शहर) के नाम से उद्धृत किया जाता था। राजनीतिक सत्ता अंग्रेजों के हाथ में आ जाने के बाद यह नस्ली फर्क और भी तीखा हो गया। कई प्रकार के औद्योगिक परिवर्तनों के बावजूद भारत कभी भी एक आधुनिक औद्योगिक देश नहीं बन पाया क्योंकि पक्षपातपूर्ण औपनिवेशिक नीतियों ने हमारे औद्योगिक विकास को आगे नहीं बढ़ने दिया। कलकत्ता, मद्रास और बंबई बड़े शहर तो बने लेकिन इससे औपनिवेशिक भारत की समूची अर्थव्यवस्था में कोई लाभकारी परिवर्तन नहीं हुआ।

उन्नीसवीं सदी के मध्य में औपनिवेशिक शहर का स्वरूप और भी बदल गया। 1857 के विद्रोह के बाद भारत में अंग्रेजों का रवैया विद्रोह की लगातार आशंका से तय होने लगा था। उनको लगता था कि शहरों की ओर अच्छी तरह हिफाजत करना बहुत जरूरी है और अंग्रेजों को ‘देशियों’ के खतरे से दूर, ज्यादा सुरक्षित व् पृथक बस्तियों में रहना चाहिए। पुराने कस्बों के इर्द-गिर्द चरागाहों और खेतों को साफ़ कर दिया गया। ‘सिविल लाइन्स’ के नाम से नए शहरी इलाके विकसित किए गए। सिविल लाइन्स में केवल गोरों को बसाया गया। छावनियों को भी सुरक्षित स्थानों के रूप में विकसित किया गया। वहीं काले इलाके न केवल अराजकता और हो-हल्ले का केंद्र थे, वे गंदगी और बीमारी का स्रोत भी थे। काफी समय तक अंग्रेजों की दिलचस्पी गोरों की आबादी

में सफाई और स्वच्छता बनाए रखने तक ही सीमित थी लेकिन जब हैजा और प्लेग जैसी महामारियाँ फैली और हजारों लोग मारे गए तो औपनिवेशिक अफसरों को स्वच्छता व सार्वजनिक स्वास्थ्य के लिए ज्यादा कड़े कदम उठाने की जरूरत महसूस हुई। उनको भय था कि कहीं ये बीमारियाँ ब्लैक टाउन से व्हाइट टाउन में भी न फैल जाएं।

शहरों में मेहनतकश गरीबों या कामगारों का एक नया वर्ग उभर रहा था। ग्रामीण इलाकों के गरीब रोजगार की उम्मीद में शहरों की तरफ भाग रहे थे। कुछ लोगों को शहर नए अवसरों का स्रोत दिखाई देते थे। कुछ को एक भिन्न जीवनशैली का आकर्षण खींच रहा था। उसके लिए यह एक ऐसी चीज थी जो उन्होंने पहले कभी नहीं देखी थी। शहर में जीने की लागत पर अंकुश रखने के लिए ज्यादातर पुरुष प्रवासी अपना परिवार गाँव में छोड़कर आते थे। शहर की जिंदगी एक संघर्ष थी, नौकरी पक्की नहीं थी, खाना महंगा था, रिहाइश का खर्चा उठाना मुश्किल था। फिर भी गरीबों ने वहां प्रायः अपनी एक अलग जीवंत संस्कृति रच ली थी।

“ब्रिटेन में औद्योगीकरण के प्रभाव से ज्यादातर लोग नगरों में आए लेकिन इसके विपरीत भारत में ब्रिटिश औद्योगीकरण के प्रारंभिक समय में ज्यादातर लोगों को कृषि की ओर जाना पड़ा। भारतीय जनगणना रिपोर्ट इसे स्पष्ट रूप से दर्शाती है। ब्रिटेन में बढ़ते औद्योगीकरण से भारत के कई क्षेत्रों में औद्योगिक क्षरण हुआ।”²⁵ भारत में कुछ पुराने नगरीय केंद्रों का भी पतन हो गया। जिस प्रकार ब्रिटेन में उत्पादन व निर्माण में चढ़ाव आया, उसके विपरीत भारत में परम्परागत ढंग से होने वाले रेशम और कपास का उत्पादन और निर्यात ‘मैनचेस्टर प्रतियोगिता’ में गिरता चला गया। भारत के प्राचीन नगर, जैसे सूरत और मुसलीपटनम का अस्तित्व कमजोर होने लगा जबकि आधुनिक नगर जैसे बंबई और मद्रास जो उपनिवेशवादी शासन में प्रचलित हुए, मजबूत होते गए। भारतीय राज्यों पर ब्रिटिश अधिकार के बाद तंजौर, ढाका, मुर्शिदाबाद की राजसभाओं का विघटन हो गया फलतः इन राजसभाओं के संरक्षण में कार्यरत कारीगर, कलाकार और कुलीन लोगों का भी पतन हो गया। 19वीं सदी के अंत से भारत के कुछ आधुनिक शहरों में जहाँ यांत्रिक उद्योग लगाए गए थे, लोगों की जनसंख्या बढ़ने लगी। इतिहासकार सुमित सरकार ने अपनी पुस्तक ‘मॉडर्न इंडिया’ में इस संबंध में लिखा है- “नगरों में स्थित उत्पादकों के द्वारा बनाए गए विलासिता के सामानों, ढाका या मुर्शिदाबाद की उच्चकोटि की रेशम की मांग में दरबारों के विघटन के बाद भारी कमी हो गई। ये उत्पाद जिन बाह्य बाजारों पर निर्भर थे उनका भी कमोबेश सफाया हो गया था। दूर-दराज के क्षेत्रों के ग्राम, शिल्प विशेषतः पूर्वी भारत के उन क्षेत्रों के अतिरिक्त जहाँ अंग्रेजों का प्रवेश जल्दी और सघन था अधिक समय तक स्थिर रहे, जब तक कि रेलवे के विस्तार ने गंभीर रूप से प्रभावित नहीं किया।”²⁶

ब्रिटिश साम्राज्य की अर्थव्यवस्था में नगरों की भूमिका महत्वपूर्ण थी। समुद्र तटीय नगर जैसे बंबई, कलकत्ता और मद्रास उपयुक्त माने गए थे। क्योंकि इन जगहों से उपभोग की आवश्यक वस्तुओं का निर्यात आसानी से किया जा सकता था। साथ ही, यहीं से उत्पादित वस्तुओं का सस्ती लागत से आयात किया जा सकता था। औपनिवेशिक नगर ब्रिटेन में स्थित आर्थिक केंद्र और औपनिवेशिक भारत में स्थित हाशिये के बीच महत्वपूर्ण संपर्क सूत्र थे। इस प्रकार ये नगर भूमंडलीय पूंजीवाद के ठोस उदहारण थे। उदहारण के रूप में औपनिवेशिक भारत में बंबई को इस प्रकार सुनियोजित ढंग से विकसित किया गया था कि सन् 1900 तक भारत की एक तिहाई कच्ची कपास को जहाज़ से भेजा जा चुका था। कोलकाता से जूट का निर्यात होता था जबकि चेन्नई से कहवा, चीनी,

नील और कपास ब्रिटेन को निर्यात किया जाता था। औपनिवेशिक काल के नगरीकरण में पुराने शहरों का अस्तित्व कमजोर होता गया और उनकी जगह पर नए औपनिवेशिक शहरों का उद्भव और विकास हुआ। कोलकाता ऐसा पहला नगर था। सन् 1690 में एक अंग्रेज व्यापारी, जिसका नाम जॉब चारनॉक था, ने हुगली नदी के तट से लगे तीन गांवों- कोलीकाता, गोविंदपुर और सुतानुती को पट्टे पर लिया। उसका उद्देश्य उन तीनों गांवों में व्यापार के अड्डे बनाना था। हुगली नदी के किनारे ही सन् 1698 में फोर्ट विलियम की स्थापना रक्षा और सैन्य बल को गठित करने के उद्देश्य से हुई थी। फोर्ट और उसके आसपास का खुला क्षेत्र जिसे मैदान कहते थे, जहाँ सैन्य बलों के डेरे थे, कलकत्ता नगर का केंद्र बना।

शहरी नवीनीकरण

शहरी नवीनीकरण अथवा नगरीय नवीनीकरण का आशय शहरी भूमि के उद्योग, शिक्षा, चिकित्सा, राजनीति, सामरिक महत्व के संस्थानों के निर्माण के उद्देश्य से एक भूमि पुनर्विकास कार्यक्रम से है। अनेक नगरों की छोटे कस्बों से लेकर महानगरों तक की यात्रा में इसी प्रकार के कार्यक्रमों की भूमिका को देखा जा सकता है जिसके कारण इनकी जनसांख्यिकी और आधारभूत संरचनाओं में महत्वपूर्ण अंतर आये हैं। इस प्रकार के कार्यक्रमों से नागरिकों को सड़क, बिजली, पेयजल, यातायात के साधन तथा पार्क आदि सार्वजनिक स्थान विकसित किये जाते हैं जो लोगों को सुविधा प्रदान करते हैं किंतु इस सबको संभव बनाने के लिए किया जाने वाला भूमि अधिग्रहण, मलिन बस्तियों के विध्वंस, सड़क किनारे छोटे-मोटे रोजगार करने वाले लोगों को मुसीबतों का सामना भी करना पड़ता है। नगरीय समाजशास्त्र का अध्ययन करने वाले विद्वानों के अनुसार- “शहरी नवीकरण की अवधारणा 19वीं सदी में सर्वप्रथम इंग्लैंड में औद्योगीकरण के कारण गरीबों की खराब हालत की प्रतिक्रियास्वरूप समाज सुधार के लिए एक पद्धति के रूप में विकसित हुई। निवासियों के आर्थिक एवं नैतिक सुधार हेतु एक प्रगतिशील सिद्धांत के रूप में नगरीय नवीकरण का प्रादुर्भाव होना शुरू हुआ। फ्रांस के पेरिस शहर में सौंदर्यीकरण एवं दक्षता बढ़ने तथा पुनर्विकास के लिए नेपोलियन बोनापार्ट ने 1853 में योजना बनाई।

शहरी नवीकरण का आशय उस प्रक्रिया से है जिसका संबंध नगरीय प्रभावों के प्रसार से स्वतंत्र भारत में नगरीकरण है। भारत में नवीकरण सामान्य प्रभाव के रूप में व्यक्तिगत स्वतंत्रता, औद्योगीकरण, कार्यों का विशेषीकरण, व्यावसायिक स्तरीकरण, सामाजिक गतिशीलता, जातिप्रथा में सभी सामाजिक संगठनों में परिवर्तन, संयुक्त परिवारों में परिवर्तन, व्यक्तिवाद का विकास, आत्मनिर्भरता में वृद्धि, प्रथागत नियमों का विस्थापन तथा उत्पादन की इकाई से उपयोग की इकाई में परिवर्तन आदि में देखा जा सकता है। नगरीय नवीकरण के प्रभावी रूप ‘प्रवास को बहुत प्रोत्साहन मिला। यह प्रवास ग्राम से नगर की ओर तथा कम उपजाऊ क्षेत्रों से अधिक उपजाऊ क्षेत्रों की ओर हुआ है। नवीकरण का लक्ष्य नगरों में निवास करने वाले जनसमुदाय के लिए उत्तम आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का निर्माण करना, नगरीय पुनर्निर्माण के साथ-साथ नगरीय जनसमूह की गतिशीलता, घनत्व, मनोरंजन के साधन, पार्क तथा राजमार्ग आदि की व्यवस्था पर विशेष ध्यान देना है। नवीकरण की प्रक्रिया विश्व के लगभग सभी विकसित एवं विकासशील देशों में देखने को मिलती है। यह सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन की एक ऐसी प्रक्रिया है जिसके फलस्वरूप ग्रामीण जीवन विधि नगरीय जीवन विधि में बदलती

है। इस प्रक्रिया का कोई सार्वभौमिक प्रतिमान नहीं है। विभिन्न देशों तथा स्थानों में इसकी गति भिन्न होती है। यह औद्योगीकरण के सामानांतर चलती है। अतः कभी-कभी औद्योगीकरण एवं शहरी नवीकरण को पर्यायवाची भी मान लिया जाता है। औद्योगिक क्रांति के बाद नवीकरण की प्रक्रिया का विशेष रूप से प्रसार हुआ। अनेक नए नगरों का विकास हुआ और पुराने नगरों के क्षेत्र में वृद्धि हुई। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, फ्रांस, इंग्लैंड आदि विकसित देश औद्योगीकरण और शहरी नवीकरण की दृष्टि से भी काफी आगे हैं।

भारत में शहरी नवीकरण की प्रक्रिया नयी नहीं है। यहाँ प्राचीन काल से नगरों का अस्तित्व रहा है। किंतु अंग्रेजी शासनकाल में औद्योगिक नवीकरण की स्थापना हुई, जैसे- धनबाद, टाटानगर, कोडरमा, डालमियानगर इत्यादि। इन औद्योगिक नगरों के नवीकरण से विकास को बल मिला। इन नगरों में ग्रामीण क्षेत्रों की जनसंख्या का प्रवास हुआ। बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में नगरों एवं जनसंख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है। नगरों के नवीकरण विकास क्रम में भौगोलिक दशाओं, यातायात के साधनों तथा विभिन्न उद्योग-धंधों की स्थापना का विशेष योगदान होता है। उद्योगों के विकास से वहाँ जनसंख्या का केन्द्रीकरण आरंभ होता है। कालांतर में वह शहर के रूप में विकसित हो जाता है। उपभोग, राजनीति, सैन्य संगठन, शिक्षा, चिकित्सा, स्वास्थ्य और मनोरंजन आदि विभिन्न क्षेत्रों में परिवर्तन प्रारंभ होने के फलस्वरूप परम्परागत सामाजिक संरचना में नवीनता का समावेश हुआ और आधुनिक नगरीय नवीकरण का पदार्पण हुआ।

अतः ग्राम्य नगर क्षेत्र केवल ग्रामवासियों एवं नगरवासियों के स्थानीय सहचर्य को ही प्रकट नहीं करता, वरन् यह इससे भी कहीं अधिक है। बड़े-बड़े नगरों के आस-पास गाँव ही होते हैं जिनमें नगर एवं गाँव की विशेषताएं एक साथ देखी जा सकती हैं। मुंबई और कोलकाता में तो व्यक्ति स्पष्ट रूप से यह कहता है कि हम उप-नगर (Sub-urban) में रहते हैं। इस नगर तुल्य गाँव में नगर की विशेषताओं को देखा जा सकता है। किसी महानगर के बाहरी छोरों पर जो कस्बे बस जाते हैं उन्हें भी उप-नगर ही कहते हैं। जैसे मुंबई के पास अंधेरी व गोरे गाँव एवं दिल्ली के पास साहिबाबाद, फरीदाबाद आदि। जब गाँव एवं नगर एक-दूसरे के निकट आते हैं तो दोनों समाजों की विशेषताएं एक-दूसरे के समाज में प्रविष्ट होती हैं। यही कारण है कि हम किसी भी नगर में ग्रामीण समाज की अनेक विशेषताएं देख सकते हैं।

भारत में ग्राम्य-नगरीय प्रक्रिया में घुर्ये ने अपने विचार व्यक्त किए हैं। उनका मत था कि भारत में नगरीकरण औद्योगिक विकास का परिणाम नहीं है। भारत में हाल के वर्षों तक शहरीकरण की प्रक्रिया ग्रामीण क्षेत्रों से ही आरंभ होती थी। उन्होंने इसकी पुष्टि में कुछ संस्कृत ग्रंथों और दस्तावेजों के उदाहरण देकर बताया कि सुदूर गाँवों में बाजार की आवश्यकता के कारण शहरी क्षेत्रों का विकास हुआ। दूसरे शब्दों में, कृषि व्यवस्था के विस्तार के कारण आवश्यकता से अधिक अनाज की पैदावार होने लगी। इसके विनिमय के लिए अधिक मंडियों और बाजारों की आवश्यकता थी। कई ग्रामीण क्षेत्रों में किसी बड़े गाँव के एक भाग को मंडी या बाजार में बदल दिया जाता था। इसके फलस्वरूप ऐसे क्षेत्रों में कस्बों का निर्माण हो गया, जहाँ धीरे-धीरे प्रशासनिक, न्यायिक और अन्य संस्थाएं भी बन गईं। यहां पर यह बताना उचित होगा कि इन शहरी केंद्रों के निर्माण में भी सामंतवादी संरक्षण का हाथ रहता था। अतीत में शहरी दरबारों की रेशमी कपड़ों, हथियारों, आभूषणों तथा धातु शिल्पकृतियों की मांग के कारण ही वाराणसी, कांचीपुरम, जयपुर, मुरादाबाद जैसे शहरी केंद्रों का विकास हुआ था।

संक्षेप में, घुर्ये की दृष्टि में ग्रामीण-नगरीकरण का कारण गाँव की स्थानीय आवश्यकताएं ही थीं। ब्रिटिश उपनिवेशकाल के दौरान महानगरीय केंद्रों के विकास से भारतीय शहरी जीवन में बदलाव आया। अब ये छोटे-बड़े शहर कृषि उत्पादन और हस्तशिल्प की वस्तुओं की खपत के क्षेत्र नहीं रहे थे बल्कि वे प्रमुख निर्माण केंद्र बन गए जिन्होंने भीतरी ग्रामीण क्षेत्रों को कच्चा माल पैदा करने का क्षेत्र बना लिया। इसके साथ-साथ ये ग्रामीण क्षेत्र औद्योगिक उत्पादों की खपत के केंद्र बन गए। इस प्रकार महानगरीय केंद्र ग्रामीण अर्थव्यवस्था पर हावी हो गए। पिछली व्यवस्था के विपरीत अब शहरीकरण का फैलाव भीतरी ग्रामीण क्षेत्रों में होने लगा।

1.5 महानगरीय जीवन की समस्याएं

1.5.1 महानगरीय समाज की संरचना

समाज के विभिन्न सदस्य आपसी अंतःक्रिया या व्यवहार-लोकाचार में जिस तरह के पैटर्न अपनाते हैं उससे एक संरचनागत स्वरूप निर्मित होता है। महानगरीय समाज की समस्याओं को समझने के लिए पहले इसकी संरचना पर विचार करना जरूरी है क्योंकि अनेक समस्याओं का कारण इस संरचना में ही निहित है। महानगरीय समाज की संरचना को परिभाषित करने वाली भौगोलिक, पारिस्थितिक तथा जनसांख्यिकीय विशेषताओं की चर्चा पूर्व में हो चुकी है, अतः अब इसकी सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताओं का विश्लेषण करना उपयुक्त होगा। महानगरीय समाज की संरचना की निम्न सामाजिक-सांस्कृतिक विशेषताएं हैं-

(क) अस्थिरता

महानगरों में रहने वाले लोगों के संबंध औपचारिक और अवैयक्तिक होते हैं। ये संबंध व्यक्तियों पर आधारित न होकर कार्य से संबंधित होते हैं। आत्मीयता, मधुरता के संबंध अनौपचारिक और निस्वार्थ भाव के व्यवहार से बनते हैं, नगरीय समाज के संबंध कृत्रिम, दिखावटी और अस्थायी होते हैं। महानगरों की भाग दौड़ की जिंदगी में एक व्यक्ति प्रतिदिन अनेक लोगों से मिलता है। सामान्य शिष्टाचार दिखाने हेतु वह लोगों के प्रति सम्मान का भाव भी प्रदर्शित करता है किंतु व्यावसायिक उद्देश्यों से बनाये गए संबंध किसी परियोजना के पूरे होने के साथ ही समाप्त हो जाते हैं इसलिए महानगरों में सदैव अपने सहकर्मियों, कर्मचारियों से घिरे रहने वाले लोग भी अपने अंतर्मन में अकेलेपन का अनुभव करते हैं। यह अस्थिरता सामाजिक व्यवहार तक ही नहीं रहती है बल्कि महानगरों में यह समस्या घरों के अन्दर भी प्रवेश कर चुकी है। माता-पिता के भिन्न नगरों में कार्य करने पर बच्चों और किशोरों को भी इस प्रकार की समस्या का सामना करना पड़ता है। स्त्री-पुरुष संबंधों में भी इससे प्रभावित होते हैं और समय के साथ साथ कई बार स्थिति **पारिवारिक विघटन** की आ जाती है। लोग अपने परिजनों के साथ बहुत थोड़ा समय बिताते हैं और सुख-दुख के क्षण बाँटने के अवसर भी कम ही आते हैं।

(ख) कृत्रिमता

नगरों में त्वरा और अशांति का जीवन है। प्रतिस्पर्धा के वातावरण से उपजे असुरक्षाबोध ने व्यक्ति को स्वार्थी और यांत्रिक बना दिया है। वह ऐसी किसी भी गतिविधि में अपना समय नहीं देना चाहता जो उसको प्रत्यक्ष लाभ न प्रदान करती हो। इस कारण उसका व्यवहार कृत्रिम और बनावटी हो जाता है। कार्यस्थलों पर भी अधिक समय वह

कंप्यूटर या इसी प्रकार के अन्य यंत्रों के साथ गुजरता है। लंबे समय तक ऐसे वातावरण में काम करना कई बार अवसाद और व्यर्थताबोध का कारण बनता है। समाजवादी विचारक सच्चिदानंद सिन्हा इस प्रकार के नीरस जीवन के संबंध में लिखते हैं- “अन्य जीवों की तरह ही मनुष्य को भी शरीर की भूख से त्रास और इसके मिटने से तुष्टि का अनुभव होता है। लेकिन अन्य जीवों के विपरीत, मनुष्य इस क्षणिक तुष्टि और अभाव के बोझ से ऊपर उठकर अपनी कल्पना के बल पर सुख-दुख का एक बहुआयामी संसार बनाता है जो सुन्दर-असुन्दर, सच-झूठ, नैतिक-अनैतिक जैसी अनेक अवधारणाओं के ताना-बाना से बुना होता है। इन सब भावों और मूल्यों से शून्य जीवन इतना नीरस होता है कि अनेक अवसर पर मनुष्य इनमें किसी के अभाव से इस हद तक त्रस्त महसूस कर सकता है कि जीना व्यर्थ समझने लगे।”²⁷ काम का बोझ और समय की कमी के कारण लोग एक दूसरे से गहरे तौर पर परिचित ही नहीं हो पाते और शिष्टाचारवश एक-दूसरे के अभिवादन एवं कुशल-क्षेम पूछने तक ही सीमित रहते हैं। किसी अनिष्ट के डर से वे दूसरों के मामलों में शामिल होने से भी घबराते हैं।

(ग) व्यक्तिवादिता

प्रायः महानगरों में सामूहिक आधार पर निर्णय लेने, विचारों का आदान-प्रदान करने, सामूहिक रूप से पर्व-त्यौहार मनाने का चलन नहीं है। लोग एक-दूसरे पर बहुत अधिक विश्वास न करने के कारण भी साझेपन का जीवन जीना नहीं चाहते। समान कार्यसंस्कृति में कार्य करने वाले लोग अपने आसपास एक जैसी समस्याओं से जूझते लोगों को देखते हैं, ऐसे में वे समझ नहीं पाते कि अपनी पीड़ा वे किस्से कहें। स्वयं शोषित हो रहा व्यक्ति भी अपने अधीन कर्मचारी के प्रति सहानुभूति दिखाना नहीं चाहता क्योंकि प्रतिस्पर्धा के इस युग में उसको स्वयं को श्रेष्ठ सिद्ध करना है, जो उसकी पदोन्नति और आयवृद्धि में सहायक होता है। ऐसे में एक तनाव और अवसाद उसके जीवन का हिस्सा बन जाता है। महानगरों की इस प्रवृत्ति पर लेखक अपूर्वानंद ने कुछ जरूरी सवाल उठाये हैं- “महानगर मात्र मेट्रोपॉलिटन हैं या कॉस्मोपॉलिटन भी? क्या यह पुरानी स्थानीयताओं का एक दूसरे में विलय है या विलोपीकरण है जिससे एक बृहत्तर नागरिक संवेदना का सृजन हो सके?” वे आगे लिखते हैं- “जहाँ ग्रामीण और कस्बाई जीवन अत्यधिक परिचय और एक-दूसरे में अतिशय रुचि के कारण व्यक्तिगत जीवन के लिए असह्य हो उठता है, वहीं महानगर में एक दूसरे से विरक्ति या उदासीनता अलगाव पैदा करती है। इसका आसान जवाब है महानगर में अपनी ग्रामीण या कस्बाई सांस्कृतिक एकजुटता को नए सिरे से गठित करना।”²⁸

उपर्युक्त प्रवृत्तियों से यह स्पष्ट है कि पूँजी तथा शक्ति पर टिकी महानगरीय समाज की संरचना में अनेक दोष हैं। इस संदर्भ में विजातीयता, अकेलेपन, विघटन, मूल्यभ्रंशता आदि की भी चर्चा की जा सकती है। इन सब कारणों से महानगरों के व्यापक समुदाय में, मुख्यतः हाशिये के समाज में समृद्धि और प्रसन्नता दिखाई नहीं देती। महानगर जो पूँजीपति वर्ग के लिए धन का प्राचुर्य प्रदान करता है, गरीब के प्रति अत्यंत अनुदार दिखता है। सच्चिदानंद सिन्हा ने लिखा है- “वैश्वीकरण की नीति से सभी देशों में हाशिये पर स्थित लोगों का समेकन के बदले विलगाव हो रहा है। वर्तमान बहुराष्ट्रीय कंपनियों का औद्योगिक व्यापारिक ताना बाना रासायनिक प्रक्रिया में रवों(क्रिस्टल) की भांति विशेष तरह से उपयोगी न्यूनतम मानव और गैर-मानव तत्वों को अपने भीतर समेकित करता है और बाकी वस्तुओं और मनुष्य को उच्छिष्ट बना बाहर छोड़ देता है।”²⁹ उपर्युक्त सामाजिक संरचना के कारण महानगरों के परिवार एकल हो रहे हैं, रिश्तेदारियाँ और नातेदारियाँ सीमित हो रही हैं, बुजुर्ग अपमानित हो रहे हैं और संबंधों में विघटन हो रहा है। कि पूँजी तथा शक्ति पर टिकी महानगरीय समाज की संरचना में अनेक दोष

हैं। इस संदर्भ में विजातीयता, अकेलेपन, विघटन, मूल्यभ्रंशता आदि की भी चर्चा की जा सकती है। इन सब कारणों से महानगरों के व्यापक समुदाय में, मुख्यतः हाशिये के समाज में समृद्धि और प्रसन्नता दिखाई नहीं देती। महानगर जो पूंजीपति वर्ग के लिए धन का प्राचुर्य प्रदान करता है, गरीब के प्रति अत्यंत अनुदार दिखता है। सच्चिदानंद सिन्हा ने लिखा है- “वैश्वीकरण की नीति से सभी देशों में हाशिये पर स्थित लोगों का समेकन के बदले विलगाव हो रहा है। वर्तमान बहुराष्ट्रीय कंपनियों का औद्योगिक व्यापारिक ताना बाना रासायनिक प्रक्रिया में रवों (क्रिस्टल) की भांति विशेष तरह से उपयोगी न्यूनतम मानव और गैर-मानव तत्वों को अपने भीतर समेकित करता है और बाकी वस्तुओं और मनुष्य को उच्छिष्ट बना बाहर छोड़ देता है।”³⁰ उपर्युक्त सामाजिक संरचना के कारण महानगरों के परिवार एकल हो रहे हैं, रिश्तेदारियां और नातेदारियां सीमित हो रही हैं, बुजुर्ग अपमानित हो रहे हैं और संबंधों में विघटन हो रहा है।

1.5.2 महानगरों की समस्याएं

महानगर भौतिक उन्नति और यांत्रिक विकास के केंद्र होते हैं। लेकिन संसाधनों के केंद्रीकृत होने से असंतुलित विकास और विषमता का प्रसार होता है। इन नगरों के दायरे तेज गति से बढ़ते हैं, जिससे आसपास के क्षेत्र इनकी परिधि में आते रहते हैं। वर्तमान महानगरों में सुविधापूर्ण जीवन की कीमत गाँव के लोग चुका रहे हैं। समाजशास्त्री एम. एस. ए. राव ने नगरीय प्रभावों पर विस्तार से अध्ययन किया है। उन्होंने अपनी पुस्तक में लिखा कि- “महानगरों के विकास से निकटवर्ती गाँव प्रभावित होते हैं। नगरों के विस्तार में कुछ सीमावर्ती गाँव पूरी तरह से नगर के प्रसार में विलीन हो जाते हैं जबकि वे क्षेत्र जहाँ लोग नहीं रहते नगरीय विकास के लिए प्रयोग किए जाते हैं।”³¹ वे आगे लिखते हैं – “शहरी प्रभाव उन गांवों में भी देखा जाता है जो औद्योगिक शहरों के निकट स्थित हैं। जब एक भिलाई जैसा औद्योगिक शहर उभरता है तो उस गाँव के आसपास की पूरी जमीन उस शहर का हिस्सा बन जाती है, जबकि कुछ गांवों की आंशिक भूमि अधिग्रहित की जाती है। ऐसे शहरों में प्रवासी कामगार आते ही रहते हैं जिससे गाँव में मकानों की मांग बढ़ जाती है और बाज़ार का विस्तार होता है। साथ ही साथ स्थानीय निवासियों और अप्रवासियों के बीच के संबंधों को संतुलित करने की समस्या भी उत्पन्न होती है।”³² महानगरों की भौतिक समृद्धि और प्रसन्नता, शांति में व्युत्क्रमानुपाती संबंध है। भौतिक सुविधाएं बढ़ती चली जा रही हैं और उसी गति से समस्याएं भी बढ़ती जा रही हैं। भारत के संदर्भ में ये समस्याएं स्वतंत्र भारत में नगरों के विकास के साथ ही आरंभ हो गयी थीं। आर्थिक विकास की भारतीय अवधारणाओं- *ग्राम विकास, इकॉनमी ऑफ़ परमानेंस, अंतिम जन* के उत्थान की नीति की उपेक्षा की गयी और पश्चिम के विकास मॉडल को अपनाया गया। लेखक लक्ष्मण सिंह बिष्ट ‘बटरोही’ स्वतंत्र भारत के नियोजन की प्रणाली को त्रुटिपूर्ण बताते हैं और *विशालता के भ्रम* को इस त्रुटि का कारण बताते हैं। वे लिखते हैं- “आज़ादी से पूर्व भारत के आर्थिक नियोजकों द्वारा कल्पित आर्थिक विकास का मूल आधार-बिंदु ‘छोटा’ और ‘उपेक्षित’ ही रहा ‘विशाल’ और ‘श्रेष्ठतम’ नहीं।...लेकिन न जाने कैसे वह विराटता और विशालता जैसे हवाई मुद्दों के साथ जुड़ गया। स्वतंत्र भारत को दुनिया का सबसे बड़ा प्रजातंत्र कहने और अपने आपको रातों-रात विश्व-प्रतियोगिता के साथ जोड़ने की प्रवृत्ति इस बात की साक्षी है।”³³ महानगरों की समस्याएं अनेक हैं। कुछ प्रमुख समस्याओं का विश्लेषण प्रस्तुत है-

(क) निर्धनता

- निर्धनता वह स्थिति है जो मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ है। दुनिया के बड़े-बड़े महानगरों में एक तबका अभावों और उपेक्षा का जीवन जी रहा है किन्तु कथित तीसरी दुनिया के देशों में स्थिति और भी खराब है। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री अर्नेस्ट शूमाकर ने अपनी पुस्तक 'स्मॉल इज ब्यूटीफुल' में तीसरी दुनिया के तीन संकटों का उल्लेख किया है- "पहला है- संसाधनों का संकट, दूसरा पर्यावरण का संकट और तीसरा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है- दिशाहीनता और पलायन का संकट।"³⁴ महानगरों की समस्याओं पर बात करते समय सबसे पहले हमारा ध्यान शहरी निर्धनता पर जाता है। आरंभिक मनुष्य सामुदायिक जीवन जीता था, तब संसाधनों का असमान वितरण कोई समस्या नहीं थी क्योंकि सामूहिक जीवन में उन पर सभी का अधिकार था। वैयक्तिक संपत्ति की अवधारणा के बाद विषमता की समस्या भी पैदा हुई। दरअसल औद्योगीकरण से जहाँ एक ओर मशीनों, कल-कारखानों तथा मूलभूत संरचना का निर्माण हुआ वहीं दूसरी ओर, इसके दुष्प्रभाव भी सामने आये। सामाजिक और जनसांख्यिकीय प्रवास से, महानगरों में पूँजी के संकेंद्रण तथा विभिन्न उद्यमों के मालिकों द्वारा श्रमिकों के हितों का ध्यान न रखे जाने के कारण नगरीय निर्धनता बढ़ी। लेखक चार्ल्स डिकेंस ने अपने कई उपन्यासों में महानगरों में श्रमिकों की विपन्नता का वर्णन किया है। भारतीय समाज में पुरोहित वर्ग तथा धार्मिक गुरुओं द्वारा गरीबी को पूर्व कर्मों का फल बताया गया। बड़ी संख्या में लोग इस धार्मिक व्याख्या को मानते भी रहे और उन्होंने अपनी स्थिति की पड़ताल करने, उसके लिए जिम्मेदार संस्थाओं-कर्मियों की पहचान करने की कोशिश भी नहीं की। महानगरों में एक वर्ग अत्यधिक अभावों में जीवन जीता है। उनके पास मूलभूत सुविधाओं- रोटी, कपड़ा और मकान की व्यवस्था भी नहीं। वे दिहाड़ी मजदूरी कर, कुलीगिरी, पल्लेदारी आदि का काम कर अपने लिए दो जून की रोटी की व्यवस्था करते हैं। गरीब स्त्रियाँ अनेक तरह के समझौते कर दफ्तरों में नौकरियाँ कर रहे हैं, दूसरों के घरों में झाड़ू-पोंछा का काम कर रही हैं। कुछ तो कोई सहारा न पाकर, बेबस हो वेश्यावृत्ति में लिप्त हो गयी हैं। महानगरों में बढ़ती निर्धनता के कई कारण हैं जिन पर निम्नलिखित बिंदुओं में विचार किया गया है-
- निर्धनता के कई कारण हो सकते हैं। ये कारण आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, व्यक्तिगत या सामाजिक संरचना के दोषों से उपजे हो सकते हैं। व्यक्तिवाद, निर्धनता का कारण उस व्यक्ति विशेष में ही देखने का सिद्धांत है। कई बार किसी का निर्धन होना उसके आलस्य की अथवा उसके कौशलविहीन होने की परिणति हो सकती है। मैक्स वेबर ने अपनी पुस्तक 'दि प्रोटेस्टैंट एथिक एंड दि स्पिरिट ऑफ कैपिटलिज्म' में इस बात पर जोर दिया कि किसी की आर्थिक उन्नति उसके वैयक्तिक प्रयासों से जुड़ी हुई है।
- महानगरों में बढ़ती निर्धनता का एक बड़ा कारण सांस्कृतिक है। गांवों से महानगरों को जाने वाले श्रमिक उसी पेशे में लग जाते हैं जो उनके पिता या घर के बुजुर्ग करते आये थे। अपनी स्थिति सुधारने के लिए वे शिक्षित भी नहीं हो पाते और अशिक्षित, अकुशल श्रमिक के रूप में काम करते हुए वे भी निर्धनों की पंक्ति में शामिल हो जाते हैं। समाजशास्त्र की भाषा में इसे 'निर्धनता की संस्कृति' कहा जाता है। इस प्रकार की संस्कृति गरीबों के विश्वास, मूल्य और जीवन स्तर बदलने के प्रयासों को निष्फल कर देती है। मजदूरों का अशिक्षित होना, पूँजीपति वर्ग द्वारा उनके शोषण किये जाने को आसान बनता है। श्रमिक

वर्ग के बीच शिक्षा के प्रचार से उनको अपने अधिकारों को जानने का अवसर मिल सकता है जो यथास्थितिवाद को तोड़ने में सहायक सिद्ध होगा। कई साहसी और उत्साही मजदूरों ने ऐसा करने में सफलता पाई है।

- समाज के विकसित होने की प्रक्रिया में स्थितियां पहले से और अधिक जटिल होती रहती हैं। एक प्रकार का भेदभाव समाप्त होता है तो दूसरी प्रकार का उभर कर सामने आ जाता है। कभी जाति, धर्म, वर्ग, सम्प्रदाय के आधार पर व्यक्ति को व्यक्ति से अलग किया जाता है। निर्धनता मात्र सामाजिक-आर्थिक कारणों की ही देन नहीं है बल्कि किसी समाज के सांस्कृतिक ढांचे के दोषों से भी निर्धनता पनपती है। अमेरिका, यूरोप के लोगों ने श्रेष्ठता बोध की ग्रंथि से पीड़ित होकर काले लोगों के साथ रंगभेद की नीति अपनाई और उन्हें दास बनाकर रखा। बहुत से देशों में बहुसंख्यक समुदाय के लोगों ने अल्पसंख्यक समुदाय के साथ गैरबराबरी का व्यवहार किया इस कारण वहां अल्पसंख्यक निर्धन बने रहे। औद्योगिक क्रांति के बाद महानगरों में पूंजी के कुछ लोगों के पास बड़ी मात्रा में इकट्ठे होते जाने के बाद से स्थितियां और खराब हुईं। पूंजीपति मालिक बन बैठा और निर्धन उनके कारखानों में खटने लगा। भारत में वर्ण व्यवस्था और जाति व्यवस्था पर आधारित पृथकीकरण से लोगों को बांटा गया। वैज्ञानिक चेतना और विवेक पर आधारित एकजुट समाज बनाने का प्रयास नहीं किया गया। देश के दलित, पिछड़े तथा आदिवासी समाज के लोगों को शिक्षा, रोजगार के सामान अवसर नहीं मिले, इस कारण वे निर्धन बने रहे।
- व्यक्ति जन्म से न तो निर्धन होता है और न ही धनी। कुछ व्यक्ति उस व्यवस्था से जुड़े होते हैं, जिनका आर्थिक स्रोतों पर एकाधिकार रहा है। भारत में लंबे समय तक औपनिवेशिक शासन रहा। अंग्रेजों ने अपने शासन में यहाँ के संसाधनों का जमकर दोहन किया और लाभ कमाया। औपनिवेशिक शासन से पहले देशी रियासतों के समय भी सामान्य जनता के लिए स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। शासन में प्रभावशाली लोग, सामंत और पुरोहित वर्ग खूब फलफूल रहा था और सामान्य लोग गरीबी में जी रहे थे। “यदि भारत के राजाओं ने योजनाबद्ध रूप में देश के आर्थिक ढांचे को रोजगारपरक बनाया होता, जनता की खुशहाली के लिए संसाधनों का उपयोग कर उसे आर्थिक विकास के कार्यों में लगाया होता तो संभवतः ग्रामीण समाज की आज जर्जर स्थिति न होती।”³⁵
- स्वतंत्रता के बाद देश में आर्थिक विकास की योजनायें आरंभ की गयीं। पंचवर्षीय योजनाएं बनाकर लक्ष्य निर्धारित किये गए। किन्तु आर्थिक संसाधनों से लुट चुके भारत में यह सब इतना आसान न था। समाजशास्त्री राम आहूजा के अनुसार- “भारतीय अर्थव्यवस्था स्वतंत्रता से पूर्व लगभग पांच दशकों के अंतराल में गतिहीन रही थी। विकास दर की प्रवृत्ति 1900-01 और 1945-46 के बीच राष्ट्रीय आय में 1.2%, कृषि उत्पादन में 0.3% और औद्योगिक उत्पादन में 2.0% रही। जनसंख्या में वृद्धि के कारण ये विकास की दरें भारत के निवासियों के लिए न्यूनतम स्तर पर जीवन व्यतीत करने के लिये भी साधन जुटाने में पर्याप्त नहीं थीं। इसलिए स्वतंत्रता के बाद अर्थव्यवस्था के विकास के लिए योजना बनाना आवश्यक हो गया।”³⁶ समय के साथ-साथ स्वावलंबी होने पर जो योजनायें चलाई भी गयीं उनका लाभ गरीब तथा वंचितों को नहीं मिल पाया। सत्ता के इर्द-गिर्द रहने वाले लोग उनसे लाभ उठाने का प्रयास करते रहे। इस कारण जो धनी था वह और धनी होता गया और गरीब और दिनोंदिन तंगहाली में धंसता गया। सरकारों ने भी धनिकों को अपना सहायक जान, उनके लिए करों में कटौती की, आसानी से ऋण

दिलाया तथा अन्य सुलभताएं प्रदान कीं। इस प्रकार गरीबों के प्रति सरकारी उदासीनता से भी निर्धनता बरमे वृद्धि हुई।

- गरीबी बढ़ने के जनांकिकीय कारण भी ध्यान देने योग्य हैं। शिक्षा का स्तर कम होने, धार्मिक मान्यताओं आदि कारण भारतीय परिवारों का औसत आकार बड़ा होता रहा। इससे प्रति व्यक्ति आय कम रही। पिछले कुछ वर्षों में शिक्षा तथा जागरूकता के प्रसार से परिवारों का आकार छोटा हुआ है।

(ख) मलिन बस्तियां

महानगरों में उद्योगों, संस्थाओं के केंद्रित होने से बड़ी मात्रा में लोगों की आवाजाही होती है। ऐसे में वहां स्थान की कमी रहती है। कम आय वाले श्रमिक इन महानगरों में अपना बेहद छोटा काम चलाऊ आवास बना लेते हैं। ऐसे अस्थायी, छोटे और गंदे आवासों की बस्तियां मलिन बस्ती के रूप में पहचानी जाती हैं। उत्तर प्रदेश स्लम एरियाज एक्ट 1962 के अनुसार, 'स्लम या मलिन बस्ती वह क्षेत्र है जहाँ की अधिकांश इमारतें जीर्ण-शीर्ण दशा में भीड़-भाड़ युक्त होती हैं। ये इमारतें संकरी गलियों में अव्यवस्थित ढंग से बसी होती हैं। यह क्षेत्र हवा, संचार, बिजली स्वास्थ्य, स्वच्छता, सुरक्षा व नैतिकता की दृष्टि से हानिकारक होता है। यह किसी भी दशा में मनुष्य के रहने के लिए अनुपयुक्त होता है।'³⁷ भारतीय महानगरों पर बढ़ते दबाव के कारण कोलकाता, दिल्ली, मुंबई, अहमदाबाद, चेन्नई, जैसे महानगरों में लाखों की संख्या में लोग इन बस्तियों में रहते हैं। इन शहरों के विलासिता और चकाचौंध भरे जीवन, ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं के बीच गंदी, अभावग्रस्त मलिन बस्तियां महानगरों के दोषपूर्ण नियोजन, शहरी गरीबी, आर्थिक विषमता, ग्रामीण क्षेत्रों में घटते रोजगार और असंगठित क्षेत्र के रोजगारों में आर्थिक-सामाजिक सुरक्षा नीतियों की कमी की द्योतक हैं।

महानगरों में जनसंख्या के बढ़ते जाने पर उसका उसका विस्तार होता जाता है। इससे उपनगरों का जन्म होता है। कवि-आलोचक विनोद दास ने लिखा है- "उपनगर अपने महानगर की अवैध संतान की तरह होता है जिसे वैध संतान की तरह न तो प्यार, न ही सुख-संपत्ति और न ही नाम मिलता है।"³⁸ ये उप-नगर अभावग्रस्त लोगों के, नगर में अतिक्रमण कर बना ली गयी छोटी खोलियों से विकसित होते हैं जहां न स्वच्छ पानी है और न हवा और न रहने के लिए उचित स्थान। इन क्षेत्रों में अधिकतर लोग एक कमरे के मकान में ही रहते हैं, सूर्य का प्रकाश ठीक तरह से न पहुँच पाने के कारण यहाँ सीलन रहती है। पानी का निकास न होने से ये स्थान बदबूदार होते हैं। इन सभी प्रतिकूल परिस्थितियों में यहाँ बीमारियाँ फैलने की बहुत संभावना रहती है। एकीकृत आवास तथा स्लम विकास कार्यक्रम के अंतर्गत, स्लम में रहने वाले लोगों के जीवन स्तर को अच्छा बनाने का प्रयास किया गया है लेकिन इन योजनाओं का लाभ बहुत थोड़े लोगों को मिल सका है। अधिकतर लोगों का जीवन स्तर आज भी बुरी स्थिति में है। "एक अनुमान के अनुसार 2005 तक भारतीय नगरों में मलिन बस्तियों की आबादी लगभग 70 मिलियन हो गयी है, जिसमें महानगरों की लगभग 45% आबादी शामिल है। मलिन बस्तियों में हो रही उत्तरोत्तर वृद्धि ने नगरीय विकास प्रक्रिया एवं नगर प्रशासन के समक्ष अत्यधिक भीड़-भाड़, नगरीय आवश्यक सुविधाओं- जलापूर्ति, जल निकास, परिवहन एवं यातायात, विद्युत आपूर्ति की अपर्याप्तता जैसी अनेक समस्याएं उत्पन्न की हैं।"³⁹

‘रिफॉर्म इन अर्बन प्लानिंग कैपसिटी इन इंडिया 2021’ रिपोर्ट के अनुसार “वर्तमान में भारत का कोई भी शहर टॉप 50 के ग्लोबल रैंकिंग के शहरों में नहीं आता। भारत के कुल 7933 नगरों को शहरी नगर(अर्बन टाउंस) की श्रेणी में रखा गया है। कुल वैश्विक शहरी जनसंख्या का 11 फीसदी हिस्सा भारत में होने के कारण इसे विश्व का दूसरा सबसे बड़ा अर्बन सिस्टम भी कहा जाता है। परंतु भारतीय शहरों का मास्टर प्लान नहीं होना एक बहुत बड़ी समस्या है।”⁴⁰ इस तरह विशाल आबादी और खराब नियोजन के चलते भारतीय महानगरों में समस्याएं बढ़ती जा रही हैं।

(ग) प्रवास

विश्व में कृषि संस्कृति विकसित होने के पश्चात लोगों का घुमंतू और कबीलाई जीवन स्थायी प्रकृति का हो गया। भोजन जुटाने के लिए एक स्थान से दूसरे स्थान भटकने की जरूरत नहीं रही। यह स्थिरता का दौर औद्योगिक क्रांति के समाप्त हुआ। उद्योगों का विकास होने पर, उत्पादों को एक स्थान से दूसरे स्थान ले जाने के लिए ट्राम, बस, रेल आदि परिवहन के साधन उपयोग में लाये जाने लगे। इस प्रक्रिया में प्रवास की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिला। महानगरों में सुविधाएं और भौतिक सम्पन्नता बढ़ने पर गाँव-कस्बों से लोग बड़ी मात्र में महानगरों में जाने लगे।

भारत की प्रथम संचालित जनगणना 1881 ई. में हुई। पहली जनगणना से ही प्रवास के आंकड़ों को दर्ज करना आरंभ कर दिया गया था। इन आंकड़ों को जन्मस्थान के आधार पर दर्ज किया गया था। प्रवास के दो रूपों को चिन्हित किया जा सकता है- आंतरिक प्रवास तथा अंतर्राष्ट्रीय प्रवास। आंतरिक प्रवास के अंतर्गत चार धाराओं की पहचान की गई है: (क) ग्रामीण से नगरीय (ख) ग्रामीण से ग्रामीण (ग) नगरीय से नगरीय और (घ) नगरीय से ग्रामीण। प्रवास, किसी क्षेत्र में अवसरों के असमान वितरण के कारण होता है। लोगों में, कम अवसरों से अधिक अवसरों और कम सुरक्षा वाले स्थान से बेहतर सुरक्षा वाले स्थान की ओर जाने की प्रवृत्ति होती है। सामाजिक अंतर्विरोध तथा रूढ़ियों से उपजे भेदभाव की भावना के कारण भी कुछ समुदाय हाशिये पर रह जाते हैं। प्रो. देवेन्द्र चौबे ने इस संबंध में लिखा है- “मुख्यधारा के भीतर के हाशिये पर वैसे समूह, समुदाय अथवा व्यक्ति आते हैं, जो मुख्यधारा के अन्दर रहते हुए भी विकास की प्रक्रिया से जुड़ नहीं पाते हैं। आर्थिक कारणों से ऐसा अधिक होता है तथा कभी कभी यह सामाजिक और सांस्कृतिक भी होता है। क्योंकि आर्थिक विषमता के कारण ही व्यक्ति, समूह अथवा समुदाय स्थान-परिवर्तन करते हैं तथा अपने घर की संस्कृति को छोड़कर नयी जगह व्यवस्थित होने का प्रयास करते हैं।”⁴¹ प्रवास, उद्गम और गंतव्य क्षेत्रों के लिए लाभ और हानि दोनों उत्पन्न करता है। अनियंत्रित प्रवास ने भारत के महानगरों को अतिसंकुलित कर दिया है। दिल्ली, मुंबई, कोलकाता, हैदराबाद, चेन्नई जैसे औद्योगिक दृष्टि से विकसित नगरों में गंदी बस्तियों का विकास देश में अनियंत्रित प्रवास का नकारात्मक परिणाम है। वहीं दूसरी ओर कई क्षेत्र, बड़ी संख्या में निवासियों के महानगरों में पलायन करने के कारण खाली हो गए हैं। मुख्यतः पर्वतीय तथा अन्य ऐसे क्षेत्र जहाँ उद्योग धंधे बहुत कम हैं, वहाँ के अधिकतर युवा महानगरों में चले जाते हैं। इसे उत्तराखंड के उदहारण के माध्यम से समझा जा सकता है। इस राज्य के गठन से 2017 तक के 17 वर्षों में यहाँ के तीन हजार गाँव खाली हो चुके थे। स्थिति इस तरह बिगड़ती देख तत्कालीन मुख्यमंत्री त्रिवेन्द्र सिंह रावत ने 17 सितंबर 2017 को *पलायन आयोग* का गठन किया जिसका उद्देश्य ग्राम केन्द्रित योजनाओं को बढ़ावा देकर पलायन को रोकना था।

चूँकि प्रवास में व्यक्ति अपने मूल स्थान से गंतव्य स्थान तक जाता है इस कारण देश में जनसंख्या के पुनर्वितरण की प्रक्रिया होती है। इस प्रक्रिया से कई बड़े सांस्कृतिक परिवर्तन उत्पन्न होते हैं, जैसे- ग्रामीण जनांकिकीय संरचना पर प्रतिकूल प्रभाव, विभिन्न क्षेत्रों में आयु एवं लिंग संरचना में गंभीर असंतुलन, महानगरों के जनसंख्या घनत्व में अतिशय वृद्धि, कार्यशैली और व्यावसायिक ढांचे में परिवर्तन आदि। ग्रामीण क्षेत्रों युवाओं के महानगरों में पलायन करने से स्थानीय स्तर पर वृद्धजनों की संख्या में वृद्धि होती है जिन्हें अनेक अभावों और कष्टों का सामना करना पड़ता है। प्रवास सदैव आर्थिक लाभ की आकांक्षा से ही नहीं किये जाते बल्कि कई बार किसी प्राकृतिक आपदा, सूखा, बाढ़, स्थानीय संघर्ष जैसी स्थितियों में भी लोग पलायन को बाध्य होते हैं।

भारतीय महानगरों में विषमता की चौड़ी खाई विद्यमान है तथा एक बड़ा वर्ग हाशिये का जीवन जीने को विवश है। यह वर्ग विकास और समृद्धि की प्रक्रिया से जुड़ नहीं पाया है और हाशिये पर है। प्रवास का एक सकारात्मक पक्ष है कि प्रवास से विविध संस्कृतियों से जुड़े लोगों का मिलाप होता है। विभिन्न जाति-धर्मों, क्षेत्रों तथा भाषाभाषियों के समन्वय के साथ रहने से संकीर्ण विचारों से मुक्त होने तथा मिश्रित संस्कृति को फलने फूलने का अवसर मिलता है। किंतु इसके गंभीर नकारात्मक परिणाम भी होते हैं जो व्यक्तियों में अकेलापन और खिन्नता की भावना भर देते हैं। अकेलेपन और अजनबीयत की भावना लोगों को अपराध और नशीले पदार्थों के सेवन जैसी असामाजिक क्रियाओं के चंगुल में फंसा सकती है।

साथ ही प्रवास से कई पर्यावरणीय दुष्परिणाम भी देखने को मिलते हैं। ग्रामीण से नगरीय प्रवास के कारण लोगों का अति संकुलन नगरीय क्षेत्रों में वर्तमान सामाजिक और भौतिक अवसंरचना पर दबाव डालता है। अंततः इससे नगरीय बस्तियों की अनियोजित वृद्धि होती है एवं मलिन बस्तियों और गैर नियोजित ढंग से बनी कॉलोनियों का निर्माण होता है। सीमित प्राकृतिक संसाधनों के अतिशय दोहन से भूजल का स्तर कम होता, प्रदूषण बढ़ता है, इसके अतिरिक्त ठोस कचरे के प्रबंधन तथा वाहित मल के निपटान और जैसी गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

(घ) अकेलापन तथा अजनबीयत

अजनबीयत, अंग्रेजी के 'एलियनेशन' शब्द का हिंदी पर्याय है, जिसका अर्थ उदासीन होने या विमुख रहने से लिया जा सकता है। प्रसिद्ध अस्तित्ववादी दार्शनिक मार्टिन हाइडेगर ने अजनबीपन के विषय में लिखा है- "एक जीवन वह जो स्वयं जिया और रूपायित किया जाता है, दूसरा वह जिसे सामाजिक दबावों के कारण जीने के लिए व्यक्ति विवश है। यह सामाजिक विवशताओं से भरा जीना ही छद्म जीना है, अप्रामाणिक जीवन है। रूढ़ियों के दबाव में वह अपने से ही अजनबी हो जाता है। वह नहीं रहता जैसा वाह रहना चाहता है। यही अजनबीयत है।"⁴² महानगरों में आये लोग एक स्वाभाविक असुरक्षाबोध के चलते किसी प्रभावशाली संगठन या समूह से जुड़ने का प्रयास करते हैं। ऐसे परिवेश में कई बार उसे स्वीकार नहीं किया जाता तब वे स्वयं को उपेक्षित अनुभव करते हैं। वर्ग विभेद के कारण एक श्रमिक के परिचित समूह में अधिकतर व्यक्ति समान आर्थिक स्थिति तथा एक जैसी सामाजिक हैसियत वाले होते हैं। किसी संकट के समय स्वयं अभावग्रस्त होने की कारण वे एक सीमा से अधिक,

एक-दूसरे की सहायता नहीं कर पाते। महानगरों में असंगठित रोजगारों में लगे लोग तथा श्रमिक अपने परिवारों को मूलस्थान में ही रखकर अकेले काम करने आते हैं। परिजनों के अभाव में उन्हें ऐसे किसी आत्मीय व्यक्ति का अभाव परेशान करता है, जिनके साथ वे अपने विचार और भावनाएं साझा कर सकें।

प्रवास के कारण होने वाले सामाजिक-आर्थिक तथा सांस्कृतिक परिवर्तनों के साथ-साथ प्रवासियों की समस्याएं भी कम नहीं। छोटे और आधुनिकता के संदर्भ में पिछड़े क्षेत्रों से गए लोग महानगर में मुख्यधारा के नागरिक समाज से बाहर होते जाते हैं। इस संदर्भ में *सीमांत मनुष्य का सिद्धांत* जानना उपयुक्त होगा। प्रसिद्ध समाजशास्त्री रॉबर्ट पार्क ने अपनी पुस्तक *‘ह्यूमन माइग्रेशन एंड मार्जिनल मैन’* में बताया है कि प्रवास की प्रक्रिया में जब व्यक्ति एक संस्कृति से दूसरे सांस्कृतिक परिदृश्य में जाता है तब वह इन दोनों के बीच झूलता रह जाता है और अपने स्व की पहचान का संघर्ष करता है। आप्रवासी अपनी मूल पहचान और नगरों में मिली पहचान के द्वन्द में सहज नहीं रह पाते। ऐसे में उनका अलगाव इन दोनों ही संस्कृतियों से होता जाता है। एक स्थिति के बाद वह बिल्कुल हाशिये पर चला जाता है। सीमांतीकरण की यह प्रक्रिया आर्थिक आधार पर *सामाजिक बहिष्कार (Social Exclusion)* की प्रक्रिया है जिसमें किसी व्यक्ति की सेवाएं तो ली जाती हैं लेकिन उनके प्रति दायित्व को पूरा नहीं किया जाता। शहरों में जगह-जगह दैनिक उपभोग की वस्तुएं बेचने वाले लोग, लेबर चौराहों पर आसानी से उपलब्ध हो जाने वाले मजदूर तथा इस प्रकार के अन्य हाशिये के लोग नगरजनों के लिए सुविधा ही प्रदान करते हैं किंतु उनके उन्नयन के लिए कोई आवाज नहीं उठाता। समाजवादी विचारक सच्चिदानंद सिन्हा ने लिखा है- “अगर हम इन बातों की थोड़ी जानकारी लेने की कोशिश करें, तो पाएंगे कि नगर के सम्मानित जीवन के बाहर एक ऐसा विशाल समुदाय शहर के भीतर ही रहता है और पलता है जिसके अस्तित्व से नगर इंकार करना चाहता है, जिन्हें नगर दबाकर विस्मृति के तल में रखना चाहता है। थोड़ी छानबीन करने पर हम पाएंगे कि फुटपाथ पर व्यवसाय करने वाले लोगों का यह समूह नगरों के उस वृहत समाज का अंग है जो नगरों के विकास के लिए अनिवार्य है या इसके विकास का परिणाम है, लेकिन नगरों में यह कूबत या न्याय भाव नहीं कि इन्हें अंगीकृत कर एक सम्मानजनक जिंदगी दे सके।”⁴³

महानगरों में प्रवासी तथा वंचित तबके के लोग अपने प्रयासों से कुछ भी परिवर्तित या प्रभावित नहीं कर पाते। वे दो जून की रोटी का बंदोबस्त तो कर लेते हैं किंतु मानव मन की संतुष्टि के लिए इतना पर्याप्त नहीं। शहर की यांत्रिक व्यवस्था में कोई उनका कुशल-क्षेम भी नहीं पूछता और उनसे लाभान्वित होने पर भी उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित नहीं करता। उनके अनुरोध पर सरकारी कार्यालयों का कोई निचले स्तर का कर्मचारी भी ध्यान नहीं देता। ऐसे में इन लोगों को अपने अस्तित्व की निरर्थकता का अनुभव होने लगता है और उनमें सत्ताविहीनता की भावना पनपती है। “सीमैन की *सत्ताविहीनता* एक ऐसी भावना है जिसमें व्यक्ति का समाज में रहते हुए भी अपनी सत्ता के न होने की भावना उसमें जन्म ले लेती है और उसे ऐसा लगने लगता है कि समाज में उसके होने या न होने से कोई फर्क नहीं पड़ता है।”⁴⁴

नगरों की जातीय तथा वर्गीय संरचना भी इस अलगाव तथा अजनबीपन के लिए उत्तरदायी है। एक उदार समाज में विभिन्न सामाजिक-आर्थिक स्तरों के लोग साझा समाज निर्मित करते हैं। किंतु भारतीय समाज में

पदानुक्रम के प्रति अत्यंत सजग होने के कारण विभिन्न स्तरों के लोग एक-दूसरे के साथ सहज रूप से व्यवहार नहीं कर पाते। कई बार हितों का टकराव भी देखने को मिलता है। एक गृहस्वामी अपने नौकर से बहुत मधुर व्यवहार इसलिए नहीं करना चाहता क्योंकि उसे लगता है ऐसा करने से वह अपना कार्य समर्पित होकर नहीं करेगा। समकालीन कहानी का समाजशास्त्र पुस्तक में आलोचक देवेन्द्र चौबे लिखते हैं- “भारतीय समाज के संदर्भ में चाहें वह घरेलू नौकर हो या बेसहारा लोग, खेतिहर दिहाड़ी और बंधुआ मजदूर हो या वेश्या समूह, रूढ़िवादी सामाजिक व्यवस्था, आरती विकास और नगरीकरण आदि के बाद इन समुदायों, समूहों तथा समाज में रहने वाले लोगों के बीच की दूरी काफी बढ़ी है। इस बढ़ती दूरी के कारण ही लोगों के बीच का रागात्मक संबंध टूटा है तथा व्यक्ति अपने ही समाज में अलग-थलग रहने के लिए बाध्य हुआ है।”⁴⁵ इन सब कारणों से अजनबीपन बढ़ा है और महानगरों में गरीब-वंचित तबका इससे पीड़ित है। उनमें कुंठा और तनाव बढ़ा है। कभी-कभी यह तनाव अवसाद की सीमा तक चला जाता है जो अत्यंत चिंताजनक है।

महानगरों की कॉरपोरेट संस्कृति के प्रतिस्पर्धी वातावरण में व्यक्ति की पूरी ऊर्जा और समय आजीविका कमाने को समर्पित हो जाता है। उत्पादन की इस पूंजीवादी शैली में धन की केन्द्रीय महत्ता है। प्रेम, दया, लगाव तथा सहानुभूति जैसी भावनाओं को इसमें उपेक्षित किया जाता है। मानवाधिकार कार्यकर्ताओं द्वारा श्रम-स्थितियों को कर्मचारियों के अनुकूल बनाये जाने की मांग लंबे समय से होती रही है, कुछ देशों में इस पर ध्यान भी दिया गया है किंतु भारत तथा अन्य विकासशील देशों में स्थिति अभी भी दयनीय है। मनोवैज्ञानिक डेविड मैथ्यूज ने अपनी पुस्तक ‘पूँजीवाद और मानसिक स्वास्थ्य’ में लिखा है- “अकेलापन न केवल पूँजीवादी विचारधारा का अभिन्न अंग है, बल्कि एक प्रणाली के रूप में पूँजीवाद के कामकाज से यह और भी बढ़ जाता है। अपने विस्तार के लिए पूँजीवाद जो निष्ठुर अभियान चलाता है, उसके परिणामस्वरूप, उत्पादन में वृद्धि इसकी एक चारित्रिक विशेषता बन गयी है।”⁴⁶ महानगरों में समान कार्यस्थल पर काम करने वाले मित्रों के समूह के बाहर, लोगों का संपर्क बहुत कम होता है। व्यक्ति अपनी प्रसन्नता और पीड़ा किसी के साथ बांट नहीं पाता। अंतोन चेखव की कहानी ‘द लैमेंट’ में कोचवान योना पोतापोव अपने बेटे के मरने की पीड़ा जब किसी से साझा नहीं कर पाता तब वह अपने घोड़े को अपनी सारी कहानी सुनाता है। महानगरों में विपन्नता का जीवन जीने वाले लोग भी ऐसे ही अकेले और असहाय हो जाते हैं। कभी-कभी अपनी पीड़ा को वे किसी लोकगीत की पंक्ति में ढालकर गुनगुनाते पाए जाते हैं। इस भावनात्मक तटस्थता के विषय में समाजवादी विचारक सच्चिदानंद सिन्हा ने लिखा है कि- “आधुनिक औद्योगिक-व्यापारिक व्यवस्था के लिए परिवार और समुदाय के भावनात्मक बंधन और उनकी वफादारियां बाधक सिद्ध होती हैं। आधुनिक समाजशास्त्री इसे ‘एफेक्टिविटी’ यानी भावनात्मक लगाव की जगह ‘**एफेक्टिव न्यूट्रिलिटी**’ यानी ‘**भावनात्मक तटस्थता**’ की आवश्यकता के रूप में प्रस्तुत करते हैं। इस व्यवस्था के सुचारू रूप से चलने के लिए मानव रिश्तों का निजी(पर्सनल) की जगह कामकाजी(फंक्शनल) बन जाना जरूरी है।”⁴⁷

(त) पर्यावरण की चुनौती

महानगरों में पिछले कुछ दशकों से पर्यावरणीय प्रदूषण की समस्या लोगों के लिए सबसे अधिक चिंता का विषय बनी हुई है। वायु और जल के प्रदूषित होने का सीधा प्रभाव महानगरों में रहने वाले लोगों के स्वास्थ्य पर पड़ा है। अनेक अध्ययन इस बात की पुष्टि करते हैं कि जल तथा वायु का प्रदूषित होना अनेक गंभीर बीमारियाँ का कारण

बनता है। वहीं स्वच्छ वायु, पेड़-पौधों का होना किसी क्षेत्र के निवासियों के शारीरिक तथा मानसिक स्वास्थ्य को बेहतर बनाता है। वैज्ञानिकों ने हरे-भरे क्षेत्रों के अध्ययनों में पाया कि वहां के अधिकतर नागरिकों के दृष्टिकोण, प्रवृत्तियां तथा उनके विश्वास अत्यंत सकारात्मक थे। दक्षिण अफ्रीका में शहरी हरियाली तथा अपराध की दर को लेकर 2010 से लेकर 2019 तक किये गए एक अध्ययन में यह पाया गया कि ‘पर्यावरणीय दृष्टि से समृद्ध स्थानों पर हिंसक और संपत्ति से जुड़े अपराध की दर काफी कम है।’ इस शोध के निष्कर्ष शहरी हरियाली को एक प्रमुख रणनीति के रूप में अपनाने के आह्वान पर और बल देते हैं। यह पर्यावरणीय स्थिरता के साथ-साथ सामाजिक स्थिरता दोनों के लिए उपयुक्त है।⁴⁸

महानगरों में जनसंख्या के बढ़ते जाने तथा आवास, उद्योग के लिए भूमि की तलाश में तेज गति से निर्वनीकरण किया गया। मिल, कारखाने, उद्योग लगाये गए किंतु उनसे निकलने वाले अपशिष्ट के निपटान की व्यवस्था नहीं की गयी। इमारतों, भवनों की अधिकता भी इस प्रदूषण का कारण बनी। “यूनाइटेड नेशन की एक ताजा रिपोर्ट के मुताबिक, कुल कार्बन डाईऑक्साइड उत्सर्जन का लगभग 40 प्रतिशत भवन और भवन निर्माण से आता है जिसमें कहीं न कहीं स्थानीय परंपरागत घर निर्माण की शैली से दूरी और अत्यधिक उर्जा जरूरतों से लैस घरों का भी योगदान प्रमुख है। लोहा, सीमेंट, कंक्रीट और कांच आधारित पाश्चात्य भवन निर्माण शैली ने न सिर्फ हमारे घरों का भौतिक स्वरूप बदला है, बल्कि अनेक पर्यावरण संबंधी समस्याएं खड़ी कर दी हैं जिसमें गली, फुटपाथ, पार्क समेत अन्य खुली जगहों का कंक्रीटीकरण प्रमुखता से शामिल है।”⁴⁹

इस प्रकार की यांत्रिक कार्य संस्कृति का आरंभ औद्योगिक क्रांति से हुआ था। फैक्ट्रियों, कारखानों से निकलने वाला तथा सड़कों पर दौड़ने वाले असंख्य वाहनों का धुआं वायु को प्रदूषित करने लगा। उद्योगों से निकलने वाला दूषित जल नदियों में मिलने लगा। इस दूषित वायु तथा जल से त्वचा, श्वास संबंधी रोग होना सामान्य बात है। आर्थिक रूप से समर्थ लोग एक सीमा तक दूषित वायु, जल से बचाव करते हैं। किंतु गरीब वर्ग सब कुछ जानते हुए भी अपनी परिस्थितियों के कारण इनसे बचाव नहीं कर पाता और रोगों का शिकार हो जाता है। महानगरों में अपशिष्ट के निपटान की योजना का अभाव होने के कारण जगह-जगह गंदगी फैली रहती है, जो उस स्थान तथा वहाँ रहने वाले निवासियों के लिए अच्छा नहीं। एक अध्ययन के अनुसार- “साल 2020-21 में 1,60,039 टन नगरीय ठोस अपशिष्ट (म्युनिसिपल सॉलिड वेस्ट-एमएसडब्ल्यू) प्रतिदिन उत्पन्न हुआ। इसमें 32 प्रतिशत हिस्सा यानी 50,655 टन अपशिष्ट ऐसा था जिसका कोई हिसाब-किताब नहीं है अर्थात् इस अपशिष्ट का क्या हुआ, हमें नहीं पता। दुसरे शब्दों में कहें तो इसका कोई रिकॉर्ड नहीं है। यह अपशिष्ट आम तौर पर शहरी नालियों में अटा पड़ा रहता है या इसे अवैध तरीके से जला दिया जाता है। पिछले कुछ वर्षों में एक यह बात अच्छी हुई है कि अपशिष्ट की निगरानी बेहतर हुई है।”⁵⁰ इस प्रकार भौतिक विकास की दृष्टि से तो महानगर खूब फलती फूलती जगहें हैं लेकिन वहां समस्याएं भी कम नहीं। विशेष रूप से भूमंडलोत्तर महानगरों में बढ़ते उपभोक्तावाद के कारण उद्योग धंधों में तेजी से बढ़ोत्तरी हुई है और संसाधनों का दोहन भी बढ़ा है। इससे आने वाले समय में महानगरों का जीवन और भी कठिन होने की संभावना है।

(ज) असंगठित क्षेत्र के श्रमिक

महानगरों में रोजगार की तलाश में आने वाले लोगों में शिक्षित तथा पेशेवर योग्यताएं रखने वाले लोग भी होते हैं और अनपढ़ लोग भी। रोजगार की कमी के चलते अधिकतर लोगों को अपनी योग्यता से निचले स्तर के कार्य करने को बाध्य होना पड़ता है। इनमें बड़ी संख्या असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले कर्मियों की होती है। ये कर्मचारी अनिश्चित तथा अस्थायी रोजगार, कार्य की अनिश्चित अवधि तथा प्रतिकूल कार्यस्थितियों से जूझते हुए अपना जीविकोपार्जन करते हैं। 'वर्ष 2011-12 में राष्ट्रीय प्रतिदर्श सर्वेक्षण संगठन द्वारा किये गए सर्वेक्षण के अनुसार देश में संगठित और असंगठित दोनों क्षेत्रों में कुल रोजगार 47 करोड़ था। इसमें से संगठित क्षेत्र में रोजगार 8 करोड़ था तथा शेष 39 करोड़ असंगठित क्षेत्र में था। देश में कुल रोजगार में असंगठित क्षेत्र में कर्मियों का हिस्सा 90 प्रतिशत से भी अधिक है।'⁵¹ असंगठित क्षेत्र के कर्मचारियों की संख्या अधिक होने पर भी उन्हें सरकारी उदासीनता का शिकार होना पड़ता है। लंबे समय से की जा रही मांगों के बाद भी उनके लिए कल्याणकारी योजनाओं का सर्वथा अभाव है। प्रो. अभय कुमार दुबे इस संदर्भ में लिखते हैं- "भूमंडलीकरण ने शहरी गरीबों की ताकत को कम किया है। भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में संगठित क्षेत्र के मजदूरों की संख्या घटी है और असंगठित क्षेत्र के मजदूरों की संख्या बढ़ी है। फिर भी हमारी सरकार श्रमिकों को दी जाने वाली सुविधाओं के लिए संगठित क्षेत्र के मजदूरों पर ही विचार करती है।"⁵²

ग्रामीण क्षेत्रों से महानगरों में रोजगार के उद्देश्य से आने वाले लोग स्वरोजगार को एक अच्छा विकल्प मानते हैं। असंगठित क्षेत्र में होने वाले शोषण से बचने के लिए तथा कुछ मामलों में पुश्तैनी काम से जुड़ जाने के कारण अनेक लोग स्वरोजगार को प्राथमिकता देते हैं। "शहरी जीवन की सामाजिक संरचना में 'स्वरोजगार में लगे' ये वही लोग हैं, जिनकी अपनी कोई दुनिया नहीं होती है। एक बनी बनाई दुनिया में अपने आपको समाहित कर देने के लिए ये बाध्य होते हैं, चाहे वह इन लोगों को अपनी दुनिया में शामिल करें या न करें। इनके लिए यह वही समय होता है, जब अपने आपको ये बेबस और लाचार महसूस करते हैं।"⁵³ महानगरों में रहने वाले गरीब, वंचित लोग सरकारी उदासीनता और प्रशासनिक उपेक्षा के अभ्यस्त हो चुके होते हैं। उनकी समस्याएं चुनावों में मुद्दा नहीं बन पातीं। किसी भी दफ्तर में बड़े अधिकारी से लेकर सामान्य लिपिक भी आमतौर पर उनकी उपेक्षा करते हैं।

अंत में यह कहा जा सकता है कि वर्तमान महानगरों में उपभोक्तावादी संस्कृति के विस्तार से जो एकरूपता, यांत्रिकता फैली है उससे बहुत कुछ नष्ट भी होता जा रहा है। सुविधाओं और विलासिता की वस्तुओं के अंबार लगाने में व्यस्त मनुष्य प्रकृति की चिंता भी नहीं कर रहा। यह इस भौतिक विकास का भयावह पहलू है। इससे बचने को दुनिया भर के विचारक विकास के वैकल्पिक मॉडल की ओर ध्यान देने की बात कर रहे हैं। "इसकी प्रेरणा एक वैकल्पिक जीवन के प्रतिमान से ही प्राप्त हो सकती है। इसी प्रतिमान के लिए हमें व्यंग्य और उपेक्षाओं की परवाह किये वगैर यूटोपियाई आदर्शों की ओर लौटना होगा। एक ऐसे मंगलकारी समाज का प्रतिमान उपस्थित करना होगा जो मात्र आदर्श की अभिव्यक्ति नहीं हो बल्कि आधुनिक ज्ञान और विज्ञान के आलोक में सर्वाधिक व्यावहारिक भी, जो यह होगा ही।"⁵⁴

ग्रामीण-नगर सातत्य

अनेक विभेदों के बावजूद नगरों को गांवों से काट कर नहीं देखा जा सकता क्योंकि नगर गांवों की ही विकसित अवस्था हैं। इस कारण समाजशास्त्र में ग्रामीण-नगरीय सातत्य की अवधारणा है। संचार माध्यमों तथा तकनीक के सुलभ होने के बाद से कई क्षेत्रों में गांवों और नगरों के बीच का अंतर कम हुआ है। महानगरों के विस्तार के कारण

उपनगर विकसित होते हैं जहाँ अधिकतर रोजगार के लिए महानगर पर निर्भर परिवार निवास करते हैं। अतः इन क्षेत्रों के निवासी नगरीय और ग्रामीण समाज की मिलीजुली संस्कृति अपनाते हैं। यहाँ तक कि गांवों के नगरीकरण की प्रवृत्ति भी देखी जा रही है। वहीं दूसरी ओर आज नगरीय जीवन पूर्ण रूप से नगरीय न होकर ग्रामीण मूल्यों से प्रभावित जीवन है। ग्राम्य नगरीकरण के कारण नगरीय संस्कृति का विस्तार हो रहा है क्योंकि नगरीय प्रभाव के कारण लोग नगर के भाषा, मूल्य, जीवन विधि इत्यादि को अपना लेते हैं तथा ग्रामीण मूल्यों, परंपराओं, रीति रिवाजों एवं जीवन विधि को त्याग देते हैं। समाजशास्त्री चार्ल्स योशियाह गाल्पिन ने इस प्रकार के ग्रामीण संस्कृति से प्रभावित नगरों को **ग्राम्य नगर(Rurban)** कहा है। नगरों की परिधि के तथा निकट के गांवों में भी इसी प्रकार का मिश्रित समाज देखने को मिलता है। नगरों के निकट ये गाँव नगर को अपनी संस्कृति से प्रभावित करते हैं तथा उनसे प्रभावित होते भी हैं।

साहित्यकारों की दृष्टि में महानगर

- संसार से तात्पर्य अब, असल में, दुनिया के पाँच सात महानगरों से है। जो मत इन पाँच-सात महानगरों में मान्य होता है, वही मत अब मानवता का मत समझा जाता है। लड़ाईयां इन पाँच-सात महानगरों के षड्यंत्र और द्वेष से उत्पन्न होती हैं। शांति का नारा भी उन्हीं महानगरों की क्लान्ति का उच्छ्वास है।⁵⁵
-रामधारी सिंह 'दिनकर', शुद्ध कविता की खोज
- “आसमान की अपनी भाषा है, पहाड़ों की भी अपनी एक भाषा है और दरख्तों की तो कोई भी आधी रात को उठकर आपस में सुख-दुख की कथा कहते हुए सुन सकता है। परंतु यह महानगर चीखता भर है। यह भाव नहीं जानता, संवेदन नहीं जानता, इसी से भाषा नहीं जानता।”⁵⁶ -कुबेरनाथ राय
- “भव्यता के रचे गए मिथकों और जीवन की अर्थवत्ता के बीच जो खाई है उसने आधुनिक शहरों को मायावी शहर बना दिया है। हर बड़े महानगरीय कवि ने इस खाई को अपनी निजी स्मृतियों, आशा-आकांक्षाओं, असमंजसों, बिखरावों, सुख-दुखों, स्वप्नों और अवचेतन के रंगों से भरना चाहा है।”⁵⁷
-विजय कुमार
- “महानगर संस्कृति के नहीं सभ्यता के प्रतीक हैं।”⁵⁸ -हरिभाऊ उपाध्याय
- ‘महानगर’ न आस्था का सूर्य है न अनास्था का ‘ग्रहण’। वह केवल ‘वर्तमान’ के भदे चेहरे से हमें चिढ़ाता है। हमारे अतीत को विकृत करता हुआ।⁵⁹ - गंगा प्रसाद विमल
- महानगर में अपरिचय का बोझ इतना भारी रहता है कि महानगरवासियों के मन के कंधे झुके-झुके रहते हैं।⁶⁰ - विनोद दास
- प्रजातंत्र और धर्मनिरपेक्षता निस्संदेह महानगर की देन हो सकती है क्योंकि मत-मतान्तरों, धर्म और मजहब तथा वेशभूषा, भाषा और संस्कृति का जो संगम हमें किसी महानगर में दिखाई देगा वह अन्यत्र नहीं। और इन्हीं अर्थों में प्रजातंत्र और धर्मनिरपेक्षता की जैसी उपयोगिता और अनिवार्यता एक महानगर के जीवन में अनुभव की जाती है वैसी अन्यत्र नहीं।⁶¹ -सेठ गोविन्ददास
- साथियों रात आयी, अब मैं जाता हूँ/ इस आने जाने का वेतन पाता हूँ

जब आँख लगे तब सुनना धीरे-धीरे/ किस तरह रात भर बजती हैं जंजीरें⁶² -केदारनाथ सिंह

- महानगर आंतरिक अकेलापन तो दे देता है किंतु एकांत नहीं देता। परिणामस्वरूप मनुष्य तत्काल उपयोगिता वाली दृष्टि और कलाओं की ओर बढ़ने लगता है। दुनिया के सभी महानगरों में पिछले सौ वर्षों से यही हो रहा है।⁶³ -कैलाश वाजपेई

संदर्भ सूची:-

- ¹ सिंह, वी.एन. तथा सिंह, जनमेजय, नगरीय समाजशास्त्र, रावत पब्लिकेशन, जयपुर, 2020, पृष्ठ सं. 20
- ² डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ सं. 411
- ³ डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ सं. 411
- ⁴ जोशी, डॉ. अरविंद कुमार, भारत में नगरीय समाज, उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज, 2019, पृष्ठ सं. 7
- ⁵ जोशी, डॉ. अरविंद कुमार, भारत में नगरीय समाज, उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज, 2019, पृष्ठ सं. 8
- ⁶ तिवारी, श्वेता(संपादक), भारतीय समाज, ओरियंट ब्लैकस्वान, नई दिल्ली, 2014, पृष्ठ सं. 219
- ⁷ राय, कुबेरनाथ, ज्ञानोदय(महानगर विशेषांक), नवंबर, 1966, कलकत्ता, रमेश बक्षी, पृष्ठ सं. 258
- ⁸ जोशी, डॉ. अरविंद कुमार, भारत में नगरीय समाज, उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज, 2019, पृष्ठ सं. 125
- ⁹ विश्व इतिहास के कुछ विषय, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली, पृष्ठ सं. 126
- ¹⁰ विश्व इतिहास के कुछ विषय, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद्, नयी दिल्ली, पृष्ठ सं. 127
- ¹¹ लेविस ममफोर्ड
- ¹² श्रीनिवास, एम.एन., आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996, पृष्ठ सं. 40
- ¹³ शर्मा, अनिल अश्विनी, अतीत में जीते आज के भारत का दस्तावेज, डाउन टू अर्थ, अगस्त 2023, पृष्ठ सं.-55, उद्धृत- शेड्यूलड कास्ट्स इन द इंडियन लेबर मार्केट(लेखक- सुखदेव थोरात, एस मधेस्वरन, बी पी वानी)
- ¹⁴ सिन्हा, सच्चिदानंद, जिंदगी सभ्यता के हाशिये पर, अभिव्यंजना प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ सं. 94-95
- ¹⁵ सिंह, भगवान, भारतीय साभ्यता की निर्मिति, भगवान सिंह, फरीदाबाद, हरियाणा, 2007, पृष्ठ सं. 69
- ¹⁶ सिंह, भगवान, भारतीय साभ्यता की निर्मिति, भगवान सिंह, फरीदाबाद, हरियाणा, 2007, पृष्ठ सं. 188
- ¹⁷ श्रीनिवास, एम.एन., आधुनिक भारत में सामाजिक परिवर्तन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 1996, पृष्ठ सं. 52
- ¹⁸ दास, विनोद, सुखी घर सोसाइटी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022, पृष्ठ सं. 158-159
- ¹⁹ भारत: लोग और अर्थव्यवस्था, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद, नई दिल्ली, उद्धृत- भारत की जनगणना, 2011
- ²⁰ वर्मा, धनंजय, एक महानगर कंधे पर, ज्ञानोदय, नवंबर, 1966, कलकत्ता, संपादक- रमेश बक्षी, पृष्ठ सं. 186
- ²¹ बक्षी, रमेश, ज्ञानोदय, नवंबर, 1966, कलकत्ता, संपादक- रमेश बक्षी, पृष्ठ सं. 15
- ²² पृष्ठ सं. 24, कास्ट एंड रेस इन इंडिया, 1932, जी. एस. घुर्ये
- ²³ पृष्ठ सं. 142, प्रॉब्लम्स ऑफ इंडिया, 1940, के.एस.शेलवंकर
- ²⁴ पृष्ठ सं.319, भारतीय इतिहास के कुछ विषय, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसन्धान और प्रशिक्षण परिषद्
- ²⁵ भारत में उपनिवेशवाद और राष्ट्रवाद, संपादक- डॉ. सत्या एम राय, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली
- ²⁶ मॉडर्न इंडिया 1885-1947, सुमित सरकार, मैकमिलन, मद्रास
- ²⁷ सिन्हा, सच्चिदानंद, जिंदगी सभ्यता के हाशिये पर, अभिव्यंजना प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ सं. 80
- ²⁸ अपूर्वानंद, भारतीय महानगर: महज़ आकार बड़े या दिल भी, बीबीसी हिंदी, 16 फरवरी, 2014,
https://www.bbc.com/hindi/india/2014/02/140216_racism_modi_malala_delhi_vs
- ²⁹ सिन्हा सच्चिदानंद, भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003, पृष्ठ सं. 150
- ³⁰ सिन्हा सच्चिदानंद, भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003, पृष्ठ सं. 150

- ³¹ अर्बन सोशियोलॉजी, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली, 2017, पृष्ठ सं. 172, उद्धृत- अर्बन सोशियोलॉजी इन इंडिया: रीडर एंड सोर्स बुक, संपादक- एम.एस.ए. राव, 1974
- ³² अर्बन सोशियोलॉजी, इंदिरा गाँधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली, 2017, पृष्ठ सं. 172, उद्धृत- अर्बन सोशियोलॉजी इन इंडिया: रीडर एंड सोर्स बुक, संपादक- एम.एस.ए. राव, 1974
- ³³ बटरोही, लक्ष्मण सिंह बिष्ट, कहानी: संवाद का तीसरा आयाम, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1983, पेज सं. 20
- ³⁴ बटरोही, लक्ष्मण सिंह बिष्ट, कहानी: संवाद का तीसरा आयाम, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 1983, पेज सं. 34
- ³⁵ सिंह, वी.एन, सिंह, जनमेजय, नगरीय समाजशास्त्र, रावत प्रकाशन, जयपुर, 2015, पृष्ठ सं. 173
- ³⁶ आहूजा, राम, सामाजिक समस्याएं, रावत प्रकाशन, जयपुर, 2014, पृष्ठ सं. 41
- ³⁷ यादव, उत्तरा, (संपादक), ग्रामीण-नगरीय समाजशास्त्र, ओरियंट ब्लैकस्वान प्राइवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 2014, उद्धृत- उत्तर प्रदेश स्लम एरियाज एक्ट 1962, पृष्ठ सं. 303
- ³⁸ दास, विनोद, सुखी घर सोसाइटी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022, पृष्ठ सं. 7
- ³⁹ तिवारी, प्रो. जयकांत, भारत में नगरीय समाज, उत्तर प्रदेश राजर्षि टंडन मुक्त विश्वविद्यालय, प्रयागराज, 2017, पृष्ठ सं. 174
- ⁴⁰ संपादकीय, डाउन टू अर्थ, जनवरी 2023, (सं. सुनीता नारायण), नयी दिल्ली, पृष्ठ सं. 09
- ⁴¹ चौबे देवेन्द्र, समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2001, पृष्ठ सं. 42
- ⁴² डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ सं. 24, उद्धृत- अस्तित्व और काल- मार्टिन हाईडेगर
- ⁴³ सिन्हा, सच्चिदानंद, जिंदगी सभ्यता के हाशिये पर, अभिव्यंजना प्रकाशन, नयी दिल्ली, पृष्ठ सं. 10
- ⁴⁴ डॉ. अमरनाथ, हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2009, पृष्ठ सं. 24
- ⁴⁵ चौबे देवेन्द्र, समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2001, पृष्ठ सं. 38-39
- ⁴⁶ मैथ्यूज, डेविड, पूंजीवाद और मानसिक स्वास्थ्य, (अनुवाद- दिगंबर), गार्गी प्रकाशन, दिल्ली, 2021, पृष्ठ सं. 13
- ⁴⁷ सिन्हा सच्चिदानंद, भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003, पृष्ठ सं. 142
- ⁴⁸ हरे-भरे शहर में अपराध दर कम, चार्ली शैकलटन, एंड्रयू फॉल, ग्रेगरी ब्रीजके, ईयन एडेलस्टीन और जांडर वेंटर, डाउन टू अर्थ, नयी दिल्ली, सं. सुनीता नारायण, जनवरी 2023, पृष्ठ सं. 43
- ⁴⁹ पक्के घर की पीड़ा, कुशाग्र राजेंद्र और विनीता परमार, डाउन टू अर्थ, नयी दिल्ली, सं. सुनीता नारायण, अगस्त 2023, पृष्ठ सं. 47
- ⁵⁰ नगरीय ठोस अपशिष्ट, डाउन टू अर्थ, नयी दिल्ली, सं. सुनीता नारायण, जून 2023, पृष्ठ सं. 40
- ⁵¹ नागपाल, सरिता, असंगठित कामगार: मुद्दे और चुनौतियाँ, लोक सभा सचिवालय, शोध एवं सूचना प्रभाग, दिसंबर, 2014
- ⁵² दुबे, अभय कुमार (संपादक), भारत का भूमंडलीकरण, वाणी प्रकाशन तथा विकासशील समाज अध्ययन पीठ, नयी दिल्ली, 2007, पृष्ठ सं. 309
- ⁵³ बे देवेन्द्र, समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2001, पृष्ठ सं. 83
- ⁵⁴ सिन्हा सच्चिदानंद, भूमंडलीकरण की चुनौतियाँ, वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2003, पृष्ठ सं. 206
- ⁵⁵ दिनकर, रामधारी सिंह, शुद्ध कविता की खोज, लोकभारती प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2019, पृष्ठ सं. 213,
- ⁵⁶ राय, कुबेरनाथ, ज्ञानोदय (महानगर विशेषांक), नवंबर, 1966, कलकत्ता, रमेश बक्षी, पृष्ठ सं. 258
- ⁵⁷ कुमार विजय, शहर जो खो गया है, सेतु प्रकाशन, नोएडा, 2023, पृष्ठ सं. 40
- ⁵⁸ उपाध्याय, हरिभाऊ, ज्ञानोदय (महानगर विशेषांक), नवंबर, 1966, कलकत्ता, रमेश बक्षी, पृष्ठ सं. 299

⁵⁹ विमल गंगाप्रसाद, महानगर किसका? वर्तमान के भेदे चेहरे का, ज्ञानोदय, नवंबर, 1966, कलकत्ता, संपादक- रमेश बक्षी, पृष्ठ सं. 298

⁶⁰ दास, विनोद, सुखी घर सोसाइटी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2022, पृष्ठ सं. 139

⁶¹ सेठ, गोविन्ददास, महानगर: बहुत कुछ छोड़ना होगा..., ज्ञानोदय, नवंबर, 1966, कलकत्ता, संपादक- रमेश बक्षी, पृष्ठ सं. 298

⁶² सिंह, केदारनाथ, प्रतिनिधि कवितायें, (संपादक- परमानंद श्रीवास्तव, अनिल त्रिपाठी), राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, 2015, पृष्ठ सं. 105

⁶³ वाजपेई कैलाश, महानगरों की एक ही परिणति: कूड़ा, ज्ञानोदय, नवंबर, 1966, कलकत्ता, संपादक- रमेश बक्षी, पृष्ठ सं. 315

हिंदी कथा साहित्य में महानगरीय यथार्थ

महानगरी में व्याप्त समस्याएँ प्रेमचंद के हिन्दी कथा साहित्य में उभरने से पहले ही विकराल रूप धारण कर चुकी थीं किन्तु उनको साम्राज्यवादी शोषण का ही हिस्सा मानकर अलग से लक्षित नहीं किया जा सका। अन्य संभावित कारण ये भी हैं कि उस समय तक पूँजी और बाजार का अराजक हस्तक्षेप न होने के कारण एक सीमित वर्ग ही महानगरीय समस्याओं से प्रभावित था तथा तब तक हिन्दी कथा-साहित्य में सामाजिक जागरण की चेतना से परिचालित उपदेशप्रधान, सुधारवादी तथा मनोरंजन की प्रवृत्ति की ही प्रधानता थी। प्रेमचंद द्वारा साहित्य की सामाजिक भूमिका तथा साहित्यकारों के दायित्व को स्थापित करने के बाद जनसरोकारों की अभिव्यक्ति साहित्य में होने लगी। महानगरों का संघर्षपूर्ण जीवन भी हिन्दी कथा साहित्य में चित्रित होना प्रारम्भ हुआ।

प्रेमचंद के पश्चात हिन्दी कथा-साहित्य का विकास, मनोवैज्ञानिक, समाजवादी, ऐतिहासिक तथा आंचलिक आदि अनेक धाराओं में हुआ किन्तु कमोबेश सभी धाराओं में महानगरीय बोध का चित्रण यथार्थपरक ढंग से हुआ। स्वतंत्र भारत में जैसे-जैसे महानगरों का विकास हुआ, साहित्य में नगरीय जीवन का चित्रण भी उत्तरोत्तर बढ़ता रहा। नई कहानी के केंद्र में भी शहरीकरण से उपजे संकट-विषमता, पूँजीवाद, सांस्कृतिक अवमूल्यन ही रहे। कमलेश्वर ने इस संबंध में लिखा है- “नई कहानी ने संयुक्त परिवार के ह्रास, नौकरी पेशा व शहरीकृत महत्वाकांक्षी नए मध्यवर्ग का उदय, शहरीकरण और पूँजी के बढ़ते वर्चस्व और बढ़ती आर्थिक-सामाजिक विषमता को खास तौर से रेखांकित किया। शहरीकरण और पारिवारिक विघटन के कथ्य भी सामने आए। नए कहानीकारों के तर्क के मुताबिक आजादी के बाद जिस प्रकार शहरी मध्यवर्ग की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई, उसी प्रकार उसकी समस्याओं का घनत्व भी उसी अनुपात में बढ़ता गया। इन स्थितियों के प्रमाणिक स्वर उस दौर की कहानियों में मौजूद हैं।” सत्तर और अस्सी के दशक के लगभग सभी महत्वपूर्ण कथाकारों ने महानगरीय जीवन को केंद्र में रख कहानियाँ अथवा उपन्यास लिखे। 1990 के दशक में कई बड़े आर्थिक-राजनीतिक परिवर्तन देश तथा दुनिया में घटित हुए। साम्यवाद का पराभव हुआ तथा उदारीकरण की नीतियाँ परवान चढ़ीं। हिंदी कहानी की सुदीर्घ यात्रा में नई कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, समान्तर कहानी, जनवादी कहानी जैसे आंदोलन चले। किंतु अस्सी के दशक के बाद से हिंदी साहित्य में कोई बड़ा आंदोलन नहीं हुआ। इन चार दशकों से अधिक की कालावधि में भूमंडलीकरण सबसे बड़ी घटना है, जिससे विश्व का सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक परिदृश्य तो प्रभावित हुआ ही है, साहित्य पर भी इसका गहरा असर पड़ा है। इस कारण भूमंडलीकरण के बाद के समय की हिंदी कहानी को भूमंडलोत्तर हिंदी कहानी कहा गया है। महानगरीय जीवन तथा उसकी समस्याओं, जटिलताओं पर केन्द्रित हिंदी कथा साहित्य के विस्तृत विश्लेषण से पूर्व संक्षेप में इसकी पृष्ठभूमि को जानना उपयुक्त होगा।

2.1 हिंदी कथा साहित्य में महानगरीय यथार्थ के चित्रण की पृष्ठभूमि

भारत में औद्योगिक आधार पर अर्थकेंद्रित पूंजीवादी नगरों का उदय उन्नीसवीं शती के मध्य में हुआ। इसी समय अंग्रेजों ने अन्य सभी उपनिवेशवादियों को भारत से खदेड़कर इस उपमहाद्वीप के अधिकतर हिस्सों पर अपना आधिपत्य सुनिश्चित कर लिया। वर्चस्व की स्थिति में आने के बाद उन्होंने देश के संसाधनों का नृशंस दोहन प्रारम्भ कर दिया तथा अर्थव्यवस्था, सामाजिक, राजनीतिक व्यवस्था, संस्कृति, शिक्षा आदि सभी कुछ उपनिवेशवादियों की हितपूर्ति का साधन बना दिया गया। भारतीय गांवों तथा नगरों की अर्थव्यवस्था का आधार माने जाने वाले कुटीर उद्योग धंधों को सुनियोजित तरीके से तहस-नहस किया गया तथा उन्हें तैयार माल की खपत मंडी बनाए जाने की प्रक्रिया शुरू हुई। विश्वप्रसिद्ध विचारक कार्ल मार्क्स ने अंग्रेजों द्वारा भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था के विध्वंस पर 1853 लेखों की श्रृंखला लिखी थी। अपने एक लेख में वे लिखते हैं कि- “इसमें संदेह नहीं कि उन असंख्य, मेहनती, निरीह सामाजिक संगठनों का इस तरह टूटना और बिखर जाना और दुखों के समुद्र में डूबने और तैरने लगना तथा उनके व्यक्तिगत सदस्यों का अपनी प्राचीन सभ्यता के साथ-साथ जीविका कमाने के पुश्तैनी साधनों को भी खो बैठना- ये ऐसी घटनाएँ हैं जिन्हें देखकर मनुष्य का हृदय शोक में डूब जाता है।...इंग्लैंड के विज्ञान ने सारे हिंदुस्तान में कृषि और शिल्प उत्पादन के रिश्ते को हमेशा के लिए खत्म कर डाला है।”²

इसके साथ ही अनाज तथा अन्य परंपरागत फसलों के स्थान पर कपास, जूट, रबड़, चाय तथा कॉफी आदि की व्यावसायिक खेती को बढ़ावा देकर एशिया के सबसे अधिक खाद्यान्न समृद्ध देश भारत को इस स्थिति में पहुँचा दिया गया कि उसकी दो-तिहाई आबादी भुखमरी का शिकार होने लगी। परिणामस्वरूप किसान, नगरों की ओर भागने को मजबूर हुए तथा अंग्रेजों द्वारा स्थापित उद्योगों के लिए सस्ती श्रम शक्ति का स्रोत बने। इस प्रकार औपनिवेशिक शासन द्वारा पैदा की गई परिस्थितियों में महानगरों का विकास हुआ। इन्हीं महानगरों में अधिकांश औद्योगिक तथा वाणिज्यिक पूंजी और श्रमशक्ति केन्द्रित होती गई और वे देश के अन्य छोटे नगरों से बहुत आगे निकल गए। तेज गति से हुए इन आर्थिक तथा सामाजिक परिवर्तनों से महानगरों में दो वर्ग निर्मित हुए। एक वर्ग उन लोगों का था जो उत्पादन साधनों के स्वामी थे और विलासितापूर्ण जीवन जीते थे तथा दूसरा वर्ग उन लोगों का था जो परिस्थितिवश, बहुत कम परिश्रमिक पर बिना शर्त कारखानों में खटने को बाध्य थे तथा कारखानों के आसपास गंदी-अंधेरी बस्तियों में रहते थे। इस प्रकार महानगरों में स्पष्ट रूप से निर्मित दो वर्गों में समय के साथ-साथ खाई बढ़ती गई जो आज भी विद्यमान है। कालांतर में जातिवादी भावनाओं के उभार के कारण महानगरों में जाति के आधार पर बस्तियों की बसाहट शुरू हुई। जाति के आधार पर बसी इन बस्तियों में अनेक बार परस्पर हिंसक टकराव भी देखने को मिलता है। महानगरीय समाज के इस वर्ग विभेद तथा अन्य समस्याओं पर प्रेमचंद के समकालीन और उनके बाद के लेखकों ने प्रचुर मात्रा में साहित्य सृजन किया।

बीसवीं शती के पांचवें दशक में भारत तथा विश्व के इतिहास में अनेक ऐसी घटनाएँ हुईं जिन्होंने मशीनीकरण, औद्योगीकरण और वर्चस्व प्राप्ति के लिए राष्ट्रों की आपसी प्रतिद्वंद्विता के घातक परिणामों को सबके

सामने उजागर किया। द्वितीय विश्वयुद्ध में 6 करोड़ से अधिक लोगों की मृत्यु हुई है तथा अमेरिका द्वारा धुरी राष्ट्रों की ओर से लड़ रहे जापान के शहरों हिरोशिमा तथा नागासाकी पर बम गिराकर मानव इतिहास को कलंकित करने वाली घटना को अंजाम दिया गया। द्वितीय विश्वयुद्ध में ब्रिटेन के भी शामिल होने कारण भारत में दैनिक उपभोग की वस्तुएँ आसमान छूने लगीं। निरंकुश कालाबाजारी और भ्रष्टाचार की परिणति 1943 के बंगाल के अकाल के रूप में हुई। 1945 में युद्ध समाप्त होने के बाद की परिस्थितियों से बेरोजगारी, मंहगाई और अन्नसंकट की समस्या पैदा हो गई। इससे महानगरों में रहने वाले सम्पन्न लोगों और गरीबों के बीच की खाई और चौड़ी हो गई। यद्यपि इस आर्थिक मंदी ने सभी को प्रभावित किया किंतु सबसे बड़े भुक्तभोगी नीचे, मध्यम और श्रमिक वर्ग के लोग थे जो बेकारी का शिकार हुए और किसान, जिन्हें अपनी उपज बहुत कम कीमत पर बेचनी पड़ी। इन सब घटनाओं ने साहित्यकारों को यथार्थ की ठोस जमीन पर लाकर खड़ा कर दिया और हिंदी साहित्य को एक नई दिशा मिली। स्वतन्त्रता के बाद महानगरों के परिवेश पर केंद्रित साहित्य बड़ी मात्रा में लिखा जाने लगा। इसके दो प्रमुख कारण निम्न हैं-

1. स्वतन्त्रता के बाद गाँव, कस्बों और छोटे नगरों में रहने वाले लोग अपेक्षाकृत बेहतर जीवन की आकांक्षा से बड़ी मात्रा में महानगरों में आए। इनमें लेखक, पत्रकार, कलाकार, बुद्धिजीवी, राजनीतिज्ञ, व्यवसायी आदि सभी शामिल थे।
2. स्वतंत्र भारत के महानगरों की दुर्दशा को देखकर लोगों को इस बात का एहसास हो गया कि वर्ग-विभेद की जड़ें औपनिवेशिक सत्ता के साथ-साथ पूंजी के असमान वितरण में भी व्याप्त हैं।

स्वतंत्र भारत में कृषि पर निर्भरता कम होती गई। प्रथम प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने बांधों, सड़कों एवं संस्थाओं का निर्माण कराया और औद्योगीकरण को गति दी। विकासवाद की चेतना से सम्पन्न भारतीय सुविधापूर्ण जीवन की इच्छा में शहरों की ओर पलायन कर गए। शहरों में यातायात तथा दैनिक सुविधाओं के कारण जो प्रतिष्ठान विकसित हुये इससे साहित्य, संस्कृति, सेवाओं, उद्यमों आदि का केन्द्रीकरण हुआ और वे शहरों तक केन्द्रित होते चले गए। सरकारों ने भी इस ओर उदासीनता ही बनाए रखी। जहां शहर आधुनिक प्रौद्योगिकी से लैस होते गए वहीं गाँव, कस्बों तथा छोटे शहरों में मूलभूत ढांचागत सुविधाओं का अभाव लोगों को खटकने लगा। परिणामस्वरूप गाँव, कस्बों से तो लोगों ने पलायन किया ही छोटे शहरों से भी लोग महानगरों में विस्थापित होते गए। आजादी के बाद आर्थिक सत्ता भी उन्हीं वर्चस्वशाली लोगों के हाथ में आई जो पहले से ही सत्ता प्रतिष्ठानों से जुड़े हुए थे। अतः राजनीतिक प्रभाव के कारण भी राज्यों की राजधानियाँ बड़े नगरों के रूप में विकसित हुईं। ये महानगर मात्र भौतिक विकास और सत्ता के ही केंद्र नहीं रहे बल्कि समस्याओं के केंद्र भी बनते रहे। इन समस्याओं की झलक हिंदी कथा साहित्य में दिखाई पड़ती रही है। नगरीय जीवन पर केंद्रित कुछ आरंभिक उल्लेखनीय रचनायें हैं- **(क) उपन्यास-** झूठा सच(यशपाल), भूले बिसरे चित्र(भगवतीचरण वर्मा), बूँद और समुद्र(अमृत लाल नागर), यह पथ बंधू था(नरेश मेहता), सूरज का सातवाँ घोड़ा(धर्मवीर भारती), बड़ी-बड़ी आँखें, शहर में घूमता आईना(उपेन्द्रनाथ अशक), उखड़े हुए लोग(राजेंद्र यादव), तमस(भीष्म साहनी), उसका बचपन(कृष्ण बलदेव वैद्य), चाँदनी के खंडहर(गिरिधर गोपाल), एक चूहे की मौत(बदीउज्जमाँ), कुब्जा सुंदरी(ठाकुर प्रसाद), छोटी चंपा बड़ी चंपा(लक्ष्मी नारायण लाल), काली आंधी(कमलेश्वर),

अँधेरे बंद कमरे(मोहन राकेश), जुगलबंदी(गिरिराज किशोर), मुर्दाघर(जगदंबा प्रसाद दीक्षित) आदि। (ख) कहानी संग्रह- रेशमी, पंजाब की महारानी(पांडेय बेचन शर्मा 'उग्र'), रक्षाबंधन, चित्रकला(विश्वभर नाथ शर्मा 'कौशिक'), जुदाई की शाम का गीत(उपेन्द्र नाथ अशक), टीला, कच्चा धागा(द्विजेन्द्रनाथ झा 'निर्गुण'), सफर, नया रास्ता(पहाड़ी), अभिशप्त, भस्मावृत चिनगारी(यशपाल), संघर्ष के बाद, धरती अब भी घूम रही है(विष्णु प्रभाकर) आदि।

2.2 हिंदी कथा साहित्य में महानगरीय यथार्थ

2.2.1 प्रेमचंद पूर्व हिंदी कथा साहित्य में महानगरीय यथार्थ

प्रेमचंद पूर्व युग में रचा गया कथा साहित्य परिमाण तथा विधाओं के विकास के आरंभिक चरण की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस काल की कई कृतियाँ अधिक प्रौढ़ नहीं कही जा सकतीं किंतु वे अपने समय-समाज की झलक तो देती ही हैं। आलोचक रुस्तम राय ने इस काल के कथा साहित्य का मूल्यांकन करते हुए लिखे है- “कला की कसौटी पर ये रचनायें पूरी तरह खरी उतरती हैं। सच तो यह है कि इन कहानियों और उपन्यासों का महत्व इनकी कलात्मकता के लिए नहीं बल्कि इनमें निहित ऐतिहासिक, सामाजिक वास्तविकताओं और स्वाधीनता की चेतना को जनचेतना में रूपांतरित करने में है।”³ उपन्यास विधा का महानगरों से गहरा संबंध है। पूंजीवाद के विकास के साथ ही अनेक महानगरों के विकसित होने की शुरुआत भी हुई और एक साहित्यिक विधा के रूप में उपन्यास की भी। रामदरश मिश्र ने इस संबंध में लिखा है- “उपन्यास पूंजीवादी सभ्यता की देन है। पूंजीवादी सभ्यता के विविध जीवन-सत्यों को कथा के माध्यम से व्यक्त करने के लिए ही इसकी उत्पत्ति हुई है। यह मात्र कहानी नहीं है। कहानी यानी कथा तो इसका माध्यम मात्र है, मूल वस्तु है वर्तमान जीवन की जटिल यथार्थवादिता। जीवन-मूल्यों का संक्रमण, समाज के नए संबंधों की निर्मिति, उसके बीच उठते हुए अनेक प्रश्नों को भौतिक या वैज्ञानिक दृष्टिकोण से समझने की आकुलता, नवीन भौतिक सत्यों के बीच बनती हुई मानव-चरित्र की नई दिशाएं, ये सारी बातें मानो उपन्यास नामक विधा के माध्यम से फूट पड़ने के लिए आकुल थीं।”⁴

महानगरों के विकास से मानव बस्तियों के भूगोल में तो विस्तार हुआ बल्कि जीवन सत्य अधिक जटिल होता चला गया। इन जटिलताओं भरे मानवीय जीवन को उपन्यास विधा के माध्यम से यथार्थपरक ढंग से लोगों के सामने लाया गया। वैसे तो इस विधा का विकास पश्चिम में हुआ किंतु उन्नीसवीं सदी के अंत में ही बांग्ला तथा अन्य भारतीय भाषाओं में आधुनिक ढंग के उपन्यास लिखे जाने लगे। प्रेमचंद युग के पूर्व के लगभग चार दशकों में श्रद्धाराम फुल्लौरी, लाला श्रीनिवास दास, बालकृष्ण भट्ट, ठाकुर जगमोहन सिंह, लज्जाराम मेहता, किशोरीलाल गोस्वामी, अयोध्यासिंह उपाध्याय, राधाकृष्ण दास जैसे साहित्यकार सक्रिय रहे। इन लेखकों द्वारा रचित कई उपन्यास नगरीय तथा सामंती परिवेश की कथा कहते हैं। ‘परीक्षागुरू’ दिल्ली के अभिजात्य समाज तथा रईसों के भोग-विलास का चित्रण

करता है। उपन्यास की भूमिका में लेखक ने भाषा के विषय में भी लिखा है कि- इस पुस्तक की रचना ‘संस्कृत अथवा अरबी-फारसी के कठिन शब्दों की बनाई हुई भाषा के बदले दिल्ली के रहनेवालों की साधारण बोल-चाल में हुई है।’⁵ बालकृष्ण भट्ट का उपन्यास ‘नूतन ब्रह्मचारी’ भी परीक्षागुरु की परंपरा का ही उपन्यास है। ‘सौ अजान एक सुजान’ ऋद्धिनाथ और निधिनाथ की कथा कहता तत्कालीन अवध की संपन्नता तथा शहरों में पनपने वाले अनेक व्यसनों, जालसाजी आदि में लिप्त धनिक संतानों की दुर्दशा का उल्लेख भी करता है। ठाकुर जगमोहन सिंह के उपन्यास ‘श्यामा स्वप्न’ में जहाँ एक ओर मध्यकालीन प्रेम काव्यों में वर्णित दूती, सखी, गुप्तचर आदि का उल्लेख है वहीं तत्कालीन नगरीय जीवन भी चित्रित है। मात्र कथाभूमि के नयेपन के कारण ही नहीं, नए मूल्यों की स्थापना के प्रयास के रूप में भी इस उपन्यास को देखा जा सकता है। आलोचक रामचंद्र तिवारी ने इस उपन्यास के विषय में लिखा है- “काल्पनिक होते हुए भी ‘श्यामास्वप्न’ की कहानी ब्राह्मणकुमारी और क्षत्रियकुमार के प्रणय-संबंध की संभावना की ओर संकेत करके नव्य समाज की नवीन मान्यताओं का प्रतिनिधित्व करती है।”⁶ किशोरीलाल गोस्वामी प्रेमचंद पूर्व युग के सबसे बड़े लेखक माने जाते हैं। ‘लीलावती वा आदर्शसती’, ‘चपला व नव्यसमाज’, ‘स्वर्गीयकुसुम वा कुसुमकुमारी’, ‘पुनर्जन्म वा सौतियाडाह’ जैसे उनके उपन्यास खूब चर्चित रहे। इनके उपन्यास अपने पूर्ववर्ती लेखकों से कई सन्दर्भों में भिन्न हैं। इनमें स्त्री पात्रों की बहुलता, पीढ़ियों का टकराव, सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियाँ तथा अंधविश्वास का चित्रण है जो कथ्य को विस्तार तथा अधिक प्रासंगिकता प्रदान करता है। ‘स्वर्गीयकुसुम वा कुसुमकुमारी’ को वेश्याजीवन की समस्याओं को सामने लाने वाले पहले उपन्यास की मान्यता प्राप्त है। ‘ठेठ हिंदी के ठाट’ अपने भाषिक प्रयोगों तथा अनमेल विवाह के दुष्परिणामों को सामने लाने वाले उपन्यास के रूप में प्रसिद्ध हुआ।

कहानियों के संदर्भ में भी यह काल एक ठोस आधारभूमि का निर्माण करने में सफल रहा। आरंभिक कहानियों में बंग महिला की कहानी ‘दुलाई वाली’ उल्लेखनीय है। इस कहानी में नगरीय जीवन, मध्यवर्ग के अर्थाभाव आदि का चित्रण है। अपनी भाषा तथा कथ्य की बुनावट में हल्की-फुल्की प्रतीत होने पर भी यह गंभीर आशयों वाली कहानी है। किशोरीलाल गोस्वामी, राधिकारमण प्रसाद सिंह, वृन्दावन लाल वर्मा आदि लेखकों की भी कई कहानियाँ इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। यद्यपि इस काल की अनेक कहानियों पर अंग्रेजी कहानी का प्रभाव साफ़ दिखलाई पड़ता है तथा आलोचकों ने उनकी मौलिकता पर भी प्रश्न उठाये हैं तथापि ऐसी कहानियाँ भी इस काल में लिखी गयीं जिन्होंने कहानी विधा के लिए आगे का मार्ग प्रशस्त किया।

2.2.2 प्रेमचंद युगीन हिंदी कथा साहित्य में महानगरीय यथार्थ

प्रेमचंद युग में हिंदी कहानी का सही अर्थों में विकास हुआ। अंग्रेजी कहानी के प्रभाव से बाहर निकल हिंदी कहानी की अपनी भाषा, शैली का विकास हुआ और उचित दिशा मिली जिस पर, अब तक उसकी यात्रा जारी है। इस काल के अनेक लेखकों ने महानगरों की समस्याओं को अपनी रचनाओं में प्रमुखता से स्थान दिया। प्रेमचंद ने भी एकाधिक उपन्यास तथा अनेक कहानियों में महानगरीय जीवन तथा निम्नवर्ग की पीड़ा का चित्रण किया है। अपने

उपन्यास 'रंगभूमि' में उन्होंने खुलकर औपनिवेशिक सत्ता की अर्थकेंद्रित शोषणकारी नीतियों तथा गरीबों के विनाश के बल पर बढ़ते बेतहाशा औद्योगीकरण की निंदा की तथा साम्राज्यवाद और सामंतवाद के गठजोड़ को सभी समस्याओं की जड़ बताया। उपन्यास के नायक के रूप में उन्होंने एक ऐसे पात्र का सृजन किया जो फैक्ट्रियों के लिए गरीबों की ज़मीनों को हथियाने तथा विस्थापन के विरोध में डटकर खड़ा होता है। इस उपन्यास के संदर्भ में आलोचक प्रो. नवलकिशोर ने लिखा है कि- "प्रेमचंद ने किसानों के विस्थापन के दर्द को उस समय सुना जब उसे बिल्कुल नहीं सुना जा रहा था। विकास के नाम पर गरीबों का अपनी जमीन से बेदखली का सिलसिला आज और भयावह और क्रूर हो गया है। ऐसे में रंगभूमि विस्थापन की अमानवीयता के प्रतिरोध की प्रथम तथापि प्रबल हिन्दी आवाज़ है।"⁷ रंगभूमि के अतिरिक्त उनकी कई कहानियाँ भी महानगरीय जीवन से ही जुड़ी समस्याओं पर केन्द्रित हैं। इन कहानियों में 'राज्यभक्त', 'मुअम्मा', 'इस्तीफा', परीक्षा आदि के नाम लिए जा सकते हैं। प्रेमचंद साम्राज्यवाद और सामंतवाद को एक दूसरे का सहयोगी समझते थे और अपनी कहानियों में वे इनके गठजोड़ को उघाड़ते भी थे। इस प्रक्रिया में वे साम्राज्यवाद के सभी अंगों-उपांगों, जैसे- पुलिस, सरकारी कर्मचारी, जमींदार, पूंजीपति आदि की भूमिका को प्रशंस्कित भी करते थे। गोदान में वे किसानों के मजदूर बनते जाने और पूंजीवाद के बढ़ते वर्चस्व तथा उससे उत्पन्न संकटों की ओर ध्यान खींचते हैं। आलोचक नामवर सिंह ने लिखा है- "गोदान में गाँव और शहर दोनों को साथ रखने का मकसद है। साम्राज्यवाद का एक पाया सामंतवाद है, जमींदारों का पाया है; दूसरे पाये यानी पूंजीवाद का बड़ा विकास हो रहा था जिसके बारे में 'महाजनी सभ्यता' लेख प्रेमचंद ने लिखा था।...प्रेमचंद इस उभरते हुए पूंजीवाद को देख रहे थे और यह भी देख रहे थे कि इस पूंजीवाद का असर गाँव पर पड़ रहा था, गाँव अछूता नहीं रह गया था। किसान धीरे-धीरे खेत मजदूर में बदल रहा था और यह खेत-मजदूर गाँव छोड़कर शहर में जाकर औद्योगिक मजदूर बन रहा था।"⁸

प्रेमचंद के समकालीन लेखकों में पांडेय बेचान शर्मा 'उग्र' ने प्रकृतिवादी शैली में महानगरों के परिवेश और जनजीवन का यथार्थपरक वर्णन किया साथ ही उसकी विद्रूपताओं और विडंबनाओं को भी दर्ज किया। तत्कालीन गद्य की साहित्यिक भाषा से संगति न बैठ पाने तथा अत्यंत बेबाक अभिव्यक्ति के कारण उनका साहित्य उस समय आलोचकों द्वारा प्रशंसित नहीं हुआ किंतु उसने समाज की नग्न सच्चाई को लोगों के सामने ज्यों का त्यों प्रस्तुत किया। आलोचक गोपाल राय ने महानगरीय बोध पर केन्द्रित उनके साहित्य के संबंध में टिप्पणी की है- "प्रेमचंद की ही तरह, 'उग्र' की पृष्ठभूमि कमोबेश कस्बाई और नगरीय-महानगरीय थी। अंतर यह था कि प्रेमचंद कस्बों और नगरों-महानगरों में भटकते हुए भी गाँव की मिट्टी और जिंदगी से घनिष्ठ रूप से जुड़े हुए थे, जबकि 'उग्र' का ग्रामीण जिंदगी से जुड़ाव हाशिये पर था। प्रेमचंद की तुलना में 'उग्र' महानगरों से अधिक जुड़े हुए थे।"⁹ उनके उपन्यास 'दिल्ली का दलाल', 'चाकलेट', 'चंद हसीनों के खतूत', 'बुधुआ की बेटी', 'शराबी', 'सरकार तुम्हारी आँखों में' महानगरों के स्याह पहलू को उजागर करते हैं, जहाँ शोषित, निरादर का जीवन जी रहे लोग हैं, वेश्यावृत्ति का पेशा करने को मजबूर महिलाएं हैं। 'उग्र' ने लगभग 85 कहानियाँ लिखीं, जिनमें से अधिकतर औपनिवेशिक शासन के विरोध में लिखी गई कहानियाँ हैं, जिनकी कथाभूमि नगर है। 'वाह होली! वाह होली' कहानी में वे एक संपन्न तथा एक विपन्न

परिवार में होली मनाए जाने के अंतर को दिखाते हैं। 'दोजख की आग' में धर्म के नाम पर गरीब लोगों के शोषण का पर्दाफाश किया गया है। एक अन्य कहानी 'वीभत्स' का प्रमुख पात्र सुमेरा दो जून की रोटी के लिए इन्फ्लुएंजा से मृत्यु को प्राप्त हुए लोगों की लाश ढोता है, चोरी करता है और ऐसा ही गरीब जीवन जीते हुए ही एक दिन उसकी मृत्यु हो जाती है। प्रेमचंद के समकालीन लेखकों में विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक भी अत्यंत महत्वपूर्ण लेखक हैं। उनका उपन्यास 'माँ' नगरों में उन दिनों युवाओं के चारित्रिक पतन का कारण बनी समस्या वेश्यागमन पर केंद्रित है। साथ ही यह एक महिला के संघर्ष और समर्पण की कहानी भी है। 'प्रायश्चित', 'उद्धार', 'नर-पशु' जैसी कहानियां सेठ-जमींदारों द्वारा किए जाने वाले शोषण तथा पुरुष वर्चस्व वाले समाज में स्त्रियों की स्थिति पर केन्द्रित हैं। सुदर्शन भी इस युग के महत्वपूर्ण रचनाकार हैं। उनकी कहानियां आदर्शवाद की भावना से प्रभावित देशभक्ति तथा मानवीय मूल्यों की स्थापना करने वाली कहानियां हैं। 'अँधेरी दुनिया', 'गरीब की आत्मकथा', 'लोकाचार', 'घोर पाप', 'कवि की स्त्री' आदि कहानियां गरीबी-विषमता तथा स्त्री समस्याओं पर केंद्रित कहानियां हैं।

प्रेमचंद के साथ जयशंकर प्रसाद इस युग के प्रमुख लेखक माने जाते हैं। 1930 के दशक के अंत में उनके तीन कहानी संग्रह- 'प्रतिध्वनि', 'आकाशदीप', 'आँधी' प्रकाशित हुए। उनकी अनेक कहानियां ऐतिहासिक पात्रों तथा घटनाओं पर केंद्रित हैं जिनमें प्राचीन तथा मध्ययुगीन भारतीय नगरों का वर्णन है। इसके साथ ही बनारस नगर की पृष्ठभूमि पर भी कई कहानियां उन्होंने लिखीं। 'मधुआ', 'नीरा', 'बेड़ी', 'भिखारिन', 'बिसाती' आदि कहानियां निर्धन तथा अभावग्रस्त वर्ग की समस्याओं पर केंद्रित हैं। स्त्रियों पर केन्द्रित समस्याओं पर भी उन्होंने कई कहानियां लिखीं, प्रमुख रूप से देवदासी प्रथा तथा अन्य सामाजिक-धार्मिक रूढ़ियों की आड़ में शोषित हो रही स्त्री के मनोजगत का वर्णन बड़ी संवेदनशील दृष्टि से किया है। उनकी प्रसिद्ध कहानी 'ग्राम' के विषय में लिखते हुए आलोचक अजय तिवारी ने लिखा है- "मनुष्य की यह आंतरिकता रोमान की विशेषता है। प्रसाद इस आंतरिकता को बाह्यजगत से निरपेक्ष नहीं मानते। इसलिए उनका आदर्शमूलक रुझान जीवन की समस्याओं और विषमताओं से उदासीन नहीं है। बल्कि वह प्रेमचंद की तरह मनुष्य की उच्च वृत्तियों को, उसके देवत्व को प्रतिष्ठित करने का साधन है।"¹⁰

इस काल के अन्य महत्वपूर्ण कथाकारों में शिवपूजन सहाय, चंडी प्रसाद 'हृदयेश', विनोद शंकर व्यास, भगवती प्रसाद वाजपेई आदि लेखकों के नाम लिए जा सकते हैं। भगवती प्रसाद वाजपेई के उपन्यास 'अनाथ पत्नी', 'त्यागमयी', 'प्रेमपथ' नारी जीवन की समस्याओं पर केन्द्रित हैं। मनोजगत का सूक्ष्म विश्लेषण तथा जीवन सत्य की जटिलताओं को यथार्थपरक दृष्टि से उद्घाटित करने के कारण उनके उपन्यास महत्वपूर्ण माने जाते हैं। ठीक यही प्रवृत्ति उनकी कहानियों में भी देखी जा सकती है। चतुरसेन शास्त्री ने भी प्रचुर मात्रा में कथा साहित्य का सृजन किया। ऐतिहासिक विषयों के साथ-साथ सामयिक घटनाओं को भी उन्होंने अपनी कहानियों का विषय बनाया। उनकी कई कहानियों पर अप्रमाणिक ऐतिहासिक घटनाओं पर केंद्रित होने के आरोप भी लगे किंतु अनेक कहानियों को औपनिवेशिक शासन की ज्यादातियों के खिलाफ लिखी गयीं उत्कृष्ट कहानी भी माना गया।

2.2.3 प्रेमचंदोत्तर युगीन हिंदी कथा साहित्य में महानगरीय यथार्थ

प्रेमचंद की जनोन्मुखी कथाधारा को आगे बढ़ाने वालों में यशपाल उल्लेखनीय हैं। युवावस्था में अंग्रेजों के खिलाफ सशस्त्र क्रांति में शामिल रहे यशपाल आजीवन साम्राज्यवाद का विरोध तथा पूँजीपतियों के शोषण की चक्की में पीस रहे वंचितों, शोषितों की हिमायत करते रहे। उनके उपन्यास झूठा-सच के प्रथम भाग (वतन और देश) में आजादी मिलने के ठीक बाद के और दूसरे भाग (देश का भविष्य) में आजादी के बाद के वर्षों की दिल्ली के परिवेश का चित्रण हुआ है। भारत विभाजन के बाद शरणार्थियों के आने पश्चात दिल्ली में किस तरह समस्याएं बढ़ीं, इसका वर्णन उन्होंने विस्तार से किया। उस समय जनसंख्या के अचानक बढ़ जाने के कारण लाभ के अवसर देख किस तरह के नए व्यवसाय आरम्भ हुए, इसको भी एक स्थान पर वे बताते हैं। वतन और देश में दिल्ली में अवसरों की तलाश में देशभर से आए पत्रकारों, लेखकों तथा बुद्धिजीवियों और विकृत होती नौकरशाही का चित्रण किया है। गवाही, गुडबाई दर्देदिल, महादान, नई दुनिया आदि वर्गचेतना से परिपूर्ण कहानियाँ भी नगरीय जीवन की समस्याओं को उकेरती हैं। 'गवाही' कहानी का पति स्वयं तो स्त्री-पुरुषों की मिश्रित ब्रिज पार्टियों में हिस्सा लेना अपना अधिकार समझता है किंतु पत्नी को वैसी ही पार्टी में देखकर उसकी हत्या को तत्पर हो जाता है। गुडबाई दर्देदिल में एक हाथरिक्षा खींचने वाला कुली रिक्षा खींचते-खींचते थककर सड़क पर बेहोश होकर गिर जाता है। रिक्षे पर सवारी करने वाले दो संवेदनहीन युवा कुली के बेहोश होने पर दूसरे रिक्षे से चले जाते हैं और रिक्षे का किराया भी नहीं देते। इस प्रकार उन्होंने महानगरीय जीवनशैली में व्याप्त उपेक्षाभव, स्वार्थ तथा निष्ठुरता को बड़े मार्मिक रूप में उजागर किया है। 'नई दुनिया' मिल मालिकों और मजदूर संघ के संघर्ष पर आधारित कहानी है।

महानगरों के जीवन को निकट से देखने वाले लेखकों ने साहित्य में उसका यथार्थपरक वर्णन किया। भगवतीचरण वर्मा ने अपने उपन्यास 'आखिरी दांव' में महानगरों की मशीनी ज़िंदगी और अर्थसंकोच से कसमसाते जीवन का चित्रण किया है। मुंबई में बेहतर जीवन की इच्छा से आए रामेश्वर और चमेली को अवसाद और मानसिक अशांति के दौर से गुजरना पड़ता है। इस उपन्यास में लेखक ने आर्थिक तंगी से मुक्त होने की लालसा में लोगों के जुएँ, सट्टे जैसे व्यसनों में फँस जाने का भी वर्णन किया है। उनका एक अन्य उपन्यास अपने खिलौने (1957) भी दिल्ली के महानगरीय जीवन पर केन्द्रित है। उदयशंकर भट्ट का 1955 में प्रकाशित उपन्यास सागर, लहरें और मनुष्य मुंबई के मछुआरों के जीवन की व्यथा-कथा को बड़ी तलखी के साथ उजागर करता है। स्वातंत्र्योत्तर भारतीय महानगरीय परिवेश के संघर्ष तथा तज्जन्य निराशा और कुंठा को अपने कथा साहित्य के माध्यम से उद्घाटित करने में मोहन राकेश को खासी सफलता मिली है। 1961 में प्रकाशित उनका उपन्यास 'अंधेरे बंद कमरे' पाँचवें दशक की दिल्ली का प्रामाणिक वृत्त उपलब्ध करता है। अपने उपन्यासों में मोहन राकेश ने महानगरीय जीवन की घुटन, दांपत्य जीवन की विडंबनाओं तथा पत्रकारों, लेखकों की अंदरूनी ज़िंदगी का वर्णन अनुभव और संवेदना की गहराई के साथ किया है।

उनका दूसरा उपन्यास 'न आने वाला कल' (1968) भी परिवेश की संवेदनशून्यता और संबंधों में तनाव पर केन्द्रित है। महानगरों में देश के भिन्न-भिन्न हिस्सों से जीविका की तलाश में आने वाले लोगों का एक बहुत बड़ा भाग मध्यवर्ग का होता है। ये लोग अपनी स्थानीय संस्कृति छोड़कर नई जगह व्यवस्थित होने का प्रयास करते हैं। इस हालत

में वे लंबे समय तक नए परिवेश तथा व्यवस्था में अपने आपको सार्थक ढंग से समायोजित नहीं कर पाते। इस प्रवासी मध्यवर्गीय समाज की घुटनभरी विवशता तथा टूटन का चित्रण जगदंबा प्रसाद दीक्षित के उपन्यास 'कटा हुआ आसमान'(1971) में किया गया है। घरेलू नौकर, स्वरोजगार में लगे लोग, दिहाड़ी मजदूर, स्त्री समाज और बेसहारा लोग आदि ऐसे समूह हैं जो मुख्यतः आर्थिक, सामाजिक और सांस्कृतिक कारणों से समाज की मुख्यधारा के हाशिये पर हैं। मंजुल भगत के 'अनारो'(1977), 'बेगाने घर में'(1978) और 'गंजी' में भी शहरी निम्नवर्ग के जीवन का चित्रण हुआ है। 'अनारो' में महानगर दिल्ली में मध्यवर्गीय परिवारों में चौका-वर्तन कर गुजर-बसर करने वाली स्त्रियों का चित्रण किया गया है। रामदारश मिश्र ने भी 'बिना दरवाजे का मकान'(1984) तथा कृष्ण बलदेव वैद्य ने 'एक नौकरानी की डायरी' में घरों में चौका-वर्तन करने वाली एक स्त्री की आँखों से आज की महानगरीय ज़िंदगी को पहचानने की कोशिश की है। 'बसंती'(1980) में भीष्म साहनी ने महानगर दिल्ली में लगातार बनने वाली 'कॉलोनियों' के साथ-साथ निर्मित झुग्गीझोंपड़ियों वाली गंदी बस्तियों के परिवेश तथा उसमें रहने वाले निम्नवर्गीय समाज के पारिवारिक संबंधों, आर्थिक समस्याओं और नैतिक मूल्य-संकटों का अंकन किया है। अनेक कहानियों में भी हाशिये पर पड़े इन लोगों का जीवन चित्रित हुआ है। अमरकांत की 'बहादुर', भीष्म साहनी की 'बबली', 'संभल के बाबू', रमाकांत की 'भागनमी आणी', शेखर जोशी की 'दाज्यू', शैलेश मटियानी की 'इब्बूमलंग', पंकज बिष्ट की 'टुंड्रा प्रदेश', सुरेश कांटक की 'एक बनिहार का आत्मनिवेदन', मदन मोहन की 'बच्चे बड़े हो रहे हैं', विजयकान्त की 'इंद्रजाल', हृषिकेश सुलभ की 'वधस्थल से छलांग', जगदंबा प्रसाद दीक्षित की 'गंदगी और ज़िंदगी', चित्रा मुद्गल की 'भूख' आदि कहानियाँ उपर्युक्त संदर्भ में ही हाशिये के लोगों के जीवन संघर्ष को यथार्थवादी ढंग से उभारती हैं।

नारी विषयक विमर्श में भी अनेक उपन्यासकारों ने दिल्ली के महागरीय परिवेश का उपयोग किया है। मन्नू भण्डारी, मृदुला गर्ग, राजी सेठ, नासिरा शर्मा, सुरेन्द्र वर्मा, विष्णु प्रभाकर आदि के उपन्यासों में महानगर का परिवेश पूरी विश्वसनीयता के साथ प्रस्तुत है। गीतांजलि सरी, सुनीता जैन और कमाल कुमार के उपन्यास भी महानगरीय परिवेश में ही नारी की स्थिति और नियति का चित्रण करते हैं। ममता कालिया, जगदंबा प्रसाद दीक्षित, महीप सिंह और देवेश ठाकुर ने मुंबई के शैक्षणिक वातावरण में व्याप्त शिक्षकों और अधिकारियों की गुटबंदी, भ्रष्टाचार और व्यवस्था के प्रति छात्रों के असंतोष, अध्यापकों की घुटनभरी ज़िंदगी का भी प्रामाणिक चित्रण किया है। महानगरीय परिवेश में विज्ञापन जगत के ग्लैमर, मूल्यहीन प्रतियोगिता, देह व्यापार आदि का उल्लेख चित्रा मुद्गल ने 'एक जमीन अपनी'(1990), सुरेन्द्र वर्मा ने 'मुझे चाँद चाहिए' तथा जगदंबा प्रसाद दीक्षित ने 'मुर्दाघर'(1974) में किया है। कलकत्ता के महानगरीय जीवन पर राजकमल चौधरी, गिरीश अस्थाना, प्रभा खेतान तथा अलका सरावगी ने महत्वपूर्ण लेखन किया है। राजकमल चौधरी ने कलकत्ता की पृष्ठभूमि में शराब और सेक्स में डूबे पत्रकारों, लेखकों, ठेकेदारों, दलालों, नौकरशाहों, गलाकाटू प्रतियोगिता में रात उद्योगपतियों और फिल्मि दुनिया की विसंगतियों का चित्रण किया है।

“नयी कहानी ने संयुक्त परिवार के हास, नौकरी पेशा व शहरीकृत महत्वाकांक्षी नए मध्य वर्ग का उदय, शहरीकरण और पूँजी के बढ़ते वर्चस्व और बढ़ती आर्थिक-सामाजिक विषमता को खास तौर पर रेखांकित किया। शहरीकरण और पारिवारिक विघटन के कथ्य भी सामने आए। नए कहानीकारों के तर्क के मुताबिक आजादी के बाद जिस प्रकार शहरी मध्य वर्ग की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गयी, उसी प्रकार उनकी समस्याओं का घनत्व भी उसी अनुपात में बढ़ता गया। इन स्थितियों के प्रमाणिक स्वर उस दौर की कहानियों में मौजूद हैं।”¹¹

बीसवीं शती के अंतिम दशक में ऐसी कई घटनाएँ हुई जिन्होंने भारतीय इतिहास को गहरे तक प्रभावित किया। साहित्य पर भी इसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा। वर्ष 1991 में सरकार ने देश में आर्थिक वैश्वीकरण से पैदा हुई आर्थिक उदारीकरण की नीतियों को लागू कर दिया। विदेशी निवेश के लिए दरवाजे खोल दिये गए। देश के भीतर पूँजी का मुक्त प्रवाह शुरू हो गया। शुल्क और करों में कटौती की गई। श्रम कानून शिथिल किए गए। आर्थिक उदारीकरण और निजीकरण की नीति ने बड़े, मँझोले उद्योगों और सेवा क्षेत्र की तरक्की तेज कर दी किंतु लघु उद्योग को इससे नुकसान ही हुआ। आज के समय में अर्थतन्त्र और समाज में हो रहे बदलाव का फायदा कुछ ही लोगों तक पहुँच रहा है और वंचितों का बड़ा तबका और बेहाल हो रहा है। सामाजिक, राजनीतिक जागरूकता के चलते दलित, पीड़ित समुदायों की राजनीतिक हैसियत जरूर बढ़ी है पर उत्पादन की प्रक्रिया, व्यवस्था एवं अर्थतन्त्र में वे अभी भी हाशिये पर हैं। यह एक तथ्य है कि उदारीकरण के प्रभाव से विकसित होते निजी कारोबार में पहले से प्रभुत्वशाली रहे वर्गों की भागीदारी में ही ज्यादा वृद्धि हुई है।

वर्तमान समय में ये सभी अंतर्विरोध साहित्य में दर्ज हो रहे हैं। साहित्यकार इन सभी परिवर्तनों और उसके प्रभावों को बड़ी बेबाकी से व्यक्त कर रहे हैं। आलोचक मैनेजर पांडेय ने इस संबंध में कहा है कि- “आज के जमाने में साहित्य की दुनिया केवल कला और सौंदर्य के सहारे नहीं चलती है। वह समाज के आखिरी ढांचे, राजनीतिक परिवेश, सामाजिक परिवेश, सामाजिक संरचना और सांस्कृतिक संस्थाओं से बहुत दूर तक प्रभावित होती है।”¹²

भारतीय महानगरों में दिल्ली, मुंबई तथा कलकत्ता हिंदी साहित्य में चित्रित होते रहे हैं। हालाँकि इनसे सम्बद्ध साहित्य के कथ्य में विविधता देखने को मिलती है। इसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न महानगरों का चरित्र एक-दूसरे से सर्वथा अलग है। दिल्ली के परिवेश पर आधारित उपन्यासों में पूँजी के बढ़ते हस्तक्षेप, अभिजात्य वर्ग की जीवनशैली, बढ़ते उपभोक्तावाद आदि को दिखाया गया है। कृष्णा सोबती ने ‘दिलो-दानिश’ में आज के समय से लगभग सौ वर्ष पूर्व के दिल्ली के अभिजात्य समाज के पारिवारिक और नैतिक संघर्ष का और ‘समय-सरगम’ में उच्चमध्यवर्गीय वरिष्ठ नागरिकों की असुरक्षा, अकेलापन और संत्रास के प्रभाव में जीने की मजबूरी का चित्रण किया गया है। इसके पूर्व अज्ञेय के ‘नदी के द्वीप’ तथा भगवती चरण वर्मा के कतिपय उपन्यासों के कुछ प्रसंग दिल्ली से जुड़े हुए हैं, पर उनमें दिल्ली का कोई खास चरित्र नहीं उभरा है। महानगर एक ओर जहाँ मनुष्य के समस्त भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए आकर्षण का केंद्र होते हैं, वहीं दूसरी ओर इनमें निहित विषमताएँ लोगों को अभिशाप्त जीवन जीने के लिए भी बाध्य करती हैं। जिस तीव्र गति से महानगरों की जनसंख्या का घनत्व बढ़ता जा रहा है, उस गति से

संसाधनों का विकास हो पाना संभव नहीं है जिसके परिणामस्वरूप यहाँ का जीवन पहले की तुलना में अधिक संघर्षमय हो गया है। सभी क्षेत्रों में निजीकरण की प्रक्रिया से प्रतिस्पर्धा बढ़ी है। फलतः धनी व निर्धन के बीच का अंतर और गहराता जा रहा है। कल-कारखानों एवं मोटर गाड़ियों की संख्या में निरंतर वृद्धि से ध्वनि, जल तथा वायु प्रदूषण सभी में वृद्धि हुई है। कुछ महानगरों में यह प्रदूषण मनुष्य व अन्य जीव-जंतुओं के लिए घातक सिद्ध हो रहा है। हिंदी साहित्य की अनेक विधाओं में महानगरीय जीवन की इन सभी समस्याओं पर गंभीर विचार किया गया है। मोहन राकेश के अँधेरे बंद कमरे में छठे दशक की दिल्ली के निम्नवर्गीय परिवेश का चित्रण किया गया है। इसमें कलाकारों, लेखकों और पत्रकारों की कनाट प्लेस और कॉफ़ीहॉउस में गहमागहमी तथा दूतावासों की पॉश जिंदगी के साथ-साथ गरीब और गन्दी कॉलोनियों की बजबजाती जिंदगी का भी चित्रण किया गया है। मौजूदा समाज में विशेषकर भारत के बड़े नगरों में, ऐसे अनेक मनुष्य नामधारी प्राणी हैं जिनकी जिंदगी कीड़े-मकोड़ों से बेहतर नहीं है। वे अनचाहे बच्चों के रूप में जन्म लेते हैं, बुरी स्थितियों में पलते हैं और एक दिन भूख, ठंड या रोग से मर जाते हैं। ओमप्रकाश दीपक कृत 'कुछ जिंदगियां बेमतलब' में समाज के इस वर्ग की जिंदगी का अंकन किया गया है। मंजुल भगत के 'अनारो', 'बेगाने घर में' और 'गंजी में भी शहरी निम्नवर्ग का चित्रण हुआ है। अनारो में महानगर दिल्ली में मध्यवर्गीय परिवारों में चौका-बर्तन कर गुजर-बसर करने वाली स्त्रियों का चित्रण किया गया है। रामदरश मिश्र ने भी 'बिना दरवाजे का मकान' में घरों में चौका-बर्तन करने वाली एक स्त्री की आँखों से आज की महानगरीय जिंदगी को पहचानने की कोशिश की गई है। 'बसंती' में भीष्म साहनी महानगर दिल्ली में लगातार बनने वाली कालोनियों या विहारों के साथ-साथ निर्मित झुग्गी-झोपड़ी वाली गंदी बस्तियों के परिवेश तथा उसमें रहने वाले निम्नवर्गीय समाज के पारिवारिक संबंधों, आर्थिक समस्याओं और नैतिक मूल्य संकटों का अंकन किया गया है।

स्वतंत्रता के बाद कस्बों, छोटे शहरों, नगरों और महानगरों के परिवेश पर आधारित उपन्यासों की संख्या में खूब वृद्धि हुई है। यहाँ तक कि ग्रामीण जीवन को अपने साहित्य का विषय बनाने वाले लोगों ने भी नगर केन्द्रित उपन्यास लिखे हैं। इसका प्रमुख कारण यह है कि अधिकतर लेखक कस्बों, शहरों, नगरों और महानगरों में रहते हैं और प्रायः इसी क्रम में उनका ग्रामीण क्षेत्र से महानगरों में आव्रजन भी होता रहता है। जहाँ तक कस्बों से लेकर महानगरों तक के जीवन का प्रश्न है उसे बिल्कुल अलग अलग खानों में नहीं बांटा जा सकता। जिंदगी की बहुत सी स्थितियाँ और उनकी वास्तविकताएं सामान होती हैं। फिर भी कुछ ऐसे क्षेत्र हैं जिन्हें अलग किया जा सकता है। मध्यवर्ग यदि देखें वह कस्बों से लेकर महानगरों तक फैला हुआ है। इसके साथ ही लेखकों, पत्रकारों, कलाकारों, बुद्धिजीवियों, राजनीतिज्ञों, दफ्तरशाहों, उद्योगपतियों, व्यवसायियों, निम्नवर्ग के कर्मचारियों और झुग्गी-झोपड़ी में रहनेवालों आदि के समुदाय हैं जो नगरों और महानगरों में रहते हैं।

दिल्ली की तुलना में बंबई को केंद्र में रखकर महानगरीय जीवन के चरित्र को प्रस्तुत करने के प्रयास किंचित अधिक हुआ है। मृणाल पण्डे के 'रास्तों पर भटकते हुए' में दिल्ली के ही परिवेश में आधुनिक उपभोक्तावादी युग में मानवीय संबंधों की मृत्यु, सर्वव्यापी भ्रष्टाचार, धन और सत्ता की दौड़ में मानवीय मूल्यों को बिल्कुल दरकिनार कर

राक्षसी भूमिका में जीने वाले डॉक्टरों, उद्योगपतियों, राजनेताओं और पत्रकारों का चित्रण किया गया है। पर सन साठ से नब्बे के दशक के बीच में लिखित उपन्यासों में यह विषय उपेक्षित प्रायः रहा है। इसके विपरीत दिल्ली के परिवेश पर आधारित अधिकतर उपन्यास कला, साहित्य और पत्रकारिता के जीवन से सम्बंधित हैं। मटियानी के आरंभिक उपन्यासों में बंबई की अपराध और गलाजत भरी जिंदगी, अकूत वैभव के नीचे पलते हुए विलास और व्यभिचार, नारी की अतृप्ति और घुटन, महानगरीय जीवन के अंतर्विरोध, महानगरी में पलने वाले आवारा समाज, बंबई की रंगों में पल रहे अत्याचार और शोषण, बंबई की चालों की कबूतरखाने की जिंदगी, सेठों के घरों से लेकर वेश्याओं के कोठों तक और आलीशान होटलों से लेकर चौराहों तक चलने वाले देह व्यापार आदि का अंकन प्रामाणिक, पर प्रकृतिवादी शैली में किया गया है। इसकी आवृत्ति सुरेन्द्र वर्मा के 'दो मुर्दों के लिए गुलदस्ता' में भी हुई है। जिसमें महानगर मुंबई की बाजारवादी अर्थसंस्कृति में बढ़ते हुए अपराध और सेक्स का चित्रण किया गया है। मनोहर श्याम जोशी के 'कुरु कुरु स्वाहा' में भी मुंबई के परिवेश में महानगरीय जीवन की विसंगतियों, अनिश्चितताओं, नैतिक मूल्यों तथा वहाँ के रहन-सहन, भागदौड़, रहस्यमयता, देहव्यापार, षड्यंत्र आदि का चित्रण किया गया है। मुंबई के परिवेश की एक सच्चाई यह भी है कि वह प्रवासियों का शहर है। भारत के भिन्न-भिन्न हिस्सों से जीविका की तलाश में लोग यहाँ आते हैं जिनमें एक बहुत बड़ा भाग मध्यवर्ग का होता है। इस प्रवासी मध्यवर्गीय समाज की घुटनभरी विवशता तथा टूटन का चित्रण जगदम्बा प्रसाद दीक्षित के 'कटा हुआ आसमान' में किया गया है। उपन्यासकार ने मुंबई के परिसर जीवन का चित्रण भी किया है, जिसमें कॉलेजों के प्रबंधन में सेठों के नाजायज़ हस्तक्षेप और छात्राओं के वेश में मुक्त जीवन का सुख प्राप्त करने वाली लड़कियों की हरकतों का वर्णन प्रमुख है। मुंबई की भाग-दौड़, फुटपाथों पर बजबजाती जिंदगी, मजदूर संघों के संघर्ष, सौन्दर्य प्रतियोगिताओं और होटलों की रंगीन जिंदगी आदि का चित्रण भी उपन्यास में हुआ है। ममता कालिया, जगदम्बा प्रसाद दीक्षित, महीप सिंह और देवेश ठाकुर ने बंबई के शैक्षणिक वातावरण में व्याप्त शिक्षकों और अधिकारियों की गुटबंदी, भ्रष्टाचार, अध्यापकों के प्रति अधिकारियों की साजिश, व्यवस्था के प्रति छात्रों के असंतोष, अध्यापकों की घुटन भरी जिंदगी आदि का प्रामाणिक चित्रण किया गया है।

वर्तमान समय में महानगरीय लोगों का जीवन भाग-दौड़ में व्यस्त हो गया है। उन्होंने भौतिक संसाधनों एवं सुविधाओं की पूर्ति हेतु पैसे को महत्व देना शुरू कर दिया है, जिससे वह कभी-कभी ऐसी दौड़ में अभौतिक संस्कृति के क्षेत्र में स्वयं को खाली महसूस करता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री आगबर्न एवं निमकॉक के अनुसार वह सांस्कृतिक विडंबना कि स्थिति में जीवन व्यतीत करने लगता है और यह स्थिति व्यक्ति और समाज दोनों के लिए नुकसानदायक है। भौतिक संस्कृति के अंतर्गतमानव द्वारा निर्मित भौतिक एवं मूर्त वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है। घड़ी, पेन, मशीन, वाद्ययंत्र, औजार आदि। अभौतिक संस्कृति के अंतर्गत हम ऐसे सामाजिक तथ्यों को शामिल करते हैं, जो अमूर्त हैं और जिन्हें केवल हम महसूस कर सकते हैं, इसमें विचार, विश्वास, मनोवृत्तियाँ, भाषा, नैतिकता आदि आते हैं। सांस्कृतिक विडंबना वह दशा है जिसके अंतर्गत भौतिक संस्कृति का विकास अत्यधिक तीव्र गति से होता चला जाता है, जबकि अभौतिक संस्कृति का विकास मंद या उतनी तीव्र गति से नहीं होता जितना कि भौतिक संस्कृति का। ऐसी स्थिति में अभौतिक संस्कृति, भौतिक संस्कृति से पिछड़ जाती है जिसे हम सांस्कृतिक पिछड़ापन भी कहते हैं।

चित्रा मुद्गल के 'एक जमीन अपनी' में बंबई के महानगरीय में विज्ञापन जगत के ग्लैमर, मूल्यहीन प्रतियोगिता, तिकड़म, देह-व्यापार आदि का चित्रण किया गया है। उन्हीं के दूसरे उपन्यास 'आवां'(२०००) में एक नौजवान लड़की का जीवन संघर्ष प्रस्तुत किया गया है, जो एक घुटन भरे मध्यवर्गीय परिवार में जन्मती-बढ़ती है और महानगर के जलते हुए वातावरण में स्वयं को संघर्ष के लिए तैयार करती है। इसके साथ ही उपन्यास में पृष्ठभूमि के रूप में मजदूर संघों के कार्यकलापों तथा उनकी आंतरिक राजनीति, उठापटक आदि का चित्रण किया गया है। सुरेन्द्र वर्मा ने 'मुझे चाँद चाहिए' में बम्बई के सिनेमा जगत के ग्लैमर, संघर्ष और काम-संबंधों का चित्रण किया है। जगदम्बा प्रसाद दीक्षित के 'मुर्दाघर'(1974) में मुंबई महानगर की उस जिंदगी का चित्रण किया गया है, जो सड़कों के किनारे, पुलों पर, गटरों, सीलन और सड़ांध से भरी झोपड़ियों में दम तोड़ती है, जहाँ छुतहे रोगों से ग्रस्त आवारा औरतें, भीख मांगने वाले कोढ़ी और अपाहिज, जूठन पर पलने वाले असहाय बच्चे, चोर, जुआरी आदि रहते हैं।

1977 ई. में भीमसेन त्यागी का एक उल्लेखनीय उपन्यास 'नंगा शहर' प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास में एक फंतासी के माध्यम से आधुनिक पूंजीवाद तंत्र की भयावहता, पूरे समाज पर उसकी दानवी जकड, सत्ता पर अखंड अधिकार बनाए रखने की खूनी लिप्सा, विज्ञान और औद्योगिकी पर उसका सम्पूर्ण अधिकार तथा सम्पूर्ण मानव समाज के खिलाफ उसका इस्तेमाल करने की राक्षसी प्रवृत्ति और क्षमता का चित्रण किया गया है। इसके साथ-साथ सत्ता बनाए रखने के लिए इसके प्रचार माध्यमों, शोध संस्थानों, शिक्षण संस्थाओं, न्याय व्यवस्था, कला, साहित्य, सेना आदि के कुशल उपयोग का बहुत सुन्दर अंकन हुआ है। इस उपन्यास को पढ़कर पूंजीवादी व्यवस्था की बहुत सही और प्रभावोत्पादक तस्वीर मन में उभरती है। पूंजीवाद किस प्रकार विज्ञान और प्रौद्योगिकी का अपने हित में इस्तेमाल करके मनुष्य को छोटा, नगण्य और विवश बना डालता है, उसकी इंसानियत छीन लेता है, उसमें निहित उदात्त उदात्त तत्वों को सोख लेता है, उसे मनुष्य से जानवर और यंत्र में बदल देता है, इसका बहुत ही प्रभावोत्पादक चित्रण भीमसेन त्यागी ने किया है। इसके साथ ही उपन्यासकार यह तथ्य भी सामने रखना चाहता है कि पूंजीवादी अर्थतंत्र चाहे जितना भी शक्तिशाली दिखे, उसमें इतने अंतर्विरोध हैं कि उसका अंत निश्चित है।

1978 में ही धर्मेन्द्र गुप्त का 'नगर पुत्र हँसता है' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ, जो महानगरीय जीवन की विसंगतियों तथा गाँव से महानगर में आये बुद्धिजीवियों के भटकाव की कहानी कहता है। उपन्यास का केन्द्रीय पात्र गुणाकर पत्रकार है, जिसकी भटकन से भरी जिंदगी का चित्रण ही उपन्यास का केंद्रीय विषय है। जीविकोपार्जन के लिए उसे बार-बार पेशा बदलना पड़ता है कॉफ़ी हाउस में मित्रों के साथ समकालीन राजनीतिक विषयों पर निरर्थक बहस करना, चाय, कॉफ़ी और शराब में अपने जीवन की व्यर्थता को भुलाने का प्रयास करना, भोग-विलास की लिप्सा पालना यही सब उसकी दिनचर्या है। उपन्यास के अन्य पात्रों की भी यही नियति है; 'कंकरीट के जंगल' में भटकना, कुढ़ना तथा चाय-कॉफ़ी या शराब के नशे में कुछ घड़ियाँ काट लेना। धर्मेन्द्र गुप्त के अन्य उपन्यासों -नोन, तेल, लकड़ी, गवाह है शेखपुरा, रिश्ते शहर के, रंगी हुई चिड़िया, इसे विदा मत कहो आदि में भी मध्यवर्ग के अपनी दैनिक जरूरतों के लिए संघर्ष करते और छत-विछत होते हुए दिखाया गया है।

ओमप्रकाश दीपक कृत 'कुछ जिंदगियां बेमतलब' नगरीय जीवन का तल्लख और यथार्थपरक आख्यान प्रस्तुत करता है। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था में कुछ जिंदगियों का बेमतलब होना आश्चर्य की बात नहीं। मौजूदा समाज में, विशेषकर भारत के बड़े नगरों में, ऐसे अनेक नामधारी प्राणी हैं जिनकी जिंदगी अत्यंत दयनीय हालत में गुजर रही है। दिल्ली महानगर का परिवेश एक ऐसा परिवेश है जहाँ जीवन बड़ा ही व्यस्त रहता है। इस व्यस्त जीवन में अपने एकाकीपन के इस अनुभव को उपन्यासकार ने चित्रित किया है। आधुनिक समाज में व्यक्ति का जीवन ठीक भीड़ में रहने के सामान है। व्यक्ति के चारों ओर हजारों-लाखों व्यक्ति हैं। फिर भी उसका अपना कोई नहीं है। इस समाज में सबसे बड़ी समस्या यह है कि व्यक्ति के संबंधों में औपचारिकता इतनी बढ़ गई है कि व्यक्ति के संबंधों में घनिष्ठता का स्थान नहीं रह गया है। दिल्ली जैसे महानगरों के परिवेश में रहने वाले एक ही बहुमंजिले मकान में रहने वाले व्यक्ति तक एक-दूसरे से परिचित नहीं होते। अतः व्यक्ति धीरे-धीरे सामूहिक संबंधों से दूर हो जाता है। समूह में उसे प्रेम, स्नेह, सुरक्षा, आदर सब कुछ मिलता था। आज के समाज में इनका अभाव है। और यही बात उपन्यास में नायक और नायिका सतीश और दीक्षा के विषय में कही जा सकती है। महानगरों में यही एकाकीपन एक प्रकार का अजनबीपन भी है और अजनबीपन की यही भावना महानगरीय परिवेश में, वर्तमान समाज में सब तरफ दिखाई देती है। इन महानगरों में बेचारे असहाय मजदूरों की थकान मिटाने हेतु शराब के नशे का आदी होना, आर्थिक समस्याओं का जीवन भर सामना करना सामना करना, परित्यक्ता नारी का अकेले जी न सकने की स्थिति में दूसरे से विवाह करना, बहुपत्नी विवाह की समस्याओं का जीवन भर उठाना इतना ही नहीं धनिकों, पूंजीपतियों की बहू-बेटियों का पैसे के लालच में या काम-भावना की तृप्ति के लिए आधुनिक वेश्या व्यवसाय से जुड़ना जैसे प्रसंगों का उल्लेख इन उपन्यासों में है।

गिरीश अस्थाना ने भी 'धूपछांही' रंग में कलकत्ता के पूंजीपति-उद्योगपति समाज का चित्र प्रस्तुत किया है। भयंकर प्रतियोगिता और आपाधापी से भरे पूंजीपति समाज में बुद्धिजीवी शिक्षित वर्ग अपनी भावना, बुद्धि और संस्कार को गिरवी रखकर, अनेक प्रकार के तनावों को झेलता हुआ घोर मानसिक अशांति के मूल्य पर शामिल होता है और एक दिन अपनी सारी ऊर्जा गँवाने के बाद कहीं का नहीं रह जाता। बुद्धिजीवी वर्ग के लिए यह चुनौती आज की बाजारवाद की दुनिया में कितनी कठिन होती जा रही है। माहेश्वर ने 'तलघर' में कलकत्ता महानगर की पृष्ठभूमि में निम्नमध्यवर्गीय जीवन की मजबूरियों और त्रासद परिस्थितियों का तथा सुरेन्द्र तिवारी ने अंततः में एक निम्नमध्यवर्गीय युवक की भटकन और उत्पीड़न का यथार्थ अंकन किया है। वर्तमान समाज में नगरीय लोगों का जीवन भाग-दौड़ में व्यस्त हो गया है। उन्होंने भौतिक संसाधनों एवं सुविधाओं की पूर्ति हेतु पैसे को महत्व देना शुरू कर दिया है, जिससे वह कभी-कभी ऐसी दौड़ में अभौतिक संस्कृति के क्षेत्र में स्वयं को खाली महसूस करता है। प्रसिद्ध समाजशास्त्री आगबर्न एवं निमकॉक के अनुसार वह सांस्कृतिक विडंबना की स्थिति में जीवन व्यतीत करने लगता है और यह स्थिति व्यक्ति और समाज दोनों के लिए नुकसानदायक है। भौतिक संस्कृति के अंतर्गत मानव द्वारा निर्मित भौतिक एवं मूर्त वस्तुओं को सम्मिलित किया जाता है।

प्रभा खेतान ने तालाबंदी, छिन्नमस्ता, अपने-अपने चेहरे, पीली आंधी आदि उपन्यासों में कलकत्ता के महानगरीय परिवेश का बहुत विश्वसनीय चित्रण किया है। मारवाड़ियों के राजस्थान से कलकत्ता आकर उद्योगपतियों में रूपांतरित होने, उनके बनने और बिगड़ने, एक नए प्रकार की संस्कृति को जन्म देने आदि का अंकन उनके उपन्यासों में देखा जा सकता है। 'कलि-कथा वाया बाईपास' में अलका सरावगी ने एक मारवाड़ी परिवार की पांच पीढ़ियों की संघर्ष कथा प्रस्तुत करते कलकत्ता का पूरा इतिवृत्त ही उपलब्ध करा दिया है जिसमें प्लासी युद्ध से लेकर बाबरी मस्जिद विध्वंस तक का इतिहास सम्मिलित है। महानगरों के साथ-साथ लखनऊ, कानपुर, इलाहबाद, पटना, भोपाल, अहमदाबाद, लाहौर जालंधर जैसे औद्योगिक और राज्य-राजधानी स्तर के नगरों तथा काशी, आगरा, मथुरा, झाँसी, गया, चंपारण, झरिया जैसे छोटे-बड़े शहरों और कस्बों के परिवेश में भी भारतीय जीवन के बहु-आयामी यथार्थ का चित्रण किया गया है। शुद्ध मध्यवर्गीय जीवन और समाज के नाना रूपों और सच्चाइयों के अंकन की अंकन की दृष्टि से ये उपन्यास अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। यों तो लखनऊ अनेक उपन्यासों की कथा भूमि के रूप में उपस्थित हुआ है, पर उसे जैसा विशिष्ट चरित्र अमृतलाल नागर ने अपने उपन्यासों में प्रदान किया है वह अद्वितीय है।

वर्तमान समय में आर्थिक उदारीकरण ने उपभोक्तावाद, बाजारवाद व्यवस्था को शक्ति प्रदान की है। उपभोक्तावाद और बाजारवाद तथा उत्तरआधुनिकता के सन्दर्भ में कुछ उपन्यास उल्लेखनीय रहे हैं, जैसे- सुरेन्द्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिए', ममता कालिया का 'दौड़', अलका सरावगी का 'एक ब्रेक के बाद', रविन्द्र वर्मा का 'दस बरस का भंवर' आदि। इन उपन्यासों में विश्व पूंजी व्यापार में उपभोक्तावाद का बढ़ता प्रसार, वैश्वीकरण की सौगात के रूप में अपसंस्कृति के अनेकशः रूप और प्रकार तथा एक नए प्रकार की विकृत और कृत्रिम संस्कृति में नयी पीढ़ी का ढलते जाना है। भूमंडलीकरण के इस दौर में जीवन के हर क्षेत्र में नैतिकता का हास हो रहा है और सत्य, अहिंसा, अस्तेय, अपरिग्रह एवं इमानदारी जैसे शाश्वत मूल्य हाशिए पर ढकेल दिए गए हैं। भूमंडलीकरण का एकमात्र उद्देश्य है- मुनाफा। बाजारवाद व् उपभोक्तावाद मानवीय हितों के सर्वथा प्रतिकूल हैं। भूमंडलीकरण का बाजारतंत्र है जो बाजार की आवश्यकता को देखता है, मुनाफे के लिए कुछ भी करने को तैयार रहता है। आज इस बाजार में संवेदना और मूल्य की जगह माल, मुद्रा आदि ने ले ली है, यानि हमारे सामने और बीच भी व्यावसायिकता अपनी जड़ें जमा चुकी है। उपभोक्तावादी पूंजीवाद ने संस्कृति को अपसंस्कृति में बदल दिया है। अर्थक्षेत्र और संस्कृति क्षेत्र एक हो गए हैं। संस्कृति भी एक उत्पाद बन गयी है। उपभोक्ता संस्कृति के पसरने से सेक्स की विकृति को ही बढ़ावा मिला है। सारा मध्यवर्ग आज भौतिकता की जिस दौड़ में पड़कर एक विशिष्ट वर्ग में छलांग लगाने की जदोजहद में पड़ा हुआ है। भौतिकतावादी दृष्टि, उपभोक्तावाद, बाजार आदि इनके विवेक को कम कर रहा है। इन सब स्थितियों का चित्रण रविन्द्र वर्मा जी ने अपने उपन्यास 'दस बरस का भंवर' में किया है। उपन्यासकार रविन्द्र वर्मा ने उपन्यास में दर्शाया है कि उपभोक्ता संस्कृति उच्च जीवन स्तर को नाकाफी मानती है और निरंतर और अच्छे के लिए प्रेरित करती है। फैशन सजगता उत्पन्न करना और सबसे महंगे व् ब्रांड की उपलब्धता की ललक पैदा करना बाजारवाद के मूल पोषक हैं। बाजार छोटे-छोटे बच्चों को भी भरमा रहा है। नूर और अमर का बेटा मुन्ना सोलह सौ रुपयों के जुटे की मांग करता है। मध्यवर्गीय परिवार भी अच्छी गाड़ियों की कतार देख उन्हें पाने का स्वप्न पालता है, उसके लिए बैंक से लोन लेता है।

बहुराष्ट्रीय कम्पनियां हाईटेक तकनीक, संचार माध्यमों के सैलाब में बहती चली आई आयतित संस्कृति, आचार, व्यवहार, विचार सभी को भ्रष्ट करती हुई आक्रामक उपभोक्तावाद का पर्याय बन रही है, जिसमें आर्थिक स्थिति ही नहीं इतिहास, संस्कृति और समाज तीनों प्रभावित हो रहे हैं। उपभोक्तावादी संस्कृति के पसरने से अनेक प्रकार की सामाजिक, सांस्कृतिक विकृतियाँ आम हो चली हैं। रवींद्र जी ने रतन और सपना की प्रेम कहानी के माध्यम से इस स्थिति को स्पष्ट किया है कि इस प्रकार की अपसंस्कृति से कैसे लोग प्रभावित हुए हैं।

1990 में चित्रा मुद्गल का 'एक जमीन अपनी' नामक उपन्यास प्रकाशित हुआ, जिसका केन्द्रीय कथ्य बंबई के महानगरीय परिवेश में विज्ञापन जगत के ग्लैमर, मूल्यहीन प्रतियोगिता, तिकड़म देह व्यापार आदि के बीच प्रस्तुत 'नारी विमर्श' है। इस परिवेश में स्त्री चाहें कितनी भी योग्य क्यों न हो, उसे भोग्य वस्तु के रूप में ही देखा जाता है। पत्नी और प्रेमिका के रूप में आधुनिक स्त्री की स्थिति कितनी त्रासद है इसका अंकन चित्रा मुद्गल ने गहरी संवेदनशीलता के साथ किया है। उनका दूसरा उपन्यास 'आवां' भी एक नौजवान लड़की नमिता के जीवन संघर्ष की कथा कहती है जो एक घुटन भरे मध्यवर्गीय परिवार में जन्मती-बढ़ती है और महानगर के जलते हुए परिवेश में तप कर अपने को संघर्ष के लिए तैयार करती है। इसीलिए उपन्यास का शीर्षक आवां रखा गया है। नमिता का एक संघर्ष पुरुष के साथ उसके देह संबंध को लेकर भी है। बचपन में वह अपने सगे मौसा के बलात्कार की शिकार होती है। युवा होने पर मजदूर संघ का सबसे बड़ा और प्रतिष्ठित नेता, अन्ना साहब उसके साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध रति संबंध स्थापित करने में सफल होता है। कुछ दिनों के बाद वह एक करोड़पति आभूषण निर्माता के संपर्क में आती है और उसका अनचाहा गर्भ धारण करती है। इन सब की परिणति उसके अपने पैरों पर खड़े होने के संकल्प में होती है। इसके साथ ही उपन्यास की पृष्ठभूमि में 'कामगार अघाड़ी' मजदूर संघों के कार्यकलापों का भी विस्तार से वर्णन है। आलोचक डॉ. रामचंद्र तिवारी ने उनके संबंध में लिखा है कि- "आज की व्यावसायिक उपभोगवादी संस्कृति में नारी के शोषण की नयी नयी स्थितियां उभरने लगी हैं। चित्रा मुद्गल ने विज्ञापन जगत में होने वाले नारी-शोषण को सार्थक औपन्यासिक परिणति देकर एक सफल उपन्यास लेखिका के रूप में अपने को स्थापित कर लिया है।"¹³

अलका सरावगी ने 'एक ब्रेक के बाद' उपन्यास में उत्तर आधुनिक समय में बाजार, विज्ञापन और वस्तु के रूप में व्यक्ति को भी उपयोगितावादी दृष्टि से देखना आदि की सफल प्रस्तुति हुई है। यहाँ हर व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को उपयोगितावादी दृष्टि से देखता है। उपन्यास की शुरुआत से ही दम्पति शीत युद्ध की तरह की स्थिति में जी रहे हैं, किंतु इंडियन स्कूशोप को बुलंदियों तक पहुँचाने के लिए के.वी. पत्नी का एक वस्तु के रूप में उपयोग करते हैं। उपन्यास के उत्तरार्द्ध में कार्बन क्रेडिट के लिए नौकर रामा का उपयोग करता है। ग्लोबलाइजेशन के इस दौर में महानगरों में बाजारवादी व्यूह रचनाएं किस प्रकार भारतीय समाज में परिवर्तन ला रही हैं, इस संबंध में अलका सरावगी ने विस्तार से वर्णन किया है। उपन्यास में एक स्थान पर वे लिखती हैं- "इस पोस्ट ग्लोबल दुनिया में जवान दिखना, सुन्दर दिखना, वजन घटाना अरबों डॉलरों का कारोबार है। लेकिन कम से कम इंडिया में ज्यादातर लोग नहीं चाहेंगे कि किसी को पता चले कि वे किस तरह के कार्यों के लिए पैसा खर्च कर रहे हैं।"¹⁴

लघु उपन्यासों के माध्यम से भी बड़े सारगर्भित रूप में महानगरीय जीवन की समस्याओं को चित्रित किया गया है। कम शब्दों में अनेक आधारभूत बिन्दुओं के माध्यम से महत्वपूर्ण विमर्श खड़ा करना लघु उपन्यासों की विशेषता है। हिन्दी साहित्य में लघु-उपन्यास विधा के आरंभ के पीछे यही कारण है। यह अपने समय एवं समाज की स्थिति एवं परिस्थिति की उपज है। नामवर सिंह ने कहानी विधा के बारे में कहा है कि 'यह छोटे मुँह बड़ी बात कहती है'। लघु-उपन्यास के बारे में भी यह बात कही जा सकती है। लघु-उपन्यास विधा मात्र आकारगत लघुता के कारण एक नई साहित्यिक विधा के रूप में स्थापित नहीं है। इसके अपने कुछ गुण हैं जो इसे कहानी और उपन्यास से अलग करते हैं। यह सही है कि कहानी, उपन्यास और लघु-उपन्यास के केन्द्र में कथा होती है, पर इन तीनों विधाओं का अपना अलग-अलग अस्तित्व है। हर साहित्यिक विधा का अपना महत्व है। कोई भी साहित्यिक विधा जीवन को नकार कर अपने अर्थ को नहीं पा सकती। उनके भीतर एक आंतरिक एकता तो होती ही है जो उनमें विधागत अंतर होने के बावजूद उन्हें एक सूत्र में जोड़ती है। सवाल लघुता का या विशालता का नहीं है, सवाल उसमें समाहित उस जीवन-दृष्टि का है जो किसी रचना के आकार के कारण बनते हैं और वे शब्दों के सहारे हमारे सामने उपस्थित होते हैं। इसलिए लघु-उपन्यास में चित्रित महानगरीय जीवन का मतलब यह कतई नहीं है कि वहाँ जीवन लघु है। जीवन लघुता या विशालता से संचालित नहीं होता है। जीवन तो जीवन होता है। वहाँ लघु या विशाल का क्या वजूद! साहित्य अंततः जीवन का ही उद्घाटन है और वह जीवन के एक नितांत अकेले या अटूट या कहीं तो अजनबीपन और इसमें फँसे एक मनुष्य के जीवन को 'लघु' शब्द में व्यक्त करता है तो इससे उसकी व्यापकता कम नहीं हो जाती है। इसलिए लघु या विशालता के व्याकरणिक या साहित्यिक खाँके में न पड़ते हुए यह ध्यान रखना जरूरी है कि लघु-उपन्यास में जो जीवन आए हैं, या अपनी परिस्थितिवश उस तरह जीने को विवश हैं, वह लघु है या विशाल।

हिन्दी साहित्य में लघु-उपन्यास लेखन की व्यवस्थित शुरुआत जैनेन्द्र से होती है। इन्होंने लघु-उपन्यास लेखन की भूमि का निर्माण किया है। जैनेन्द्र के लघु-उपन्यास व्यक्ति-केन्द्रित हैं। व्यक्ति भी आखिर समाज से ही निर्मित होता है और समाज अंततः व्यक्ति से। इसलिए व्यक्ति को नकार कर किसी सामाजिक सरोकार की बात करना बेमानी हो जाती है। एक व्यक्ति के जीवन में जो उथल-पुथल होती है, उसी को जैनेन्द्र ने अपने लघु-उपन्यासों का विषय बनाया है। यहाँ प्रेमचन्द की तरह व्यापक सामाजिक भूमि और उसकी भूमिका को लेकर चिंतन-मनन कम, एक व्यक्ति के निर्माण की भूमिका और भूमि को लेकर ज्यादा उथल-पुथल दिखाई देता है। हिन्दी में लघु-उपन्यास लेखन की परंपरा में जैनेन्द्र 'परख', 'सुनीता', 'त्यागपत्र', 'कल्याणी', 'सुखदा', 'विवर्त' और 'व्यतीत' को लेकर सामने आते हैं। लघु-उपन्यासों की चर्चा कमलेश्वर के बगैर अधूरी है। इनके लघु-उपन्यासों में जीवन की विसंगतियों से ताल-मेल बैठाने की जद्दोजहद साफ़ झलकती है। इनके लघु-उपन्यासों में युग-सत्य का उद्घाटन भी अत्यंत मार्मिकता के साथ किया गया है। इनके लघु-उपन्यासों में 'एक सड़क सत्तावन गलियाँ', 'लौटे हुए मुसाफिर', 'डाक बंगला', 'तीसरा आदमी', 'समुद्र में खोया आदमी' आदि प्रमुख हैं। लघु-उपन्यास-लेखन में राजेन्द्र यादव, मन्नू भंडारी और ममता कालिया का भी उल्लेखनीय स्थान है। खासकर 'सारा आकाश', 'आपका बंटी' और 'लड़कियाँ' महानगरीय जीवन की कई परतों को खोलती हैं।

हिन्दी लघु-उपन्यास में महानगरीय जीवन के विभिन्न ऊहापोह और उलझनों और उसमें फँसी मनुष्य की जिन्दगी से रू-ब-रू होते हुए कमलेश्वर के दो लघु उपन्यास 'समुद्र में फँसा हुआ आदमी' और 'तीसरा आदमी' केन्द्र में हैं। हिन्दी लघु-उपन्यास में चित्रित महानगरीय जीवन पर चिंतन-मनन एक त्रासदी से गुजरने जैसा है जहाँ विकास के तमाम ककहरे झूठे साबित हो जाते हैं। महानगरों की चकाचौंध, ऊँची-नीची इमारतों में मनुष्य किस तरह बौना और एक हद तक अप्रासंगिक हो गया है, वह किस तरह जिंदा लाशों के समंदर में तब्दील हो गया है, इसे हिन्दी लघु-उपन्यास बखूबी उद्घाटित करते हैं। दरअसल भारत में कई भारत हैं। एक भारत महानगरों में बसता है, एक भारत नगरों में बसता है, एक भारत गाँवों और कस्बों में बसता है। आज जिस समय एवं समाज में हम जीने को अभिशप्त हैं वहाँ गाँवों में रहना, खेती करना या स्थानीय शहरों में रहकर छोटे-मोटे रोजगार करना लगभग अप्रासंगिक हो गया है। बेहतर जीवन की आशा-आकांक्षा हमें महानगरों को ओर खींचती है और अपने ही देश में हम अप्रवासी हो जाते हैं। बाबा नागार्जुन की एक कविता है –

“घोर निर्जन में परिस्थिति में दिया है डाल/याद है तुम्हारा सिन्दूर तिलकित भाला”

परदेस या महानगर में रहने की विवशता, जहाँ किसी चीज की कमी हो सकती है, पर वहाँ एक चीज की कमी नहीं हो सकती है और वह मनुष्य, और वहाँ निर्जनता... मनुष्यों के बीच निर्जन होने की व्यथा और विकरालता... मनुष्यता के लिए इससे बड़ी विडंबना क्या हो सकती है! कमलेश्वर के लघु-उपन्यास 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' में चित्रित दिल्ली महानगर की तस्वीर सिहरन पैदा करती है, सब कुछ टूटा हुआ और बिखरा-सा लगता है, मनुष्यता अपने अर्थ को खोती नज़र आती है, विकास की चकाचौंध स्याह पड़ती-सी दिखती है। दिल्ली महानगर का चित्र खींचते हुए कमलेश्वर 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' में लिखते हैं, “कितना वीरान है यह जन-समुद्र!... ये कोलाहल से भरी सड़कें... आदमी पर जीता हुआ आदमी... ये कारें, बसें, मोटरें, शोर करते हुए स्कूटर... इमारतें और इमारतों में अपना खून चुसवाते हुए निरीह लोग... जिनके पास अपनी कोई जिन्दगी नहीं है। न अपनी आकांक्षाएँ... और सपने। न अपने फैसले... और न अपनी आजादी! धरती से आसमान तक एक लम्बी मीनार है, जिसके तल में करोड़ों, अरबों, खरबों आदमी खड़े हैं और उनकी गर्दनो पर दूसरे सवार हैं... उन दूसरों पर तीसरे सवार हैं... उन तीसरों पर चौथे सवार हैं... और आसमान तक यही सिलसिला चला गया है।”

कमलेश्वर ने महानगर का जो चित्र खींचा है, वह आज के समय का क्रूर यथार्थ है। यह एक ऐसी हत्या है जहाँ खून की जगह सपने बहते हैं, गोली की ठनक की जगह रिश्तों के दरकने की आवाज सुनाई देती है। कोलाहल और भीड़-भाड़ की ऊपरी परत के नीचे संवादहीनता, संवेदनहीनता और स्वार्थपरकता की अनुगूँज सुनाई देती है। जहाँ मनुष्य करोड़ों की भीड़ में अपने होने के अर्थ को पूछता है। भीड़ जो सिर्फ भीड़ है। जिसमें कोई किसी को नहीं पहचानता। वे सिर्फ एक-दूसरे को ऐसी नज़रों से देखते हैं, जैसे पूछ रहे हों, 'तुम्हारे होने का मतलब? क्यों... किसलिए?'

महानगर का मतलब सिर्फ चकाचौंध नहीं है, भागती हुई गाड़ियाँ, बार या पब नहीं है। महानगर एक संस्कृति है जहाँ ताकतवर जीते हैं और कमजोर अपनी लाचार, विवश जिन्दगी की जिजीविषा को अपने खून से सींचते हैं। कमलेश्वर ने अपने इस लघु-उपन्यास 'समुद्र में खोया आदमी' में महानगर का ऐसा चित्र उकेरा है, जो प्रायः हमारी नज़रों से ओझल ही रहता है। उन्होंने समुद्र की लहरों का नहीं, बल्कि इन लहरों के अंदर छिपे उन लाखों चेहरों की 'मौनमधि पुकार' को सामने लाया है जो प्रायः विकास और गति के पहिये के नीचे दब जाते हैं। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एवं नोबेल पुरस्कार विजेता अमर्त्य सेन ने 'अनसर्टेन ग्लोरी' में सही कहा था कि 'हमने शहरों को रहने लायक बनाया नहीं और गाँवों को रहने लायक छोड़ा नहीं'। 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' का मुख्य पात्र श्यामलाल अपनी पत्नी और बच्चों के साथ बेहतर रोजगार की तलाश में दिल्ली आता है।... "यह कमरा था जो उन्हें सबसे अलग करता था। कीलों पर मैले कपड़े, कोने में ट्रंक और उनके ऊपर तमाम घरेलू सामान। खिड़की पर भरी हुई खाल की तरह झूलता हुआ पर्दा। बल्ब के आस-पास पड़ा हुआ जाला... और दीवार पर पं. जवाहरलाल नेहरू की एक तस्वीर...। राजनीति जनता को बेहतर जीवन देने का नाम है पर समय का गंगा सच किसी से छुपा नहीं है। आज हम महानगर से 'स्मार्ट सिटी' की ओर बढ़ रहे हैं। हमारी इस 'स्मार्ट' भरी यात्रा में कमजोर और आम मनुष्य के लिए कोई जगह या सपने हैं? यह प्रश्न हमारे सामने घड़ियाल की तरह मुँह बाये खड़ा है। लघु-उपन्यास 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' इस प्रश्न को और भयावह और विकराल बनाता है, जहाँ आर्थिक मजबूरी कुछ ऐसा खेल दिखाती है कि श्यामलाल का पूरा परिवार अलग-अलग रहने को विवश हो जाता है। साथ में रहती है तो मात्र जिन्दगी की गाड़ी को खींचने की एक लाचार आशा...। और कसक भरा यह सवाल कि "अपना टापू छोड़कर घरवाले समुद्र में क्यों उतर पड़े हैं? क्या खोजने और पाने के लिए वे दिल्ली चले आए हैं?" इस लघु-उपन्यास के पात्र श्यामलाल के बेटे बीरेन का यह सवाल कई सवालों को खड़ा करता है। वह कौन-सी मजबूरी है जहाँ मनुष्य जीवन के लिए 'जीवन' को छोड़ने को विवश है। महानगर आकर श्यामलाल को महसूस होता है कि "जैसे वह डूबते जहाज में घिर गए हैं। चारों तरफ से ऊँची-ऊँची लहरें पछाड़ खाती हुई बढ़ती आ रही हैं और वह अब कुछ नहीं कर सकते। धीरे-धीरे सब कुछ इन लहरों में डूबता जाएगा और फिर एक झटके में यह जहाज अतल गहराइयों में समा जाएगा... और वह ऊब-ऊबकर मर जाएँगे। चारों तरफ सूनापन छा जाएगा और कुछ भी बाकी न बचेगा।" महानगरीय जीवन का यह विरोधाभास, जहाँ कुछ ज्यादा पाने की आकांक्षा से मनुष्य आता है, पर यहाँ वह कुछ ऐसे चक्रव्यूह में फँसता है कि जिन्दगी ही बेमानी हो जाती है। जिन्दगी के इस बेमानी हो जाने की करुण और झकझोर देने वाली गाथा को अपने लघु काया में उपन्यास 'समुद्र में खोया हुआ आदमी' बड़े गहरे और यथार्थ तरीके से अभिव्यक्त करता है।

महानगरीय जीवन से संबंधित कमलेश्वर के लघु-उपन्यास एक त्रासद घटना की तरह उपस्थित होते हैं। उनके लघु-उपन्यास 'तीसरा आदमी' में एक नए शादी-शुदा दम्पति आर्थिक दबाव और महानगर के ताने-बाने में कुछ इस तरह उलझ जाते हैं कि सब कुछ बचा रह जाता है। नहीं बचता है तो उनमें एक-दूसरे के रिश्ते। दाम्पत्य-जीवन को मजबूत आधार प्रदान करने के लिए जिस आपसी विश्वास और प्रेम की प्रगाढ़ता की जरूरत होती है, वही खत्म हो जाती है। इस उपन्यास के कथानक के बारे में कमलेश्वर ने खुद लिखा है कि "महानगर में संघर्षरत एक मध्यमवर्गीय परिवार।

परिवार क्या, पति, पत्नी और पति का एक मित्र। संत्रास, घुटन और उमस वाली भीड़-भरे इस महानगर के एक छोटे-से कमरे में इन तीनों का रचाव, बसाव, मनमुटाव, द्वंद्व, संशय और स्पर्धा, इस संशय की कथा है – जिसमें पति अपनी पत्नी पर शंकालु निगाह रखने को विवश होता है। उसका अजीज दोस्त एक वक्त उसके लिए ‘तीसरा आदमी’ का प्रतीकार्थ बन जाता है। यह कथा वक्त की नज़ाकत है।” इस लघु-उपन्यास में नरेश और चित्रा नए शादी-शुदा दंपति हैं। बेहतर भविष्य का सपना उन्हें दिल्ली महानगर लाकर बसा देता है। वक्त की मजबूरी यह है कि वे अलग कमरा लेकर रह नहीं सकते। उनकी यह मजबूरी अपने एक रिश्तेदार और मित्र के एक कमरे वाले किराये के घर में रहने को विवश कर देती है। आर्थिक दबाव जीवन की नैसर्गिक अनुभूतियों और इच्छाओं का गला घोट देता है। एक पति-पत्नी जिसकी नई-नई शादी हुई है, वे महानगर में ऐसे कमरे में रहने को विवश हैं, जहाँ सड़ांध, उमस और सीलन के सिवा कुछ नहीं है और त्रासदी यह है कि यह कमरा भी एकांत नहीं है। इस कमरे में उसका रिश्तेदार दोस्त भी रहता है। एक शादी-शुदा दंपति पर इससे बड़ा अत्याचार और क्या हो सकता है! दोनों में आपसी प्रेम विकसित होने के लिए जिस एकांत और खुले माहौल की जरूरत थी, वह परिस्थितिवश उनके पास नहीं है। कहीं खुला माहौल है भी तो वहाँ शक, आते-जाते घूरना और पुलिस का पहरा है।

महानगरीय वातावरण और आर्थिक मजबूरी में नरेश और चित्रा के बीच नजदीकी कम और दूरियाँ बढ़ती जाती हैं। और चित्रा अपने पति के दोस्त सुमंत के क्रमशः करीब होती जाती है। महानगर में रहते हुए एक पति अपनी पत्नी के लिए ‘तीसरा आदमी’ बन जाता है। महानगर में रहने की मजबूरी एक आम संघर्षशील इंसान के बाहरी दुनिया में तो भूचाल लाती ही है, साथ ही भीतरी दुनिया में ऐसा घाव कुरेदती है, जिसका उपचार जीवन के अंत से होता है। पति-पत्नी के रिश्ते में इस बड़ी विडंबना और हिंसा क्या होगी, जब पत्नी पति से परदा करने लगे। सच में “पति-पत्नी के संबंधों का आधार ही दूसरा है – इस सम्बन्ध में एक नैसर्गिक कोमल-पशुता है। यह सम्बन्ध बुद्धि से उतना संतुलित नहीं होता जितना कि हृदय से... इस सम्बन्ध के बारे में तर्क हो ही नहीं सकता...”

कमलेश्वर ने अपने इस लघु-उपन्यास ‘तीसरा आदमी’ में महानगरीय जीवन के भीतर एक ऐसी कथा का ताना-बाना बुना है जहाँ विवाह संस्था ही अप्रासंगिक होने लगती है। इस उपन्यास में चित्रा का पति यह सोचने को विवश होता है कि “छल के सिवा अब इस रिश्ते में बाकी क्या बचा है? यही कि व्यक्ति स्वयं को छलता रहे और दूसरे द्वारा छला जाता रहे।... वैवाहिक अपेक्षाओं की पूर्ति में संलग्न व्यक्ति कितना भद्दा और बेहूदा लगता है। शायद इसलिए और भी ज्यादा कि विवाह का वह परम्परागत स्वरूप अब नष्ट हो चुका है... उसकी सामाजिक अपेक्षाएँ बदल गई हैं।”

एक छोटे शहर से महानगर आए एक रिश्ते के मायने एवं सरोकार का बदल जाना, पति-पत्नी के कोमल रिश्ते का अजनबी में परिणत हो जाना और रिश्तों को लेकर मनुष्य के भीतर ऊहापोह और उधेड़बुन का समुद्र की लहरों की तरह उफनना, इस उपन्यास को ट्रेजडी कथा में परिणत कर देते हैं। जीवन की डोर को सँजोने और उसे सँवारने महानगर आया एक दम्पति के बीच कब और कहाँ वह ‘डोर’ ही छूट जाती है, इसका पता ही नहीं चलता, और जब चलता है तो सब कुछ बेमानी और अर्थहीन हो जाते हैं। कमलेश्वर का यह लघु-उपन्यास कमलेश्वर की कहानी ‘राजा

निरबंसिया' की याद दिलाता है। वहाँ जगपती और चंदा है, और यहाँ नरेश और चित्रा है पर सबकी नियति एक ही है – आपसी रिश्तों में टूटन और बिखराव, और इससे पैदा हुई एक त्रासद स्थिति जहाँ पति-पत्नी के रोमानी और कोमल रिश्ते परिस्थितिवश बेमानी हो जाते हैं। सिर्फ स्त्री-पुरुष संबंधों की ही बात नहीं, विघटन अन्य संबंधों में भी देखने को मिलता है। मृदुला गर्ग अपने उपन्यास 'वह मैं ही थी' में एक प्रसूता महिला के अकेले पड़ जाने की वेदना को चित्रित करती हैं- "वह बात नहीं है। उसके माँ-बाप और छोटी बहनें संवेदनशील नहीं हैं। वह तो उनकी महानगरीय दृष्टि है, जो उन्हें बिहार के इस धुर कस्बे की वास्तविकता देखने नहीं देती। वे जानते ही नहीं कि उनके देश में ऐसे गाँव-कस्बे भी हैं, जहाँ डॉक्टर नहीं हैं, चिकित्सा की सुविधाएं नहीं हैं, जहाँ हर बीमारी का इलाज एस्पिरिन की गोली या तुलसी का काढ़ा है।... उनके लिए छोटा से छोटा शहर है जयपुर या कानपुर, जहाँ अस्पताल कम-ज्यादा आधुनिक होते हैं; डॉक्टर कम-ज्यादा काबिल, पर होते जरूर हैं।"¹⁵

वर्तमान युग तकनीकी का युग है। आज समाज पर उपभोक्ता संस्कृति पूर्ण रूप से हावी हो चुकी है। ऐसी स्थिति में विज्ञापनों के माध्यम से समस्त उत्पादों को उपभोक्ताओं तक पहुँचाया जा रहा है। अनेकानेक कंपनियों में इस बात की होड़ लगी है कि उनका प्रोडक्ट अच्छा हो। इसी कारण कभी-कभी छल-कपट का सहर लेकर लोगों को फंसाया जा रहा है। इन कंपनियों ने नैतिकता को ताक पर रख दिया है। वैश्विक आर्थिक दबाव में आकर देश ने ढांचागत परिवर्तन की नीति को स्वीकार किया और आर्थिक उदारीकरण के नाम पर निजीकरण और पूंजीवाद के प्रसार पर भारत ने हस्ताक्षर किए और समाज के आवागमन के रास्ते मुक्त कर दिए। इसी के कारण देश में बहुराष्ट्रीय कारपोरेशन का मार्ग प्रशस्त हुआ। उदारीकरण और मुक्त बाजार व्यवस्था के प्रभाव की परिणति को हम सुरेन्द्र वर्मा के उपन्यास 'मुझे चाँद चाहिए' में बखूबी देख सकते हैं। इस उपन्यास में वर्षा वशिष्ठ मध्यवर्गीय परिवार के सारे अवरोधों के बावजूद एक लड़की का कॉलेज के नाटकों में भाग लेना, नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा तक पहुँचना, सर्वोत्कृष्ट अभिनेत्री का पुरस्कार पाना, रंगमंच पर ख्याति प्राप्त करना आदि देख सकते हैं।

किसी नगर या महानगर का अर्थ तभी सार्थक हो सकता है जब वहाँ जीवन को जीने का समान अधिकार हो। जहाँ मनुष्य एक यंत्र की तरह नहीं, बल्कि मनुष्य की तरह रहे। महानगर आधुनिक समाज का एक यथार्थ है, पर वह सबके लिए सुनहरा रहे, किसी के लिए वह यथार्थ स्याह साबित न हो। नहीं तो हम महानगर से 'स्मार्ट सिटी' की ओर बढ़ते रहेंगे और मनुष्य पीछे छूटते जाएँगे। गाँव की कीमत पर नगर और नगर की कीमत पर महानगर, इस अंधी यात्रा में कहीं न कहीं ऐसा तो लगता है कि हम अपने देश को छोड़कर ही बहुत आगे बढ़ गए हैं, पीछे छूट गए हैं हमारे कुछ अपने... वे अपने जो इस देश को सींचते हैं पर पता नहीं क्यों वे परीक्षाओं के 'निबंध' में सिमटकर रह गए हैं। उनके बिना इस देश की मूल आत्मा को बचाए रखना असंभव है। जो जीवन को अपने जीवन के पसीनों से सींचता है और दूसरों के लिए अपना ही जीवन दाँव पर लगा देता है। वह पसीना और जीवन बेमानी हो जाता है, सत्ता के निरंकुश हाथापाई, जहाँ जीवन का उत्पादक ही हाशिये पर चला जाता है। भारत एयहाँ हिन्दी में जिन लघु-उपन्यासों पर विचार किया गया है, वहाँ एक हत्या हर जगह दिखती है। वह चाहे प्रेम की हत्या हो, या पति-पत्नी के संबंधों की हत्या हो, या आर्थिक

दबाव और मुश्किलों के बीच पूरे परिवार के साथ अपनी हत्या हो... महानगरीय जीवन से संबंधित कमलेश्वर के लघु-उपन्यास एक 'हत्या' के ही तो दस्तावेज हैं! यह हत्या किसलिए और क्यों, ये सवाल आज भी अनुत्तरित हैं। विकास का कोई विरोधी नहीं होता है, पर वह विकास का खाँका अपनी जमीन और उस जमीन पर रहने वाले हर मनुष्य के जीवन की स्थितियों और परिस्थितियों को ध्यान में रखकर तैयार किया गया हो! आधुनिक युग में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के कारण लोगों में उन परंपराओं और रूढ़ियों के प्रति आक्रोश पैदा हुआ है। जिसमें स्त्रियों, दलितों, आदिवासियों के साथ-साथ किसानों और मजदूरों का शोषण किया जा रहा था। इनसे इतर हमारे समाज में एक और वर्ग है, जो सदियों से मुख्यधारा का अंग नहीं माना गया। इन तबके को समाज ने किन्नर, खोजा, हिजड़ा आदि नाम से संबोधित किया है। फलतः समकालीन उपन्यासों में इन शोषित और वंचित लोगों के प्रतिरोध को साफ तौर पर देखा जा सकता है।

समकालीन उपन्यास नए विमर्शों के दौर से गुजर रहा है, जिसमें स्त्री, दलित, आदिवासी अपनी अस्मिता के लिए स्वयं लड़ रहे हैं, साथ ही मजदूरों और किसानों के लिए भी आज का लेखक-समाज सजग व सतर्क दिखाई पड़ता है। इसी कड़ी में हाशिये से भी हाशिये पर गया किन्नर समाज पर आज कुछ लेखकों का ध्यान गया है तथा उन्होंने उसे मुख्यधारा के समाज में जोड़ने का भरसक प्रयास किया है। इस दृष्टि से देखा जाए तो मैत्रेयी पुष्पा ने अपने उपन्यासों में स्त्री के अलग-अलग रूपों को दर्शाया है। स्त्री के संघर्षों की पैरवी करता हुआ इनका समस्त उपन्यास स्त्री मुक्ति की कामना करता है। जिसमें 'बेतवा बहती रही', 'इदन्नमम', 'झूलानट', 'अल्मा कबूतरी', 'चाक' आदि प्रमुख हैं। इसी कड़ी में प्रभा खेतान के उपन्यास स्त्री चेतना और प्रतिरोध को दर्शाता है। 'पीली आंधी' और 'छिन्नमस्ता' इसके उदाहरण हैं। कृष्णा सोबती के उपन्यासों में परिवार और समाज से विद्रोह करती हुई स्त्रियों का मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया गया है। स्त्री के मांसल रूप को दिखाने का साहस सर्वप्रथम सोबती ने ही किया। उनके प्रमुख उपन्यासों में 'जिन्दगीनामा', 'मित्रो-मरजानी', 'दिलोदानिश', 'ऐ लड़की', 'डार से बिछुरी', 'सूरजमुखी अँधेरे में' आदि हैं। नासिरा शर्मा का उपन्यास नारी जीवन की अंतर्जटिलता को बयाँ करता है। उनके लेखन में सांप्रदायिकता और विभाजन की त्रासदी का दंश झेलती हुई स्त्रियाँ अपनी अस्मिता बनाए रखने का प्रयास करती हैं। 'सात नदियाँ एक समंदर', 'शाल्मली', 'ठीकरे की मँगनी', 'जिंदा मुहावरे', 'अक्षयवट', 'कुइयाँजान' आदि उपन्यासों के माध्यम से नासिरा ने स्त्री जीवन के संघर्ष को एक अलग तरीके से प्रस्तुत किया है। ममता कालिया के उपन्यास रोजमर्रा के स्त्री जीवन के संघर्ष को अभिव्यक्त करता है। इनका लेखन पुरुष से स्त्री के संघर्ष को कमतर नहीं आँकता। इनकी रचना स्त्री के जीवन को पुरुष की अपेक्षा अधिक जटिल और विकट दिखाती है। ममता जी के उपन्यासों में 'दुःखम-सुखम', 'बेघर', 'एक पत्नी के नोटस' आदि प्रमुख हैं। मृदुला गर्ग के लेखन में स्त्री अपने स्वत्व की पहचान करती हुई नजर आती है। शोषण का प्रतिरोध करती हुई ये स्त्रियाँ अपना मार्ग खुद तलाश करती हैं। अपनी गौरव और अस्मिता बनाए रखने के लिए मृदुला जी की स्त्री समाज के खोखले नियमों को नकारती हैं। उनके उपन्यासों में इस चेतना को देखा जा सकता है— 'उसके हिस्से की धूप', 'कठगुलाब', 'मैं और मैं' आदि। उषा प्रियवंदा एक ऐसी लेखिका हैं, जो मध्यम वर्गीय स्त्रियों के जीवन के संघर्ष से जुड़ी पहलूओं पर विचार करती हैं। पढ़े-लिखे होने के बावजूद भी किस प्रकार

पितृसत्तात्मक समाज इसे रुढ़ियों से बांधे रखना चाहता है, इसे उन्होंने बखूबी दिखाया है। इस संदर्भ में ‘पचपन खंबे लाल दीवारें’, ‘रुकोगी नहीं राधिका’, ‘शेषयात्रा’, ‘अंतर्वशी’ आदि उपन्यासों को देखा जा सकता है। चित्रा मुद्गल की रचनाओं में स्त्री के शहरी संघर्ष को दर्शाया गया है। ‘आवाँ’, और ‘एक ज़मीन अपनी’ में इसकी झलक मिलती है। इस संदर्भ में स्त्रियों की मुक्ति की पैरवी करती हुई प्रभा खेतान कहती हैं ‘‘स्त्री को पहचान तभी मिलेगी जब वह मंच पर अपने निजी जीवन की समस्याओं को अभिव्यक्त करें और इसी आधार पर राजनैतिक रूप से एकबद्ध होकर संघर्ष करें।’’

आज का आदिवासी समाज जल, जंगल और जमीन के लिए लगातार संघर्षरत है। इसकी अभिव्यक्ति समकालीन हिंदी उपन्यासों में स्पष्टतः देखी जा सकती है। संजीव ने ‘किसनगढ़ की अहेरी’, ‘धार’, ‘सावधान नीचे आग है’, ‘पाँव तले की दूब’, ‘जंगल जहाँ से शुरू होता है’, ‘रह गयी दिशाएँ इसी पार’ इत्यादि उपन्यासों में आदिवासी समुदाय के शोषण-दमन का चित्रण किया है। पीटर पॉल एक्का ने अपनी कृति ‘जंगल के गीत’, ‘परती ज़मीन’, ‘सोन पहाड़ी’, ‘पलाश के फूल’ जैसे उपन्यासों में पलायन, विस्थापन, खत्म होते जंगल आदि अस्तित्व से जूझ रहे झारखंड के आदिवासी समाज की समस्याओं को दिखाया है। महुआ मांझी ने अपने उपन्यास ‘मरंग गोड़ा नीलकंठ हुआ’ में विकास के नाम पर लगाया गया कारखाना जिससे आदिवासी समाज में बढ़ती जा रही विकिरण, प्रदूषण और विस्थापन की मूल समस्या को उठाया है। ‘धुणी तपे तीर’ उपन्यास में हरिराम मीणा ने आदिवासियों की हत्या की तरफ ध्यान इंगित कराया है। रणेन्द्र ने अपने उपन्यास ‘ग्लोबल गाँव का देवता’ और ‘गायब होता देश’ में आदिवासी समाज के आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि विविध पहलुओं पर हो रहे शोषण-दमन को दिखाया है। मनमोहन पाठक कृत ‘गगन घटा घहरानी’ उपन्यास में झारखण्ड के सामंती व्यवस्था में पिसती हुई आदिवासी समुदाय के करुण गाथा का चित्रण किया है। पुन्नी सिंह कृत ‘पाथर घाटी का शोर’, राकेश वत्स कृत ‘जंगल के आस-पास’, तेजिन्दर सिंह कृत ‘काला पादरी’ आदि उपन्यासों में सरकार और पूंजीपति के द्वारा भूमंडलीकरण के दौर में विकास के नाम पर आदिवासियों का शोषण और दमन का चित्रण हुआ है। यह समुदाय वास्तव में सदियों से मुख्यधारा के द्वारा हाशिये पर ढकेला गया। समकालीन लेखकों का ध्यान शोषकों के प्रति किसानों में फूट रहे आक्रोश की ओर भी गया है। वर्षों से शोषित किसानों में आज जो नई चेतना का संचार हुआ है, समकालीन उपन्यास उसे अपनी अंतर्वस्तु में जगह दे रहा है। इसी क्रम में शिवमूर्ति की ‘आखिरी छलांग’, संजीव की ‘फाँस’ और पंकज सुबीर का ‘अकाल में उत्सव’ उपन्यासों में किसानों की आत्महत्या का दर्दनाक चित्रण देखा जा सकता है। कमलाकांत त्रिपाठी का उपन्यास ‘बेदखल’, ‘बाबा रामचंद्र’, और झिंगुरी सिंह द्वारा चलाए गए किसान आंदोलन को केंद्र में रखकर जमींदारों और बटाईदारों के संघर्ष को उजागर करता है। सुरेन्द्र स्निग्ध का उपन्यास ‘छाड़न’ जमींदारों के द्वारा किए जा रहे शोषण और महाजनी व्यवस्था पर चोट करने वाला उपन्यास है। समकालीन हिंदी उपन्यास मजदूर एकता और उसके संघर्ष को भी अपनी रचनात्मकता से नयी आवाज़ दे रहा है। इन लेखकों में जयनंदन का ‘श्रमेव जयते’, चित्रा मुद्गल का ‘आवाँ’, प्रभा खेतान का ‘तालाबंदी’, आदि का नाम उल्लेखनीय है। आवाँ में कामगार दिहाड़ी मजदूरों के संघर्ष को दिखाते हुए मजदूर यूनियन के अंतर्विरोध को बखूबी बयाँ किया गया है। श्रमेव जयते मालिकों के द्वारा श्रमिकों की एकता को खंडित कर अपना

स्वार्थ साधने से संबंध में लिखा गया उपन्यास है। तालाबंदी में मजदूर यूनियन के हड़ताल को दिखाते हुए, उसके अंतर्विरोध को दर्शाया गया है।

समकालीन समय में स्त्री, दलित, आदिवासी, किसान, मजदूर विमर्शों के दौर से गुजर रहा है। इससे इतर हमारे समाज का एक अंग जिसे किन्नर कहा जाता है, उस वर्ग पर भी बात करने की आवश्यकता है। आज कुछ लेखकों का ध्यान इन अंतरलिङ्गीय समुदाय की ओर गया है। उन्होंने इन किन्नरों को अपने उपन्यासों की कथावस्तु बनाया है। जिनमें नीरजा माधव का 'यमदीप' किन्नर समाज पर हिंदी में लिखा गया प्रथम उपन्यास है। इस उपन्यास में किन्नरों की मानवीय संवेदना से युक्त अभावग्रस्त किन्नरों के जीवन का उल्लेख किया गया है। महेन्द्र भीष्म का उपन्यास 'किन्नर कथा' जिसमें राजघराने में पैदा हुई किन्नर सोना के विस्थापन, दुःख और पीड़ा की संवेदनापूर्ण चित्रण किया गया है। प्रदीप सौरभ का उपन्यास 'तीसरी ताली' जिसमें ए. (आरा) बी.(बलिया) सी.(छपरा) डी.(देवरिया) जिले के नवाबों, लौंडे, लौंडोबाजों, गे, लेस्बियन, तथा किन्नरों की समस्याओं को बखूबी उठाया गया है। इसमें दिल्ली को केंद्र बनाकर पूरे भारत के किन्नर समुदाय की संस्कृति और परंपराओं को दिखाया गया है। वह पहले ऐसे उपन्यासकार हैं जिन्होंने किन्नर समाज के रहस्यमय तहखाने में जाने का प्रयास किया है एवं उनके आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक पहलुओं का शोधपरक अध्ययन किया है। निर्मला भुराड़िया कृत 'गुलाम मंडी' उपन्यास में किन्नरों के दर्दनाक जीवन तथा उनके मृत्यु संस्कार का वर्णन हुआ है। चित्रा मुद्गल के उपन्यास 'नाला सोपारा पोस्ट बाक्स नं. २०३' की कथावस्तु गुजराती परिवार में जन्में किन्नर विनोद जो घर से विस्थापित है। उसका पत्रों द्वारा अपनी माँ से संबंध बनाए रखना तथा अंत में उसकी माँ द्वारा उसे अपना लिया जाना, लेखिका ने पत्रात्मक शैली में बखूबी उल्लेख किया है। इस प्रकार महानगरीय जीवन की समस्याएं हिंदी कथा साहित्य में निरंतर प्रतिबिंबित हो रही हैं।

अस्सी के दशक में जब बड़ी मात्र में औद्योगीकरण का आरम्भ हुआ तब कई परिवर्तन आये। लेखक सूर्यनाथ सिंह लिखते हैं- “नई स्थितियों में महानगरों का आकार बढ़ने लगा, कल-कारखानों का आकार बढ़ने लगा था, रोजगार के प्रतिमान बदल चुके थे। पारंपरिक पेशों पर भारी उद्योगों की बुरी चोट पड़ी थी, जिसकी वजह से लोग गांवों को छोड़कर महानगरों में रोजगार की तलाश में पलायन करने लगे थे।... इस तरह की आधुनिकता की कोख से जन्मे तमाम सिद्धांत प्रश्रान्तित होने लगे, अप्रासंगिक सिद्ध होने लगे। साहित्य से 'वादों' का दौर समाप्त हो गया। अब कहानी अपनी रौ में बह चली थी। बिना किसी 'वाद' के। मुख्य धारा की तरह।”¹⁶

2.3 भूमंडलोत्तर कहानी

“गति, संकुचन और फ्यूजन इस समय के ऐसे अनिवार्य लक्षण हैं, जो लगभग मूल्य की तरह स्वीकार कर लिए गए हैं। ज्ञान का सूचना में, रचनात्मकता का उत्पादन में, उपलब्धि का जीत में प्रगति का गति में वस्तु का उत्पादन में, व्यक्ति का उपभोक्ता में और संबंधों का संभावित ग्राहक में रिड्यूस हो जाना भी इस समय की बड़ी विशेषताएं हैं।”

बढ़ते उपभोक्तावाद ने अपने समाज तथा लोक से कटी पीढ़ी को जन्म दिया है जो सामाजिक सरोकारों से विमुख है। अपने इतिहास, संस्कृति, कला, साहित्य को जानने में उसकी कोई रुचि नहीं दिखाई देती। सांस्कृतिक अवमूल्यन के इन सभी पहलुओं और महानगरीय जीवन की विद्रूपताओं-विडंबनाओं को 21वीं सदी की कहानी में बड़ी बारीकी से दर्ज किया जा रहा है। हरियश राय, एस.आर. हरनोट, योगेन्द्र आहूजा, राजेंद्र श्रीवास्तव, रघुनंदन त्रिवेदी, वंदना राग, संजय कुंदन, ओमा शर्मा, सत्यनारायण पटेल, मनोज रूपड़ा, राकेश मिश्र, राकेश बिहारी, बिपिन कुमार शर्मा, पंकज मित्र, मनोज पांडेय, चंदन पाण्डेय आदि कहानीकारों के नाम इस सन्दर्भ में लिए जा सकते हैं। संजय कुंदन की कहानियां महानगर के किस्से, श्यामलाल का अकेलापन, बाउंसर, हीरो तथा ओमा शर्मा की कहानियां ग्लोबलाइजेशन, कारोबार, घोड़े आदि कहानियां संवेदना की आद्रता लिए प्रौढ़ शिल्प से बुनी गई कहानियां हैं। संचार माध्यमों के सुलभ होने तथा सूचनाओं के सहजता से प्राप्त हो जाने से साहित्य में सामाजिक विसंगतियों पर जल्दी प्रतिक्रिया देखने को मिलती है। परिणामतः महानगरों की अद्यतन समस्याएं भी हिंदी कहानी में लगातार दर्ज की जा रही हैं। कोरोना महामारी तथा उससे बचाव के लिए लागू हुई पाबंदियों से महानगरों के वंचित वर्ग की दुर्दशा पर कुछ अच्छी कहानियां कई पत्रिकाओं में प्रकाशित हुई हैं। इस सन्दर्भ में पहल के अप्रैल 2021 के अंक में प्रकाशित राजेंद्र श्रीवास्तव की कहानी 'मकड़जाल' का उल्लेख करना उचित होगा जिसमें महामारी में बंदी से वेश्याओं के जीवन पर पड़े असर को बड़े मर्मस्पर्शी रूप में अभिव्यक्त किया गया है। 21वीं सदी की कहानी वैज्ञानिक चेतना, अद्यतन सूचनाओं से लैस तथा विचारधारा के शोरगुल और भावुकता से मुक्त, परम्पराओं के पुराने पाठ से इतर नए पाठ गढ़ती कहानी है।

आज के समय की सबसे महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह अत्यंत गतिशीलता और त्वरा का समय है। परिवर्तन बहुत तेजी से घाट रहे हैं। ऐसे में अपने परिवेश को देखने-समझने के लिए तीखी दृष्टि और आलोचनात्मक विवेक की आवश्यकता है। साहित्यकार इस तेजी से बदलते समय को अपनी कहानियों में दर्ज करने का प्रयास कर रहे हैं। कथाकार आलोचक हरियश राय इस सम्बन्ध में लिखते हैं- “आज बदलते समय एं कहानी लगातार बदल रही है। हमारे समय के कई संवेदनशील कथाकार इस बदलते समय की नब्ज को अपनी कहानियों के सहारे टटोल रहे हैं और अपनी दृष्टि से अपने समय की आलोचना भी कर रहे हैं। आज लिखी जा रही कहानियां बदलते समय के सामाजिक व आर्थिक विषयों को और मानव मन के अंतर्जगत को केंद्र में रखती हैं। कहानियों में हमारा बदलता समय ठीक उसी रूप में नहीं आता जिस रूप में दिखाई देता है। वह अपने कथाकार की कल्पनाओं, रूपकों और भावों द्वारा रूपायित होता है।”¹⁷

हिंदी कहानी की अब तक की विकासयात्रा में अनेक ऐसे पड़ाव हैं जिनको एक बड़े परिवर्तन के रूप में और साहित्य में नयी प्रवृत्तियों को जन्म देने वाले प्रस्थान बिंदु के रूप में लक्षित किया जा सकता है। निश्चित रूप से ये परिवर्तन युगीन सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों की देन होते हैं। स्वतंत्रता के बाद का समय हो, पचास के दशक में मध्यवर्ग का विकसित होना और इस मध्यवर्ग का हिंदी साहित्य का केन्द्रीय विषय बन जाना, फिर नयी

कहानी आन्दोलन, 70 के दशक में कई अन्य साहित्यान्दोलन, आपातकाल के बाद का समय और फिर उदारीकरण के बाद का दौर इन सभी के काल खण्डों में हिंदी कहानी के कथ्य और प्रवृत्तियों में परिवर्तन होता रहा।

बीसवीं शती के अंतिम दशक में दुनिया में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जिन्होंने दुनिया के सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक परिदृश्य को बदल दिया। यह समय बाजारवाद, खुली अर्थव्यवस्था, भूमंडलीकरण और उपभोक्तावाद के दुनिया भर में फैलने का समय था। यह विचारधाराओं के प्रभावहीन होने का भी समय था। सोवियत संघ के विघटन के बाद फ्रांसिस फुकोयामा ने अपनी पुस्तक 'द एंड ऑफ हिस्ट्री एंड द लास्ट मैन' में यह घोषणा की कि इस सदी के अंत में विचारधाराओं की कोई अहमियत नहीं है और पश्चिम का उदारवादी प्रजातंत्र ही मानव समाज की समृद्धि और सुख चैन का वह शिखर है जिसके आगे और कुछ नहीं। भारत में यह समय अस्मिताधारित राजनीति के उभार का युग था।

भूमंडलीकरण और उदारीकरण के दौर में, जहाँ दुनिया एक बाज़ार में रूपांतरित हो गयी है, पूंजी एक छोटे से वर्ग के हाथों में केंद्रित हो गयी है जिसका लक्ष्य अधिक से अधिक मुनाफा कमाना है। मुनाफे की इस संस्कृति से उपजी बेईमानी, भ्रष्टाचार और दिखावे के परिणामस्वरूप सांस्कृतिक अवमूल्यन, मूल्यों के प्रति वितृष्णा, संबंधों में स्थायित्व का अभाव दिशाहीनता, कुंठा, अवसाद, वैयक्तिक विघटन, हिप्पोक्रेसी जैसी समस्याएं पैदा हुई हैं। महानगरों में हुए असमान विकास और तीव्र आधुनिकीकरण से यहाँ विस्थापन, कार्पोरेट संस्कृति का व्यक्तित्व को खंडित कर देने वाला दबाव, कृत्रिम जीवन के परिवेश में उपर्युक्त समस्याओं को भयावह रूप में देखा जा सकता है। नब्बे के दशक में हुए इन सामाजिक आर्थिक परिवर्तनों ने हिंदी कहानी की दशा और दिशा निर्धारित की है इस कारण आज के समय में लिखी जा रही कहानी को इक्कीसवीं सदी की कहानी के स्थान पर नब्बे के बाद की कहानी कहना अधिक उपयुक्त होगा। “पिछले तीस बरस में जितनी तेजी से बदलाव दर्ज हुए उतने एक छोटे कालखंड में शायद कभी नहीं हुए। एकदम से दुनिया की दूरियां मिट गयीं, संस्कृतियों का अचानक सहमेल बढ़ गया। मानवीय मूल्यों में बहुत कुछ टूटना-फूटना शुरू हो गया। रचनात्मक धाराएं भी पूर्व स्थापित वैचारिक और सैद्धांतिक घेरेबंदियाँ तोड़कर मुक्त भाव से बढ़ने, बिचरने लगीं। उनके सामने जीवन का एक नया और असीमित क्षितिज खुल गया था। इस तरह यह सदी परिवर्तन और विचलन दोनों के प्रतिमान के साथ आई।”¹⁸

अनेक समर्थ कहानीकारों ने महानगरीय जीवन की विद्रूपताओं और विडम्बनाओं को अभिव्यक्ति दी है। कथ्य के परिवर्तन के साथ-साथ इस समय की कहानियों में शैलिक विशिष्टता भी देखी जा सकती है। आज कि कहानी में विचारधाराओं का शोर और लेखक संगठनों का दबाव नहीं है। अधिक सूचनासम्पन्नता, वैज्ञानिक चेतना और अंधश्रद्धा निर्मूलन की भावना से ओतप्रोत, पुरानी भावुक शैली के स्थान पर अधिक यथार्थपरक शैली, नैतिकताओं के आग्रह की उपेक्षा कर, परंपराओं के नए और आधुनिक पाठ से युक्त, विषय कि संश्लिष्टता को समझकर आज कहानी लिखी जा रही है। पंकज मित्र की कहानी पड़ताल(क्विजमास्टर) संचार माध्यमों के आने से बिखराव आता है। कहानी में किशोरी बाबू बीमार होकर मर भी जाते हैं लेकिन घर के लोगों का टीवी प्रेम कम नहीं होता। कहानी की अंतिम पंक्तियाँ हैं- “देर रात अमिताभ बच्चन चीखता रहा। असामाजिक तत्वों को पीटता रहा। सभी ने निश्चिन्त होकर चीखें

सुनी। पिटाई देखी। दांत पीस-पीसकर दुनिया को जलाकर राख कर देने वाले डायलॉग सुने और परमतृप्ति के साथ सोये और सुबह ही किशोरी बाबू मरे हुए पाए गए, बरसाती में चौकी पर... सीने पर हाथ धरे।”¹⁹ भूमंडलीकरण ने ऐसे समाज का निर्माण किया अहि जहाँ बुजुर्गों की, रिश्तेदारों की, पड़ोसियों की कोई जगह नहीं। ऐसा आत्मीयता शुष्क समाज प्रगतिशील और समावेशी मूल्यों को जन्म नहीं दे सकता।

बीसवीं शती के अंतिम दशक में दुनिया में कुछ ऐसे परिवर्तन हुए जिन्होंने दुनिया के सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक परिदृश्य को बदल दिया। यह समय बाजारवाद, खुली अर्थव्यवस्था, भूमंडलीकरण और उपभोक्तावाद के दुनिया भर में फैलने का समय था। यह विचारधाराओं के प्रभावहीन होने का भी समय था। सोवियत संघ के विघटन के बाद फ्रांसिस फुकोयामा ने अपनी पुस्तक ‘एंड ऑफ़ दि हिस्ट्री एंड दि लास्ट मैन’ में यह घोषणा की कि इस सदी के अंत में विचारधाराओं की कोई अहमियत नहीं है और पश्चिम का उदारवादी प्रजातंत्र ही मानव समाज की समृद्धि और सुख चैन का वह शिखर है जिसके आगे और कुछ नहीं। भारत में यह समय अस्मिताधारित राजनीति के उभार का युग था।

अनेक समर्थ कहानीकारों ने महानगरीय जीवन की विद्रूपताओं और विडम्बनाओं को अभिव्यक्ति दी है। कथ्य के परिवर्तन के साथ-साथ इस समय की कहानियों में शैल्पिक विशिष्टता भी देखी जा सकती है। आज की कहानी में विचारधाराओं का शोर और लेखक संगठनों का दबाव नहीं है। अधिक सूचनासम्पन्नता, वैज्ञानिक चेतना और अंधश्रद्धा निर्मूलन की भावना से ओतप्रोत, पुरानी भावुक शैली के स्थान पर अधिक यथार्थपरक शैली, नैतिकताओं के आग्रह की उपेक्षा कर, परंपराओं के नए और आधुनिक पाठ से युक्त, विषय की संश्लिष्टता को समझकर आज कहानी लिखी जा रही है। ओमा शर्मा की कहानियां जैसे- घोड़े, ग्लोबलाइजेशन, कारोबार, वास्ता, महत्तम समापवर्त्य, कुतरवा आदि कहानियां आज की महानगरीय जीवन की सच्चाई को उद्घाटित करती कहानियां हैं। ‘घोड़े’ महानगरों की निरर्थक भागमभाग, पहचान के संकट और जीवन में विफलताबोध की कहानी है। घोड़े, रेस, जॉकी आदि के रूपक से कहानीकार ने महानगरों में अस्थायीय सम्बन्ध तलाशते, अपराधबोध में दबे और अरुचिकर कामों में अपना वक्त काटते एक प्रतिभावान व्यक्ति का चित्रण है। कहानी में लेखक एक पात्र के माध्यम से प्रश्न करता है- ‘गृहस्थी, तिहाड़ और तंदूर के बीच फर्क रहना चाहिए या नहीं?’ यह प्रश्न आज के महानगरीय जीवन की कड़वी और भयावह सच्चाई को उद्घाटित करता है।

हिंदी कहानी की अब तक की विकासयात्रा में अनेक ऐसे पड़ाव हैं जिनको एक बड़े परिवर्तन के रूप में और साहित्य में नयी प्रवृत्तियों को जन्म देने वाले प्रस्थान बिंदु के रूप में लक्षित किया जा सकता है। निश्चित रूप से ये परिवर्तन युगीन सामाजिक आर्थिक और राजनैतिक परिस्थितियों की देन होते हैं। स्वतंत्रता के बाद का समय हो, पचास के दशक में मध्यवर्ग का विकसित होना और इस मध्यवर्ग का हिंदी साहित्य का केन्द्रीय विषय बन जाना, फिर नयी कहानी आन्दोलन, 70 के दशक में कई अन्य साहित्यान्दोलन, आपातकाल के बाद का समय और फिर उदारीकरण के बाद का दौर इन सभी के काल खण्डों में हिंदी कहानी के कथ्य और प्रवृत्तियों में परिवर्तन होता रहा।

संदर्भ सूची

- ¹ कमलेश्वर (संपादक), स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, दिल्ली, 2005, पृष्ठ सं.- 10
- ² मार्क्स, कार्ल, भारत संबंधी लेख, (अनुवाद- ओम प्रकाश संगल) पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, 2009, पृष्ठ सं. 10
- ³ राय, विभूति नारायण, (संपादक), कथा साहित्य के सौ बरस, शिल्पायन, दिल्ली, 2015, पृष्ठ सं. 30
- ⁴ मिश्र, रामदरश, हिंदी उपन्यास: एक अंतर्यात्रा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2012, पृष्ठ सं. 12
- ⁵ लाला श्रीनिवास दास, परीक्षागुरु, कलकत्ता पुस्तक भंडार, कलकत्ता, पृष्ठ सं. 3
- ⁶ तिवारी, डॉ. रामचंद्र, हिंदी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2014, पृष्ठ सं. 149
- ⁷ प्रेमचंद की प्रगतिशीलता: बजरिए नामवर सिंह, प्रो. नवल किशोर, बनास जन, जुलाई 2014, अंक-9, पृ. सं-15
- ⁸ सिंह, मुरली मनोहर प्रसाद, अवस्थी, रेखा, प्रेमचंद: विगत महत्ता और वर्तमान अर्थवत्ता, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2006, पृष्ठ सं. 56
- ⁹ राय, गोपाल, हिंदी कहानी का इतिहास, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2018, पृष्ठ सं. 145
- ¹⁰ राय, विभूति नारायण, (संपादक), कथा साहित्य के सौ बरस, शिल्पायन, दिल्ली, 2015, पृष्ठ सं. 435
- ¹¹ संपादकीय वक्तव्य, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी, संपादक- कमलेश्वर, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, दिल्ली, पृष्ठ सं. 10
- ¹² पाण्डेय, मैनेजर, साहित्य के समाजशास्त्र की भूमिका, हरियाणा हिंदी ग्रन्थ अकादमी, पंचकूला, हरियाणा, 1989, पृष्ठ सं. 33
- ¹³ तिवारी, डॉ. रामचंद्र, हिंदी का गद्य साहित्य, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, 2014, पृष्ठ सं. 269
- ¹⁴ सरावगी, अलका, एक ब्रेक के बाद, आधार प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, हरियाणा, 2003, पृष्ठ सं-149,
- ¹⁵ वह मैं ही थी, स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी, संपादक- कमलेश्वर, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, दिल्ली, पृष्ठ सं. 355
- ¹⁶ इक्कीसवीं सदी की कहानियां: कहानी का बदलता केंद्र, सूर्यनाथ सिंह, परिकथा, सितंबर-अक्टूबर 2022, नई दिल्ली, संपादक- शंकर, पृष्ठ सं- 56
- ¹⁷ हाल फिलहाल की कहानियां, हरियश राय, परिकथा जनवरी-फरवरी 2022, सम्पादक- शंकर, पृष्ठ सं. 183
- ¹⁸ इक्कीसवीं सदी की कहानियां: कहानी का बदलता केंद्र, सूर्यनाथ सिंह, परिकथा, जुलाई-अगस्त, सितम्बर-अक्टूबर, 2022, पृष्ठ सं. 54
- ¹⁹ मित्र, पंकज, क्विजमास्टर तथा अन्य कहानियाँ, आधार प्रकाशन, पंचकूला, हरियाणा, 2011, पृष्ठ सं. 96

तृतीय अध्याय:

महानगरीय यथार्थ के परिप्रेक्ष्य में शैलेश मटियानी का साहित्य

3.1. शैलेश मटियानी का कथा साहित्य :-

शैलेश मटियानी ने किशोरावस्था में ही साहित्यिक चेतना से हीन परिवेश साहित्यकार बनने का निर्णय लिया था। जीवन की प्रतिकूल परिस्थितियों ने उनको अध्ययन, लेखन से दूर करने का पूरा प्रयास किया लेकिन वे अपने निर्णय पर अडिग रहे। चार दशकों से अधिक की रचना यात्रा में उन्होंने 30 उपन्यास, 7 लोक कथा संग्रह, 16 बाल साहित्य की पुस्तकें, 3 गाथा, 3 संस्मरण, वैचारिक निबंध की 13 पुस्तकें लिखीं। कुल मिलाकर 100 से भी अधिक पुस्तकों की रचना उन्होंने की। उनकी पुस्तक 'खांसी को फांसी' के एकांकी ध्वनिरूपकों का आकाशवाणी से प्रसारण हुआ है तथा बीबीसी, लंदन ने उनकी कहानी 'दो दुखों का एक सुख' का नाट्यरूपान्तरण प्रसारित किया है। उनकी कुछ कहानियों का मूल्यांकन करते हुए अपने एक साक्षात्कार में राजेंद्र यादव ने कहा था कि- 'वे (मटियानी) उन कहानीकारों में हैं जिनके पास सबसे अधिक की संख्या में, 10-12 की संख्या में ए-वन कहानियाँ हैं। प्रेमचंद सहित सबके पास 5-6 से ज्यादा टॉप की कहानियाँ नहीं हैं, जो अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर खड़ी हो सकें।'¹

उन्होंने 1952 से 1957 तक का समय फुटपार्थों पर काफी संघर्ष करते हुए बीता। जूते-चप्पल चुराने, अपना खून बेचने, जेल में बंद होने, चोरी करने, भिखारियों की पंक्ति में बैठकर खाना खाने, दफा चौपन में बंद होने जैसे अशोभनीय कार्य उन्हें करने पड़े। मुंबई में साढ़े तीन वर्षों तक वे 'कृष्णपुरी चाट हाउस' में बर्तन साफ करने का काम करते रहे। उसी समय उन्होंने शहरी जीवन की विसंगतियों, अभावग्रस्त और हाशिए पर पड़े लोगों को देखकर अनेक महत्वपूर्ण उपन्यास लिखे। कई लेखकों तथा मित्रों के सुझाव पर वे अपने गाँव बाड़ेछीना लौट गए किन्तु साहित्य साधना निरंतर चलती रही। 1965 में किताबमहल प्रकाशन के संचालक श्रीनिवास अग्रवाल के आमंत्रण पर शैलेश जी इलाहाबाद पहुंचे। वहाँ उन्होंने 'दो दुखों का एक सुख', 'भागे हुए लोग', 'मंजिल दर मंजिल', 'कोई अजनबी नहीं', 'दो बूंद जल' आदि उपन्यासों का सृजन किया। बाद में वे विकल्प प्रकाशन से अपनी किताबें स्वयं प्रकाशित करने लगे तथा 'विकल्प' और 'जनपक्ष' नाम की पत्रिकाएँ भी शुरू कीं।

कुमायूं और मुंबई उनकी रचनात्मकता के दो केंद्र रहे। एक ओर उन्होंने उत्तराखंड के पर्वतीय अंचल के सामाजिक, सांस्कृतिक और राजनीतिक परिवेश का यथार्थ चित्रण किया है, उसी तरह महानगरीय परिवेश की उन स्थितियों का भी चित्रण किया है, जिसमें पिछड़े और अभावग्रस्त वर्ग के लोग अपनी ज़िंदगी की चुनौतियों को झेल रहे हैं।

शैलेश मटियानी का महानगर केन्द्रित साहित्य

शैलेश मटियानी का बचपन अल्मोड़ा अंचल के गहन प्राकृतिक सौन्दर्य, हरी घाटियों, हिमाच्छादित विशाल पहाड़ों के बीच बीता लेकिन बहुत अधिक समय तक वे इस शांत-सुरम्य वातावरण में न रह सके। माता-पिता की असमय मृत्यु, अन्य परिजनों द्वारा किए जाने वाले दुर्व्यवहार तथा घोर अर्थाभाव के कारण 1951 में 20 वर्ष की

अवस्था में उन्होंने घर छोड़ दिया और दिल्ली चले गए। इसके बाद लगभग 5 वर्ष वे विभिन्न शहरों में मजदूर और घरेलू नौकर के रूप में काम करते रहे। यहाँ तक कि अपने प्रारंभिक दो उपन्यास ‘बोरीवली से बोरीबंदर तक’, ‘कबूतरखाना’ तथा अनेक कहानियाँ उन्होंने मुंबई में एक चाट की दुकान ‘कृष्णापुरी चाट हाउस’ में जूठी प्लेटें धोने का काम करने के दौरान लिखे थे।

इस भीषण संघर्ष के समय में उन्होंने महानगरों की समस्याओं को सिर्फ देखा ही नहीं बल्कि भोगा भी। महानगरों पर केन्द्रित कथा साहित्य में मटियानी जी ने आर्थिक असमानता, असंगठित कर्मचारियों तथा शहरों में आजीविका कमाने के उद्देश्य से आए लोगों की दुर्दशा, देहव्यापार में धकेल दी गई स्त्रियों के त्रासद जीवन, धनाढ्य तथा शक्ति संपन्न वर्ग के पाखंड, फिल्म निर्माण तथा पत्रकारिता जैसे चकाचौंध और दूर से आकर्षक लगने वाले व्यवसायों की आंतरिक विसंगतियों पर अनेक आयामों से लेखन किया। उनके छोटे-बड़े कुल 30 उपन्यासों में से 16 उपन्यास तथा लगभग 200 कहानियों में से आधे से अधिक महानगरीय जीवन पर केंद्रित हैं। मटियानी जी ने अपने कथा साहित्य में सिर्फ अपने देखे-भोगे को शब्दबद्ध ही नहीं किया और न ही उनका लेखन उपेक्षित वर्ग के दुखों का वर्णन मात्र है बल्कि उनका सम्पूर्ण कथा साहित्य चिंतन की ठोस आधारभूमि पर सृजित है। यह हाशिये पर पड़े लोगों से उनके गहरे समानुभूतिपूर्ण जुड़ाव से उपजा साहित्य है। यह विशिष्टता ही उनके साहित्य को अर्थवत्ता और प्रमाणिकता प्रदान करती है। लोक से निकटता उनकी भाषा को प्रभावशाली बनाती है।

मटियानी जी ने महानगरीय जीवन पर केन्द्रित लेखन का आरंभ बीसवीं शती के छठे दशक में किया था। देश की राजनीति में यह प्रधानमंत्री नेहरू का युग था। देश दासता की धूल को झाड़-पोंछकर अपने बल-बूते खड़ा हो रहा था। विकास की अनेक परियोजनाएं चल रही थीं। प्रधानमंत्री नेहरू ने बांधों को आधुनिक भारत के मंदिर कहा था। लेकिन मटियानी जी ने महानगरों में उस वर्ग की वेदना को महसूस किया जो स्वतंत्र भारत में भी गुलामी की जंजीरों से जकड़ा हुआ था। जो विकास की परियोजनाओं से कोसों दूर था। मटियानी जी विकास की उस गति के समानांतर हाशिये पर पड़े लोगों का एक विमर्श रचते हैं जिनके लिए दो जून की रोटी का जुगाड़ हो जाना ही विकास है। उनके पास महानगरों के फुटपाथों पर पलने वाली जिंदगी के अनुभव थे। गुंडे, मवाली, झोपड़पट्टी की वेश्याएं, भिखमंगे, कोढ़ी, जेबकतरे, चाकूबाज़ लोगों से उनका वास्ता खूब पड़ा था। इस दृष्टि से देखें तो उनके पास जो अनुभव है, वह आतंकित और भयभीत करने वाला है। उन बुरी परिस्थितियों से गुजरने के बाद भी उनके मन में मानवता और मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था है, इससे उनके प्रतिबद्ध लेखक होने का प्रमाण मिलता है। आलोचक मधुरेश ने उनके कथा साहित्य का मूल्यांकन इन शब्दों में किया है- “नयी कहानी के पूरे दौर में अपने समकालीन दूसरे कहानीकारों के बीच अनुभवसंपन्नता के एक भिन्नस्तरीय और अपेक्षाकृत व्यापक उपयोग की दृष्टि से शैलेश मटियानी बहुत कुछ अलग स्थान रखते हैं। अपनी परवर्ती कहानियों में भी शैलेश मटियानी अपनी पिछली अनुभवसंपन्नता का भरपूर उपयोग करते हुए दिखाई देते हैं।”²

शैलेश मटियानी के महानगरीय जीवन पर केन्द्रित कथा साहित्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है –

अपने आरंभिक साहित्यिक यात्रा में उन्होंने कविताएँ लिखीं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हुईं। बाद में कथा लेखन में प्रवृत्त हो जाने पर कविता लिखना बहुत कम होता गया। उनके कुल 29 उपन्यास प्रकाशित हैं। शैलेश के जीवन और साहित्य के कई परिचित विद्वानों का कहना है कि ‘उनके 11 उपन्यास अप्रकाशित हैं।’³ इन 29 उपन्यासों में अल्मोड़ा, नैनीताल, इलाहाबाद जैसे नगरों तथा बम्बई, दिल्ली जैसे महानगरों पर केन्द्रित 16 उपन्यास हैं। कुल 210 से अधिक प्रकाशित कहानियों में से कई दर्जन नगरों पर केन्द्रित हैं, जिनमें ‘इब्बू मलंग’,

‘विट्ठल’, ‘चिथड़े’, ‘इल्ले स्वामी’, ‘प्यास’, ‘एक कोप चा: दो खारी बिस्कुट’, ‘ये इंसान’, ‘जिसकी जरूरत नहीं थी’, ‘पत्थर’, ‘वापसी’, ‘उठाईगीर’, ‘शरण्य की ओर’, ‘भय’, ‘मैमूद आदि उल्लेखनीय हैं।

3.1.1. उपन्यास

1. बोरीवली से बोरीबंदर तक (1959)

लेखक का यह पहला ही उपन्यास तत्कालीन बम्बई महानगर पर केन्द्रित है। जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है, यह बम्बई के बोरीवली से बोरीबंदर नामक दो स्टेशनों के बीच रहने वाले गरीब, निराश्रित, गंभीर बीमारियों से पीड़ित बेसहारा लोगों के जीवन का बेबाक और प्रकृतिवादी शैली में चित्रण किया गया चित्रण है। लेखक स्वयं अपने घर की परिस्थितियों से निराश हो घर से भागकर बम्बई आ गए थे। लंबे समय तक भूख सहने, फेंके हुए जूठे भोजन से पेट भरने के बाद वे श्रीकृष्णापुरी चाट हाउस में बर्तन साफ करने का काम करने लगे, इन्हीं मजदूरी के दिनों में 1955-56 में उन्होंने यह उपन्यास लिखा। रोचक बात यह है कि उपन्यास में भी ‘वीरेन’ नाम का एक युवा नौकरी की तलाश में अपने एक साथी के साथ बम्बई आता है। अतः यह स्पष्ट है कि यह उपन्यास लेखक के स्वयं के अनुभवों, संघर्षों पर आधारित है। यदि यह उपन्यास मात्र लेखक के अपने व्यक्तिगत अनुभवों पर केन्द्रित होता तब यह पाठकों के लिए बहुत उपयोगी नहीं होता। एक साहित्यिक कृति के रूप में भी इसकी उपयोगिता पर संदेह होता। किंतु लेखक ने इस क्षेत्र में रहने वाले लोगों और जनजीवन का जो यथार्थपरक चित्रण किया है, वह इसे महत्वपूर्ण कृति बनता है। “इसमें बम्बई के अभिजात्य वर्ग की विलासिता और संवेदनशून्यता तथा बम्बई में फुटपाथी जीवन व्यतीत करने वाले मवाली, चोर, भिखमंगे, उचक्के, गिरहकट, वेश्याओं आदि के नारकीय जीवन का यथातथ्यात्मक और मर्मस्पर्शी चित्रण किया गया है।”⁴ वीरेन के रूप में शैलेश ही अपने आसपास बिखरे दैन्य को देख रहे थे, रोटी के लिए मानवीय गरिमा को दांव पर लगता देख रहे थे। वे यह भी देख रहे थे कि चरम निराशा के समय में भी आशा की लौ जल रही है और जीवन चल रहा है।

2. कबूतरखाना (1960)

यह उपन्यास बम्बई के एक कुख्यात मोहल्ले ‘भूलेश्वर’ पर केन्द्रित है। महानगरों में घोर विषमता के वातावरण में धनिक और वंचित, दो विपरीत ध्रुवों पर जीवन जीते दिखाई देते हैं। एक वर्ग के पास धन और संसाधनों का प्राचुर्य है दूसरा वर्ग दो जून की रोटी के लिए तरस रहा है। बम्बई जैसे महानगर में तो यह दोनों विपरीत ध्रुव कुछ मीटर की दूरी पर पाए जाते हैं। संपन्न घरों धन के साथ क्लेश, झगड़े, पारिवारिक तनाव और विवाहेतर संबंधों की समस्याएं भी हैं। इन समस्याओं से निजात पाने के लिए गणपत ‘रामा’ जैसे गरीब नौकर शोषण का शिकार बनते हैं। उपन्यास का शीर्षक एक बेसहारा और शोषित जीवन की ओर संकेत करता है। उपन्यास में एक ओर अर्थाभाव से जूझ रहे और शोषण का शिकार हो रहा नौकर- मजदूर वर्ग है दूसरी ओर इन पर अत्याचार करने वाला पूंजीपति वर्ग है। इसके पात्र गणपत रामा को उसका मालिक झूठे आरोप लगाकर काम से निकल देता है।

श्रमिक वर्ग के अतिरिक्त उपन्यास में वेश्याओं के जीवन के संकटों का भी वर्णन है। अपमान और असुरक्षा का जीवन जी रही वेश्याएं, अपने अंधकारमय भविष्य को लेकर चिंतित रहती हैं। लेखक ने पुस्तक के आरंभ में ही कहा है कि यह उपन्यास बम्बई के पूरे जनजीवन पर न होकर भूलेश्वर की सेठ-सेठानियों, नौकर और

वेश्याओं की जिंदगी पर केन्द्रित है। उपन्यास के विषय में प्रकाशक ने आमुख में लिखा है- “कबूतरखाना, एक पंख नोंचे हुए कबूतर की अंदरूनी तड़प और बाहरी गुटुरगूं की एक बोलती हुई तस्वीर है। बम्बई के सेठ-सेठानियों के कबूतरनुमा नौकर गणपत रामा की मुंहबोली दास्तान है और अंतस को अकुला, मस्तिष्क को झकझोर देने वाली आपबीती अनुभूतियों का एक ढांचा है, जिसकी पसली-पसली आतशी शीशे का एक चटका हुआ टुकड़ा है और जिसका रेशा-रेशा एक रिसता हुआ नासूर!”⁵ लेखक पूंजीपतियों को रावण कहकर अपना आक्रोश व्यक्त करते हैं और उनके पाखण्ड को उघाड़ते हैं।

3. किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई (1961)

यह उपन्यास बम्बई में आपराधिक प्रवृत्ति के ‘वस्ताद’ तथा उनके द्वारा अपराध करने के लिए प्रशिक्षित किए जा रहे ‘पोपट’ के बीच संवाद की शैली में लिखा गया है। कमाठीपुरा, गोलपीठा जैसे स्थानों पर आजीविका कमाने के लिए वेश्यावृत्ति करती हैं। उनकी अवैध संतानें संरक्षण तथा पालन-पोषण से वंचित रह जाती हैं। ऐसे बच्चों पर ‘वस्तादों’ की नजर रहती है। वे उन्हें पाल पोसकर बड़ा करते हैं, अपराधों के लिए प्रशिक्षित करते हैं और ‘पोपट’ नाम देते हैं। नर्मदाबेन और गंगूबाई, इन दो पात्रों के माध्यम से लेखक महानगरों में दो प्रकार की स्त्रियों की चर्चा करते हैं। एक तरफ नर्मदाबेन है जो अपने धन का दुरुपयोग करती है। अपनी शारीरिक इच्छाओं के लिए वह नए-नए पुरुषों से संबंध स्थापित करती है। वहीं गंगूबाई एक स्वाभिमानी स्त्री की प्रतीक है। वह विधवा है तथा निर्धन भी। वह मेहनत मजदूरी कर अपना जीवन गुजारती है।

इस उपन्यास में लेखक ने स्त्री-पुरुष संबंधों में अविश्वास तथा सेक्स ग्रंथियों आदि के विषय में भी लिखा है। बम्बई के सेठों की स्वेच्छाचारिता के संबंध में भी लिखा है जो वेश्यालयों में जाते हैं और अपने पैसों का दुरुपयोग कर दूसरों का अनादर करते हैं। पति के वेश्यालयों के चक्कर काटने के कारण सेठ नगीनदास की पत्नी अत्यंत चिंतित रहती हैं। इससे लेखक यह बताते हैं कि धन की अधिकता होने के बावजूद धनिक घरों की स्त्रियाँ भी स्वतंत्र और प्रसन्न नहीं हैं। लेखक अपना मंतव्य प्रकट करते हैं कि बेड़ियाँ लोहे की हों या सोने की, वे मनुष्य की स्वतंत्रता को नष्ट करने वाली ही होती हैं। “यह शहर एक ओर भारत की आर्थिक राजधानी का शहर। ऊँची इमारतें, दूर तक फैली झोपड़पट्टियाँ, फुटपाथों पर जीवन बिताते गरीब लोग, पहाड़ों से भागे गई लड़कियाँ जो वेश्या व्यवसाय करने के लिए मजबूर, उनकी दलाली करते दल्लाल, अपनी कामवासना की तृप्ति के लिए भटकते धनिक लोग नौकरों का दैहिक शोषण करती नर्मदाबेन जैसी महिलाएं”⁶ आदि सभी विषय इस उपन्यास में हैं।

4. मंजिल दर मंजिल (1966)

इस उपन्यास में श्रमिक वर्ग की पीड़ा का चित्रण है, साथ ही एक स्त्री के संघर्ष और उसकी मनःस्थिति को भी उजागर किया गया है। दो भिन्न कथाएँ तथा दो भिन्न समस्याएँ इसमें समानांतर चलती हैं। महानगरों में रोजगार के लिए प्रतिद्वंद्विता एक सामान्य बात है। रोजगार पाने के लिए वे हर सिद्धांत से समझौता करने को तैयार रहते हैं। उपन्यास में एक शोषित मजदूर की कहानी है जो हर संभव प्रयास कर अपनी नौकरी बचाना चाहता है। रोजगार के बिना उसका जीवन कैसे चलेगा, इसकी कल्पना भी उसको डराती है। नौकरी का मोह वह फिर भी नहीं छोड़ पाता जब उसे पता चलता है कि उसका मालिक उसकी पत्नी से दुर्व्यवहार करता है। कार्यस्थलों का यांत्रिक जीवन और मजदूर का लोभी स्वाभाव उसके अंदर के संवेदना के रस को सुखा डालते हैं। कहानी का यह दृश्य अत्यंत वीभत्स है जब नौकर नौकर देखता है कि उसका मालिक उसकी पत्नी से बलात्कार कर रहा है लेकिन फिर भी नौकरी

छूटने के डर से इसका विरोध नहीं करता। स्वयं के अपमान तथा पति के इस सीमा तक संवेदनहीन हो जाने से वह महिला मानसिक रूप से टूट जाती है और आत्महत्या कर लेती है।

यह पति के मानवीय मूल्यों के हास के साथ उस पत्नी की बेबसी की भी कहानी है जो अनेक प्रकार के शोषण सहते हुए अपने परिवार को आर्थिक सहायता प्रदान करने के उद्देश्य से नौकरी करती है। लेखक इस ओर भी पाठकों का ध्यान खींचना चाहते हैं कि क्या हमारा समाज अर्थकेंद्रीयता के उस स्तर की ओर बढ़ रहा है जहाँ मानवीय मूल्यों का कोई महत्व नहीं होगा। क्योंकि इस स्तर तक न सही लेकिन अपने सिद्धांतों से समझौता करते लोग तो हमें हर जगह दिख जाते हैं।

5. बर्फ गिर चुकने के बाद (1975)

बम्बई प्रवास के दौरान लेखक को फिल्म जगत से जुड़े लोगों के संघर्ष के विषय में भी पता चला। बम्बई के आरंभिक दिनों में जिन बाबूराम जी से उनकी मुलाकात हुई वे भी राजकपूर के स्टूडियो में ही काम करते थे। फिल्म निर्माण में सहायक कलाकारों तथा अन्य सदस्यों की समस्याओं के विषय में भी उन्होंने बताया था। बाहर से सुविधाजनक लगने वाला इन कलाकारों का जीवन अनेक उतार-चढ़ावों से भरा हुआ है। उपन्यास का एक पात्र रवि, जो एक पटकथा लेखक है, एक फिल्म के फिल्मांकन के समय अपनी पूर्व प्रेमिका से मिलता है। प्रेमिका द्वारा यह पूछे जाने पर कि वह उसे पहचान पा रहा है या नहीं, रवि असमंजस की स्थिति में पड़ जाता है। उसे मन के द्वन्द को लेखक ने बड़े सूक्ष्म विवरणों के साथ प्रस्तुत किया है। अचानक हुई इस मुलाकात से वह असहज हो जाता है और अपनी भावनाओं को व्यक्त नहीं कर पाता। इस उपन्यास का शिल्प तथा भाषा लेखक के शेष उपन्यासों से भिन्न है। उन्होंने स्वयं इसके संबंध में कहा है कि- “बर्फ गिर चुकने के बाद, मैं स्त्री वंचना को भाषा के स्तर पर परिभाषित कर सकने की कठिन कोशिश में हाथ लगी कलावंचना का अहसास कराये, यही इसकी नियति है, और संभवता इस पुस्तिका के लेखक की भी। जी हाँ, बर्फ गिर चुकने के बाद को कृति कह सकने की कोई गुंजाईश न देखकर ही इसे ‘पुस्तिका’ कहना पड़ रहा है।”⁷ अपने पूर्व के उपन्यासों में महानगरों में हाशिये का जीवन जी रहे लोगों के संघर्ष के चित्रण से अलग यह उपन्यास संबंधों तथा मनोजगत की थाह लेने वाला उपन्यास है। विषय में परिवर्तन के साथ लेखक की भाषा और शैली में परिवर्तनों को भी इस उपन्यास में देखा जा सकता है। आत्मपरक तथा संस्मरणात्मक होने के कारण लेखक बटरोही ने इसे ‘लंबा संस्मरणात्मक आत्मालाप’ कहा है।

6. छोटे-छोटे पक्षी (1977)

यह उपन्यास लेखक के इलाहाबाद के अनुभवों पर आधारित है। हालाँकि कथावस्तु का विस्तार इलाहाबाद तक सीमित न रहकर दिल्ली तक विस्तार पाता है। सतीश नामक युवक और उसकी प्रेमिका दीक्षा के प्रेम संबंध पर आधारित होने के बाद भी यह वैचारिक सरोकारों से संबद्ध है। देशव्यापी विभिन्न समस्याओं को एक युवा की दृष्टि से देखने का प्रयास किया गया है। रेल के एक डिब्बे में कुछ यात्रियों के बीच हो रहे चर्चा से इसे समझा जा सकता है। रेलवे की बदहाली पर एक व्यक्ति कहता है- “अगला आम चुनाव नजदीक आने दीजिए- आप हम सब लोग ‘फर्स्ट क्लास’ में सफर करते होंगे! सरकार को कौन सा पहाड़ खोदना है, सिर्फ थोड़े वार्निश

का ही तो खर्चा है? तीन में से दो डंडे रह गए हैं, दो में से सिर्फ एक ही रह जायेगा- लेकिन सफर हम लोगों को तब भी इसी तरह करना पड़ेगा, जैसे सर्दियों में कुत्ते एक-दूसरे की टांगों में सर घुसाये रहते हैं।”⁸ सतीश और दीक्षा के विवाह में आने वाली अड़चनों के माध्यम से लेखक मध्यवर्गीय परिवारों की दकियानूसी मानसिकता और पुरानी लीक पर चलने की प्रवृत्ति को दिखाते हैं। प्रेम विवाह के पश्चात् सतीश और दीक्षा को जिन समस्याओं का सामना करना पड़ता है, उनसे लेखक यह संदेश देना चाहते हैं कि विवाह का निर्णय समझदारी के साथ लेना चाहिए। प्रेम समर्पण और त्याग चाहता है। विवाह पश्चात आने वाली समस्याओं का डटकर मुकाबला भी करना चाहिए।

महानगरीय समाज में अजनबीपन तथा व्यक्तिवादिता का वर्णन भी इस उपन्यास में है। दिल्ली महानगर में लोगों का अत्यधिक बाहुल्य भी लोगों का अकेलापन दूर नहीं कर पाता। क्योंकि उस विशाल जनसमूह में ऐसे लोग बहुत कम हैं जो संबंधों और आत्मीयता को महत्व देते हों। लेखक बताते हैं कि भारतीय समाज में विवाह को लेकर अत्यधिक सतर्कता पुरुष वर्चस्व को और अधिक बल प्रदान करती है।

7. आकाश कितना अनंत है (1979)

यह उपन्यास नगरों की वास्तविक समस्याओं पर केन्द्रित अत्यंत संश्लिष्ट ढंग से रची गयी प्रौढ़ रचना है। यह उपन्यास लेखक की रचना यात्रा का एक मोड़ भी है जहाँ वे लालित्यपूर्ण ढंग से अपने परिवेश का वर्णन करने के बजाय गंभीरता से उस पर विचार करते हैं। देवसिंह पोखरिया ने लेखक की प्राविधि में आए इस परिवर्तन को रेखांकित किया है- “यह उपन्यास अपने दौर का चर्चित एवं प्रौढ़ उपन्यास है। यह मटियानी के दूसरे दौर के माहत्वपूर्ण उपन्यासों में से एक है। इसमें मटियानी लोक भाव भूमि के मोहक संस्पर्शों से बाहर आकर जीवन के कटु यथार्थ से संघर्ष करते दीखते हैं।”⁹ उपन्यास का विषय मुख्यतः हमारे समाज के अंतर्विरोध, रूढ़ियाँ और प्रायः दिखाई देने वाला इसका प्रतिगामी व्यवहार है, जिसमें किसी की व्यक्तिगत बातों को उछालकर चटखारे लेने की प्रवृत्ति रहती है। व्यक्तिगत मामलों को इतना प्रचारित किया जाता है कि व्यक्ति की उपलब्धियों का महत्व नहीं रह जाता। पूरे संदर्भ को बिना समझे राय बना ली जाती है और लोग किसी न्यायधीश की तरह निर्णय सुनाने लगते हैं। उपन्यास का पात्र राजशेखर गुप्ते में अपनी प्रेमिका के पति पर हाथ उठा देता है। इसके बाद पूरा समाज उस पर हमलावर हो जाता है। संकट के इस समय में उसे श्रीमती मैठाणी सहायता करती हैं। कॉमेड सूरज के माध्यम से लेखक समाज में पत्रकारिता की सकारात्मक भूमिका को रेखांकित करते हैं और उसकी आवश्यकता पर बल देते हैं। कॉमेड सूरज पूंजीवाद का विरोध करते हुए कहते हैं- “मैं तुमसे कह रहा था कि अपने भीतर की इंसानियत बरत सकने की गुंजाइश यह पूंजीवादी निजाम देता ही नहीं। वह बखूबी जानता है कि अगर इस देश की जनता आपस की एक-दूसरे की तकलीफ और संघर्ष में हाथ बंटा सकने की सहूलियत में रहीं, तो धीरे-धीरे इस देश के इंसानविरोधी, शोषक, उत्पीड़क, आर्थिक राजनीतिक ताकतों के खिलाफ आपस में एक होते हुए भी इसे देर नहीं लगेगी।”¹⁰ लेखक एक ओर सांप्रदायिक राजनीति को बल दिए जाने की प्रक्रिया बताते हैं तो वही कॉमेड सूरज जैसे पात्र भी गढ़ते हैं जो इस प्रक्रिया को समझने वाले जागरूक वर्ग का प्रतिनिधि है।

8. सवित्तरी (1980)

यह उपन्यास शैलेश मटियानी द्वारा स्त्रियों की समस्याओं पर लिखे गए उपन्यासों की श्रृंखला की एक कड़ी है। इलाहाबाद की पृष्ठभूमि पर केन्द्रित यह उपन्यास वेश्यावृत्ति, विवाहेत्तर संबंध, यौन कुंठा, अंतर्जातीय विवाह घरेलू हिंसा जैसी समस्याओं से टकराता है। पुरुष वर्चस्ववादी समाज में स्त्री होने तथा निर्धन होने का दोहरा दंश झेल रही सवित्तरी का जीवन संकटों से भरा हुआ है। स्वाभिमानी और कर्मठ सवित्तरी आसपास के घरों में महरी का काम करती है। गरीब युवती समझकर कई लोग उसे ललचाई नजरों से देखते हैं, भोंडे इशारे करते हैं लेकिन वह अपना ध्यान काम पर केन्द्रित रखती है। बचपन और किशोरावस्था में अभाव झेलने वाली सवित्तरी सुखद भविष्य का स्वप्न संजोए विवाह बंधन में बंध जाती है। उसके जीवन में तब एक त्रासद मोड़ आता है जब उसका पति उससे वेश्या बनने को कहता है। लेखक लिखते हैं- “वास्तव में सवित्तरी हमारे समाज का प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है, जिसकी कल्पना मात्र से हम सिहर उठते हैं, उद्वेलित हो जाते हैं। सवित्तरी का चरित्र हमेशा के लिए हमारे स्मृति में स्थान बना लेता है।”¹¹

पति के इस व्यवहार से भी अधिक त्रासद यह है कि सवित्तरी इसका विरोध भी नहीं कर पाती। लेखक महानगरों की इस स्याह सच्चाई को पाठकों के सामने रखते हैं कि अनेक विधवा, परित्यक्ता स्त्रियाँ, आजीविका का कोई अन्य साधन न मिलने पर वेश्यावृत्ति को मजबूर होती हैं। समाज तथा सरकारें, इस प्रकार की महिलाओं को स्वावलंबी बनाने में कोई मदद नहीं करतीं। उर्दू के प्रसिद्ध कहानीकार सआदत हसन मंटो की कहानी ‘लायसैंस’ याद आती है, जिसमें आबू कोचवान की मृत्यु के बाद उसकी पत्नी नीति तांगा चलाकर अपनी गुजर-बसर करने का निर्णय लेती है। लेकिन कमेटी के लोग उसका लायसैंस जब्त कर उसको इस काम की अनुमति नहीं देते। चारों तरफ से निराश नीति जिस्म बेचने की अर्जी देती है, जो अगले ही दिन स्वीकार कर ली जाती है। ‘सवित्तरी’ को यह समाज ही अँधेरे में ढकेलता है लेकिन लेखक आशा की डोर नहीं छोड़ते। वे ‘मीता’ जैसे पात्र का सृजन भी करते हैं जो सवित्तरी की बेटी को गोद लेती है और कहती है- ‘जैसे शिबचरण ने तुमसे घृणा नहीं की, वैसे ही तुम भी इससे नफरत न करना। औरत के भीतर की माँ मर गई, तब उसके जिए का धरम कहाँ...’¹²

9. डेरेवाले (1980)

यह एक विशिष्ट समुदाय पर केन्द्रित है जो लंबे समय से चले आ रहे वेश्यावृत्ति के व्यवसाय में फँसा हुआ है। स्वयं को गन्धर्वों का वंशज मानने वाले मिरासी जाती के ये लोग विवाह तथा अन्य मांगलिक अवसरों पर और पर्व-त्यौहारों पर नाच-गाकर अपनी आजीविका कमाते हैं। इन कलाओं के प्रदर्शन के साथ ही इस समुदाय की महिलाएं देहव्यापार भी करती हैं। शिक्षा तथा आधुनिक चेतना से दूर यह समुदाय न चाहते हुए भी इस परंपरागत पेशे में उलझा है। अपने व्यवसाय के कारण ये लोग दूसरे समुदाय के लिए अस्पृश्य जैसे हैं। पीढ़ियों से चले आ रहे इस पेशे को वे अपनी नियति मान बैठे हैं। उपन्यास की पात्र श्यामा सोचती है- “शहर में दिन काटने हैं तो शहर के रईस लोगों की दिलजोई करना बहुत जरूरी है। कीचड़ की छींटे बर्दाश्त कर लेना हर डेरेवाले की नियति है। वकील-नेता, बड़े लोग के तो सात खून माफ होते हैं।”¹³ वेश्यावृत्ति से अपना पेट पाल रही इन महिलाओं का जीवन यूँ तो अनेक संकटों, अपमान, यौन रोगों आदि से भरा है लेकिन सबसे अधिक समस्या बूढ़ी स्त्रियों की है। एक आयु के बाद वे इस व्यवसाय में भी नहीं रहतीं। तब उनका जीवन निर्धनता और दूसरों के सहारे गुजरता है। मिरासी जाति की युवतियों के रूप से आकर्षित हो बहुत सारे लोग इनसे प्रेम का दिखावा करते हैं, विवाह करने के वचन देते हैं

लेकिन अंत में इनके साथ विश्वासघात करते हैं। क्योंकि समाज के विरुद्ध जाकर इन महिलाओं को अपनाने का साहस इनमें नहीं होता। अनुभवी मिरासिनें इस बात को भलीभांति जानती हैं और युवतियों को इससे सावधान भी करती रहती हैं। गुणवंती मिरासिन आनंदी को समझाती है- “हम मिरासिनों की जात क्या है, वह तो एक निराधार बेल है। जैसे बन की बेल पर कौन जात का पंछी बैठा, कौन जात का नहीं, ठीक ऐसे ही, हम मिरासिनों के घर न जाने कौन जात का मरद कब आ बैठता है। ब्राह्मण आए, बनिया आए और चाहे ठाकुर आए या डोमड़ा-मिरासिनों के पास तो हर कोई जात सिर्फ एक ही किसम की हविश लेकर आती है।...कानों से गाना सुनने वाले आँखों से गोश्तखोर ये लोग, चेली, व रसिया यार किसके, दम लगाये खिसके वाली मिसाल के होते हैं। इनसे बहुत होशियारी से निबटना होता है।”¹⁴ एक ओर तो दूसरा कोई विकल्प न होने के कारण अपने परंपरागत पेशे को आगे बढ़ाना इन महिलाओं की मजबूरी है वहीं दूसरी ओर उनमें इस गृहित कार्य से मुक्त होने की इच्छा भी है।

10. बावन नदियों का संगम (1980)

दिल्ली महानगर की पृष्ठभूमि पर लिखे गए इस उपन्यास में वेश्या समस्या पर अधिक गहराई और संवेदनशीलता से विचार किया गया है। कैसी परिस्थितियों में कोई लड़की इस व्यवसाय में आ जाती है, आने के बाद कभी वापसी क्यों नहीं हो पाती, अपमान और गंदगी का जीवन जी रही इन स्त्रियों के जीवन में प्रेम, आत्मीयता, संबंधों के क्या मायने हैं, इन सभी बिन्दुओं पर उपन्यास में चिंतन किया गया है। साथ ही नेता-वकील तथा अन्य प्रभावशाली लोगों के पाखण्ड को भी इसमें उघाड़ा है। अपने भाषणों में वेश्यावृत्ति पर दुख प्रकट करने वाले नेता तथा अधिकारी परदे के पीछे से इस व्यवसाय को संचालित करने वाले लोगों की सहायता करते हैं। उपन्यास में लेखक ने इन महिलाओं के व्यवहार के उजले पक्ष को भी चित्रित किया है। दिन रात वासना और उन्माद देखने वाली इन स्त्रियों के हृदय में दया और करुणा विद्यमान है। जब कंचन नामक एक 9 वर्षीय बालिका को भोला द्वारा वेश्यावृत्ति के पेशे में धकेलने का प्रयास किया जाता है तो गुलाबबाई हाथ में चाकू लेकर निडरता से भोला का विरोध करती है। गुलाबबाई, जो इस उपन्यास की मुख्य पात्र है, के बहाने यह उपन्यास, पत्रकार, व्यापारी, वकील आदि सभी की भूमिका रेखांकित करता है। लेखक इस पर चिंता प्रकट करते हैं कि न चाहते हुए भी कितनी ही स्त्रियाँ वेश्यालयों में रहने को बाध्य हैं। वे पूछते हैं- ‘आजादी के तीस साल बाद भी हम गरीब बहनों के लिए रोजी-रोटी का इंतजाम नहीं कर सके।’¹⁵ अनेक विशिष्टताओं के बावजूद इस कृति में लेखक द्वारा पात्रों के माध्यम से राजनीति पर व्यक्त किए विचारों से सहमति जताना कठिन है। अपने अन्य उपन्यासों में नागरिकों के अधिकारों की अवहेलना पर प्रश्न उठाने वाले शैलेश यहाँ ‘आपातकाल’ का समर्थन करते दिखाई पड़ते हैं- ‘इस मुल्क के लोगों की सही दवा यही इमरजेंसी है। बिना पैसा गड़ाए सही चलनेवाला बैल इस मुल्क में नहीं मिलता।’

11. अर्द्धकुंभ की यात्रा (1983)

यह उपन्यास, मनुष्य के मन में एक ही समय चलने वाले विविध प्रकार के विचारों से उपजी दुविधा पर आधारित है। वैराग्य और भौतिकता के दोराहे पर खड़ा व्यक्ति द्विधाग्रस्त और तनावग्रस्त रहता है लेकिन किसी एक ओर चल देने का निर्णय इतना आसान भी नहीं। इस कारण यह दुविधा सतत बनी रहती है। अड़तालीस वर्ष के परमेश्वरी

बाबू यूँ तो अधेड़ हैं लेकिन पत्नी के न रहने से जीवन में आयी एकांतिकता ने उनके मन में वैराग्य का भाव पैदा कर दिया है। लेकिन वैराग्य का यह भाव उन पर तब हावी होता है जब वे घर और अपनी फैक्ट्री से दूर होते हैं। फैक्ट्री तक आते-आते संन्यास लेने की इच्छा जाती रहती है और उसका स्थान कठिन परिश्रम से खड़ी की गई फैक्ट्री की उन्नति का विचार ले लेता है। इच्छाओं और कर्तव्यों का यह द्वन्द बना रहता है। शीर्षक का अर्द्धकुंभ 'अर्द्धकुंभ' इसी द्वन्द का प्रतीक है।

चूँकि लेखक ने यह उपन्यास आध्यात्मिक और दार्शनिक अनुभूतियों पर लिखा है इसलिए इसमें 'मृत्युबोध' की भी चर्चा है। परमेश्वरी बाबू की आसन्न मृत्यु का वर्णन लेखक ने बड़ी संवेदनशीलता से किया है। आध्यात्मिक वर्णन से परिपूर्ण होने पर भी इस उपन्यास में लेखक ने अपने समय-समाज की उपेक्षा नहीं की है, जो लेखक की पहचान है। वे लोहिया, जयप्रकाश और संपूर्ण क्रांति पर खुल कर अपने विचार रखते हैं।

12. मुठभेड़ (1983)

पुलिस तथा शासन तंत्र की संवेदनहीनता और भ्रष्टाचार पर आधारित यह उपन्यास लोकतंत्र में सामान्य जन की उपेक्षा तथा शोषण पर आधारित है। राजनेता, प्रशासनिक व्यवस्था से जुड़े लोग, धनिक वर्ग तथा नैतिकता विहीन पत्रकार मिलकर एक ऐसा तंत्र बनाते हैं जो पूँजी के केंद्रीकरण, अपराधियों के बचाव तथा सरकारी पैसे के दुरुपयोग के लिए जिम्मेदार होता है। इनका प्रभाव सत्ता के शीर्ष तक होता है, जो इनकी मजबूती बनता है। देश के नागरिक विविध कर देते हैं लेकिन उस का उपयोग कुछ चंद लोग करते हैं। लेखक इस बात पर भी जोर देते हैं कि व्यवस्था में भ्रष्ट लोगों के साथ-साथ ईमानदार लोग भी हैं। पत्रकार निरुपेन्द्र भट्ट और पुलिस सुपरिंटेंडेंट योगेन्द्र अपने कर्तव्यों के प्रति ईमानदार हैं और इनकी सहायता से ही व्यवस्था की सच्चाई उजागर होती है। इस तरह यह कृति शासन के दो अंगों महत्वपूर्ण अंगों विधायिका तथा कार्यपालिका में भीतर तक पैठे भ्रष्टाचार और अवसरवादिता से परिचित कराती है। लेखक ने इसके विषय में लिखा है- "मुठभेड़ के गहरे विवेचन में जाएँगे तो इसकी व्याप्ति बहुत दूर तक हमारी सामाजिक व्यवस्था के उन तमाम अन्तःप्रसंगों तक दिखेगी जहाँ एक शब्द ठीक इसी रूप में प्रचलन में न होते हुए भी अपनी उपस्थिति का पूरा-पूरा आभास देता है।"¹⁶

13. चंद औरतों का शहर (1992)

इस उपन्यास में लेखक ने अभिजात्य वर्ग की कुछ स्त्रियों के माध्यम से कथा कहने का प्रयास किया है। अल्मोड़ा शहर में रहने वाली महिलाएं- मिसेज बलबीर (चारुलता तांबेकर), मिस कनिष्ठा त्रिपाठी, मिस गोम्स, बेगम मल्कबाद, मिसेज मार्था, श्रीमती शर्मा, वंदना ठाकुर आदि पारिवारिक कार्यक्रमों तथा पार्टियों में मिलती हैं। आधुनिकता तथा बाजारवाद से प्रभावित ये महिलाएं बनावटी ढंग से व्यवहार करती हैं। ऊपरी तौर पर आत्मीयता प्रदर्शित करने वाली ये महिलाएं आपस में प्रतिद्वंद्विता रखती हैं तथा एक-दूसरे पर छींटाकशी भी करती हैं। धर्मांतरण की समस्या उपन्यास में आद्योपांत उपस्थित है। उपन्यास में धरनीधर बाबू विवाहित होते हुए भी एक महिला के प्रेम में पड़ जाते हैं। मार्था नाम की यह इसाई धर्मावलंबी महिला से धरनीधर बाबू शादी कर लेते हैं। वे स्वयं भी इसाई धर्म की दीक्षा ले लेते हैं। किंतु जैसे-जैसे उनकी आयु बढ़ने लगती है, मन में जड़ें जमाए हिन्दू

मान्यताएं प्रभावी होने लगती हैं और इसाई धर्म में आस्था क्षीण पड़ने लगती है। लेखक के पिता भी एक इसाई महिला से विवाह के बाद इसाई हो गए थे। लेखक के अवचेतन मस्तिष्क पर बचपन की उस घटना से जो छाप पड़ी होगी उसने उन्हें यह उपन्यास लिखने को बाध्य किया होगा। उपन्यास में उल्लिखित अनेक बातों से असहमत होते हुए भी इसे महत्वपूर्ण उपन्यास माना जा सकता है।

इन उपन्यासों के अतिरिक्त उनकी संपूर्ण कहानियों के पांचवे खंड में लेखक के निम्न अप्रकाशित उपन्यासों की सूची भी दी गई है- ‘कमीनों की बस्ती’, ‘घात’, ‘अश्वगंधा’, ‘सड़ांध’, ‘शीर्षकहीन’, ‘सुयांल कोसी’ और ‘सीढियाँ’।

3.2.2. शैलेश मटियानी की कहानियां

शैलेश मटियानी प्रेमचंदोत्तर काल के एक प्रमुख और सशक्त कहानीकार हैं। विविध विषयों पर उन्होंने लगभग 212 कहानियाँ लिखीं, जो ‘शैलेश मटियानी की संपूर्ण कहानियाँ’ शीर्षक से पाँच खण्डों में संकलित हैं। बचपन में सुने लोकगीतों तथा अवतार-अनुष्ठान की गाथाओं को सुनकर शैलेश के मन में अभिव्यक्ति की इच्छा जगी। माता-पिता की मृत्यु के बाद परिजनों के दुर्व्यवहार तथा गरीबी से मुक्ति पाने के लिए वे बम्बई चले गए जहाँ उन्होंने होटलों में जूठे बर्तन साफ़ किये, फुटपाथों पर रातें बिताईं और कठिन संघर्ष किया। उत्तराखंड के ग्रामीण जीवन के अनुभव तथा लोक के स्पर्श से सुवासित भाषा तो उनके पास थी ही, महानगरों में बिताए समय में उन्होंने वहाँ के अनुभव अर्जित किए। कथाकार शेखर जोशी ने उनके विषय में लिखा है- “लोकजीवन और लोकसंस्कृति में गहरी पैठ, शैशव से ही कठोर जीवनानुभव और बेसहारा जिंदगी के फलस्वरूप अर्जित संवेदनशीलता उनके आलंबन बने।”¹⁷ कुमायूँ अंचल से विशेष लगाव होने के कारण उनकी अनेक कहानियों का परिवेश यहीं का है। लेकिन दूसरी तरफ आजीविका के लिए दिल्ली, मुंबई जैसे महानगरों की खाक छानते हुए जो अनुभव हुए, उन पर आधारित कहानियों की संख्या भी कम नहीं है। यही कारण है कि उनकी कहानियों में जहाँ एक तरफ आंचलिकता के तत्व मिलते हैं, वहीं दूसरी ओर नगरीय जीवन की विविध छवियाँ भी दृष्टिगत होती हैं। प्रारंभ में आलोचकों ने उनके कथा साहित्य को ‘आंचलिक’ के खाते में डालकर सीमित करने का प्रयास किया किंतु समय के साथ उसकी अर्थवत्ता और महत्व स्थापित होता गया।

दिल्ली और बंबई के अपने सुदीर्घ प्रवास में शैलेश मटियानी का परिचय एक ऐसे अनदेखे परिवेश से होता है जिसमें भिखारी, पेशेवर मवाली, ढोंगी, वेश्याएं, और होटलों तथा घरों में किशोर और युवा नौकरों का शोषित और अभिशप्त संसार है। बम्बई की पृष्ठभूमि पर लिखी गयी कहानियों में ‘जिसकी जरूरत नहीं थी’ और ‘विट्ठल’ जैसी कहानियाँ हैं जो समाज में सम्मानित धनाढ्य लोगों की अंदरूनी जिंदगी की सच्चाई को उभारने की कोशिश करती हैं। ‘दैट माई फादर वाल जी’, चिथड़े, ‘हमपेशा’ और ‘गंगादास वल्द जमुनादास’ आदि कहानियाँ भी इसी प्रकार की विसंगतियों को दर्शाने वाली हैं। गरीब और असंगठित क्षेत्र में काम करने वालों की दुर्दशा पर भी उनकी लिखी कई कहानियाँ मिलती हैं। आज भी प्रासंगिक इन कहानियों को नई परिस्थितियों के आलोक में देखे जाने की आवश्यकता है। आर्थिक उदारीकरण और निजीकरण की नीति ने बड़े, मँझोले उद्योगों और सेवा क्षेत्र का विकास किया है किंतु लघु उद्योग को इससे नुकसान ही हुआ। अर्थतन्त्र और समाज में हो रहे बदलाव का लाभ

कुछ ही लोगों तक पहुँच रहा है और वंचितों की आर्थिक स्थिति और कमजोर होती जा रही है। सामाजिक, राजनीतिक जागरूकता के चलते दलित, पीड़ित समुदायों की राजनीतिक स्थिति सुधरी है पर उत्पादन की प्रक्रिया, व्यवस्था एवं अर्थतन्त्र में वे अभी भी हाशिये पर हैं। महानगर एक ओर जहाँ मनुष्य के समस्त भौतिक सुख-सुविधाओं के लिए आकर्षण का केंद्र होते हैं, वहीं दूसरी ओर इनमें निहित विषमताएँ लोगों को अभिशप्त जीवन जीने के लिए भी बाध्य करती हैं। जिस तीव्र गति से महानगरों की जनसंख्या का घनत्व बढ़ता जा रहा है, उस गति से संसाधनों का विकास हो पाना संभव नहीं है जिसके परिणामस्वरूप यहाँ का जीवन पहले की तुलना में अधिक संघर्षमय हो गया है। स्वतंत्र भारत में महानगरों की स्थिति कैसी थी और अब तक की यात्रा में क्या परिवर्तन हुए हैं, यह भी उनकी कहानियों के माध्यम से समझा जा सकता है।

शैलेश मटियानी की कहानियों के नायक ऐसे लोग हैं जिन्हें समाज में अच्छा नहीं समझा जाता और जो सामाजिक विषमताओं एवं उत्पीड़न का शिकार होने के कारण कथित अपराधी दुनिया में शरण पाए हुए हैं। लेखक विशेष आग्रह के साथ इस तथ्य को रेखांकित करता दिखाई देता है कि समाज के ऊँचे बड़े और अभिजात समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा इनमें कहीं अधिक करुणा और मानवीय सद्भाव बचा हुआ है। कहानियों में मटियानी जी अपनी अनुभव संपन्नता का पूरा उपयोग करते दिखाई देते हैं और स्थितियों को संपूर्णता में देखने का प्रयास करते हैं।

लेखक की अनेक कहानियाँ बम्बई के फुटपार्थों पर जीवन बिता रहे, भूख से जूझ रहे लोगों पर हैं। इस सूची में यदि ऐसी कहानियों को भी जोड़ लिया जाए जो भूख से मजबूर हो अनैतिक और आपराधिक दिशा में चल पड़े लोगों के प्रति संवेदना व्यक्त करने वाली हैं, तो यह संख्या और बढ़ जाती है। **‘इल्लेस्वामी’** उनकी अत्यंत महत्वपूर्ण और पाठकों द्वारा प्रशंसित कहानी है। ‘धर्मयुग’ पत्रिका में ‘अन्तस्तल’ नाम से प्रकाशित यह कहानी तस्करी और अपहरण जैसे अपराधों में शामिल बम्बई के एक दादा इल्लेस्वामी के हृदय परिवर्तन की कहानी है। कम आयु में ही अनाथ हो गया इल्लेस्वामी अपनी बहन, यनम्मा के साथ भीख मांगकर जीवन यापन करता था। जब वह बारह वर्ष का था तो भूख से एक दिन यनम्मा की भी मौत हो जाती है। इल्लेस्वामी बहन की मृत्यु का दुख भी नहीं मना पाता। लेखक लिखते हैं- “थोँ उसने यनम्मा के जाने का मातम भी कोई ख़ास नहीं मनाया था, केवल पूरियाँ न खा सका था, बस। और फिर गरीबों को इतना समय ही कहाँ, कि वे अपने आत्मीय की मौत का फुर्सत से मातम मना सकें।”¹⁸ इल्लेस्वामी के पास जो कुछ था सब खो चुका था। उसको अपने होने का कोई अर्थ समझ नहीं आता था इसलिए जब कोई उससे पूछता- ‘तेरा नाम क्या है, रे?’ वह जवाब देता- ‘इल्ले’ यानी ‘नहीं’। लोग पिता का नाम पूछते, वह कहता- ‘इल्ले’ यानी ‘नहीं’। वह बम्बई आकर लावारिश जीवन बिताता, अपराधी लोगों की संगत में पड़ एक दिन खुद दादा बन जाता है। बम्बई में अपराध और अवैध कामों में लिप्त रहता है। भीख मांगती एक छोटी सी बच्ची में उसे यनम्मा की सूरत दिखाई पड़ती है। इल्ले जिसे कभी किसी का प्रेम नहीं मिला, उस बच्ची को देख कर प्रेम से सराबोर हो उठता है और उसे अपनी बहन बना लेता है। वह अपराध का रास्ता छोड़ नयी जिन्दगी शुरू करने की बात कहता है। यह प्रेम, मानवता और आशा की अत्यंत मार्मिक कहानी है।

‘चिथड़े’ कहानी महानगरों के कठिन जीवन और निष्ठुर समाज को दर्शाती है। गाँव से आए किसी गरीब किंतु स्वाभिमानी व्यक्ति के लिए यहाँ की परिस्थितियाँ सर्वथा प्रतिकूल लग सकती हैं क्योंकि यहाँ के एक बड़े समुदाय में गरीबों के अनादर की संस्कृति विकसित हो चुकी है। कोल्हापुर के एक गाँव के युवक गेंदी को, उसका

साथी प्रीतम बम्बई की चकाचौंध के किस्से सुना साथ चलने को सहमत कर लेता है। गेंदी, प्रीतम की बातों में आकर बम्बई चल पड़ता है। दादर में उसे अकेला छोड़ प्रीतम पैसा लेकर गायब हो जाता है। अकेला और असहाय गेंदी बम्बई में गरीबी दैन्य और भुखमरी का विचलित कर देने वाला दृश्य देखता है- “...ऊँची-ऊँची सैण्डिलों पर मछलियों सी फड़कती-फुदकती बम्बई की नारियाँ- करीब-करीब अधगंगी सी। ...बेहद धिनौने चिथड़ों में अपने जर्जर अस्थि पंजर को दबाये ‘माई-बाप एक पैसा!’ कहते हुए भिखारी।”¹⁹ गेंदी को ये दृश्य देखकर बम्बई से वितृष्णा होती है। उसे अपने गाँव की याद आती है। कमर पर बंधी करधनी बेचकर वह कोल्हापुर लौट जाता है। उसने बम्बई की कल्पना ऐसे स्थान के रूप में की थी ... जहाँ किसी ढलती शाम को, हर खिड़की पर, इंतजार का रेशमी पर्दा लटक जाता है!... लेकिन आज गेंदी की कल्पना के ये रेशमी परदे उन चीथड़ों में बदल गए, जिनको बोरीबंदर पर मानवों की पलीत जाति धोती रहती है- भूखी और गंगी।”²⁰ यह कहानी लेखक के अपने जीवनानुभवों से प्रेरित है। बम्बई में, उनका साथी भी सामान लेकर फरार हो गया था। लेकिन वे गेंदी की तरह गाँव नहीं लौट सके।

एक अन्य कहानी **‘दैट माई फादर बाल जी’** एक विक्षिप्त व्यक्ति के त्रासद जीवन की कथा है। एक मानसिक रूप से विक्षिप्त व्यक्ति के प्रलाप की शैली में लिखी गई यह कहानी सेठ बालजी की क्रूरता की कथा है। अनेक महिलाओं से संबंध होने के बाद भी सेठ बालजी की वासना तुष्ट नहीं होती। वह महाराष्ट्र के सतारा से आकर फल बेचने वाली महिला गंगाबाई को अपने प्रेम जाल में फंसाता है। एक बच्चे का जन्म होने के बाद जब गंगाबाई अपने बेटे का हक मांगती है, सेठ उन दोनों के साथ किसी ऐसी घटना को अंजाम देता है कि वे दोनों ही मानसिक रूप से विक्षिप्त हो जाते हैं। यह कहानी में बंबई के सेठों के अवैध संबंधों तथा स्त्री को भोग-विलास की वस्तु समझ कामुकता में अंधे होकर अमानवीय हो जाने की कहानी है। अमृत पोपट का प्रलाप ‘टोबा टेक सिंह’ के प्रलाप जैसा मार्मिक लगता है। **‘जिसकी जरूरत नहीं थी’** कहानी में शिशिर नामक पात्र के माध्यम से लेखक ने भोगे हुए यथार्थ का चित्रण किया है। भूख की मार झेल रहे पच्चीस वर्षीय युवा शिशिर को एक पारसी सेठ के घर नौकरी मिलती है। रात में जब सेठ की स्त्री शिशिर को संबंध बनाने का संकेत करती है, वह शरमाकर बाहर भाग आता है। वह इस बात से बेखबर था कि बूढ़ा सेठ उसे अपनी पत्नी की वासनापूर्ति हेतु लाया था। अगले दिन सेठ उसे काम से यह कहकर निकाल देता है कि- ‘हमको तुम्हारा जरूरत नहीं।’ कहानी में एक ओर गरीबी और भूख से जूझ रहे लोग हैं वहीं दूसरी ओर अनमेल विवाह का दंश झेल रही धनिक स्त्रियाँ हैं।

‘मौत का सामान’ महानगरों में दिखावे की संस्कृति पर व्यंग्य करती कहानी है। बंबई में एक पंडित जी के घर पर कन्या की शादी के अवसर पर सत्यनारायण की कथा आयोजित होती है। पंडित जी की पत्नी इस धार्मिक कार्यक्रम में भी बैद बाजे वालों को बुलाती हैं जो आधुनिक फिल्मों की गीत भी बजाते रहते हैं। पंडित जी के दोस्त चिराग अली इसे अनुचित बताते हैं और कहते हैं कि इश्वर की अराधना के समय इस तरह के गीत बे मौके की चीज हैं। पंडित जी जब पत्नी से कहकर आपत्ति करते हैं तो वे कहती हैं- “सिर्फ सत्यनारायण भगवान की पूजा हो तो कौन आए सुनने। 15-20 भी मुश्किल से इकट्ठे हों।...अब जो बंद बज रहा है, तो देखो अपने बगल की कन्या पाठशाला की सभी मास्टरनियाँ भी आकर प्रेम से सुन रही हैं।...”²¹ अधिक साधन संपन्न बनने और उसको प्रदर्शित करने की होड़ में सच्ची भावना का लोप हो चुका है। धार्मिक कार्यक्रम भी भीड़ जुटाने, लोगों को प्रभावित करने, स्वयं को अधिक धार्मिक दिखाने के माध्यम बनकर रह गए हैं। इन विषयों पर उदार भाव रखने वाले व्यक्ति की उसके घर में ही उपेक्षा हो जाती है। मुंबई के फिल्म जगत से जुड़े लोगों पर आधारित एक कहानी **‘सिने-**

गीतकार' है। इस कहानी में फिल्म जगत के परदे के पीछे की सच्चाई को दिखाया गया है। फिल्म के लेखकों, गीतकारों की दयनीय स्थिति को दिखाया गया है।

‘विट्टल’ कहानी भी अपने कथ्य और शैली के कारण एक महत्वपूर्ण कहानी है। यह कहानी बम्बई महानगर के सामाजिक जीवन को चित्रित करती है। बम्बई में हजारों लावारिशों की तरह विट्टल की जिन्दगी भी फुटपाथ से शुरू होती है। इस कहानी में बम्बई के सेठों द्वारा निम्न वर्ग के विट्टल जैसे लोगों का दैहिक और मानसिक शोषण किए जाने का चित्रण हुआ है। जब तक रामा लोग सेठों की अतृप्त इच्छाओं की पूर्ति करते हैं, तब तक ही उनको काम का समझा जाता है। लेखक ने मायानगरी के तिलस्म को और वस्तादों क बम्बई के चार धामों- फाकलैंड रोड, गोलपीठा, कमाठीपुरा और त्रिभुवन रोड का सटीक चित्रण क्या है। यह एक मार्मिक कहानी है, जो बम्बई के भीतरी सच को यथार्थ रूप में प्रकट करती है। लेखक का मानना है कि शिक्षित, स्वस्थ नागरिक और समानता पर आधारित समाज ही अपराधविहीनता की ओर जा सकता है किंतु महानगरों में शिक्षा, स्वास्थ्य सभी को उपलब्ध नहीं। अनार्यों और लावारिशों सा जीवन जीते बच्चे और किशोर आखिर किस दिशा में जायेंगे? फुटपाथों के रास्ते हवालात का जीवन भला किस ओर ले जायेगा? ये प्रश्न लेखक समाज तथा सत्ता संस्थानों से पूछते हैं।

‘एक कोप चा: दो खारी बिस्किट’ यह कहानी भी बम्बई महानगर के निम्न वर्ग के लोगों के परस्पर संबंधों को लेकर लिखी गयी है। इसमें रामन्ना और नसीम के माध्यम से समाज के निम्न वर्ग के लोगों की गरीबी, बदहाली, भूख, पेट के खातिर अपनाए जाने वाले वेश्या जीवन और परस्पर मानवीय संबंधों को व्यक्त किया गया है। लेखक ने कहानी में मानवीय संवेदना के अंतर्तम संवेदनों का स्पर्श देकर इसे एक उजास के रूप में प्रस्तुत किया है। प्रेम के इस रूप को प्रस्तुत कर पाना ही उनकी कहानियों की बड़ी ताकत है। तमाम वीभत्सताओं के बीच से वे प्रेम के इस उज्ज्वल रूप को खींच लाते हैं। **‘फ़र्क, बस इतना है’** यह कहानी हिन्दू समाज में धर्म पर अंधविश्वास करने वाले लोगों पर व्यंग्य करती है। गाँव हो या महानगर सर्वत्र ये अंधविश्वास व्याप्त हैं। इस कहानी में रग्घू और सद्दू नौकरों के माध्यम से बम्बई महानगर के निम्न तबके के लोगों के संत्रास भरे जीवन का दारुण चित्रण हुआ है। **‘गरीबुल्ला’** में लेखक ने पीतल नगरी मुरादाबाद के गरीबुल्ला नामक युवक की विभिन्न मानसिक स्थितियों का सूक्ष्म चित्रण करते हुए बम्बई के बदहाल फुटपाथी जीवन को प्रस्तुत किया गया है। इसमें लेखक ने गरीबुल्ला के पेट और जिस्म की भूख का मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है। लेखक समाज द्वार उपेक्षित तथा घृणा के पात्र बना दिए गए लोगों के अतीत को सामने लाकर वर्तमान स्थिति के लिए उत्तरदायी कारणों की पड़ताल करना चाहता है।

‘इब्बूमलंग’ बम्बई महानगर की पृष्ठभूमि पर लिखी गई भारतीय समाज के कटु यथार्थ को प्रस्तुत करने वाली कहानी है। इबादत हुसैन एक मनचले किस्म का इंसान है। अच्छा खाना-पीना और इश्क करना, उसके दो शौक हैं। ऐसे में कई वेश्याओं के पास जाने से उसे सिफलिस रोग हो जाता है किंतु फिर भी वह कोठों में जाना नहीं छोड़ता। बाद में उसका रोग सुन्दरी बाई नामक वेश्या को हो जाता है। वह इस रोग से मर जाती है। सुन्दरी की मौत का इबादत हुसैन को गहरा सदमा लगता है और वह गांजा, दारू, चरस आदि का नशा करने लगता है। होटल में जूठे बर्तन मांजने के बदले उसे जो भी पैसे मिलते वह नशा करने में खर्च कर देता। हमेशा गंदा और नशे में धुत्त रहने वाला इबादत, बस्ती में इब्बू मस्तान कहलाने लगता है। इबादत का दोस्त नागप्पा इबादत का प्रचार एक मलंग जोगी के रूप में कर देता है। वह इब्बू को समझाता है- “देख तुझे कुछ करना नहीं। पहले हम उर्स भरवाएंगे और

जश्न मनवाएंगे, खैरात बंटवाएंगे। फिर सट्टे के आंकड़े बांटने शुरू कर देंगे। तेरा काम सिर्फ इतना रहेगा कि कोई अगर तुझसे आंकड़ा मांगने लगे, तो जो मुँह में आए, बकते ही चले जाना और माँ- भैन- जोरू की गालियाँ देते जाना। मौके-बेमौके एकदम मादरजात नंगा हो जाया करना और हाथ-पांवों को अजीब ढंग से हिलाया करना। बाकी का काम हम संभाल लेंगे।”²² उपर्युक्त कहानियों के अतिरिक्त भी महानगरीय जीवन पर केन्द्रित लेखक की कहानियां चर्चित रही हैं। ये सभी कहानियां महानगरों के अनेक आयामों को कतिपय नई सच्चाइयों के साथ प्रकट करती हैं।

3.3 शैलेश मटियानी के साहित्य में चित्रित महानगरीय समस्याएँ

शैलेश मटियानी एक समतामूलक समाज का स्वप्न देखते थे किंतु जब महानगरों में उन्होंने एक ही स्थान पर गंदी, बदबूदार मलिन बस्तियों और उन्हें मुंह चिढ़ाती अट्टालिकाओं को देखा तो उनके स्वप्न चकनाचूर हो गए। वे उस वर्ग के प्रति चिंतित थे जहाँ विकास परियोजनाओं को तो छोड़िए प्रकृतिप्रदत्त सुविधाएं तक नहीं पहुँच पातीं। विशाल गगनचुम्बी इमारतों के साए तले बनीं अस्थायी झुग्गी- झोपड़ियों में न सूरज की रोशनी ही पहुँचती है, न हवा और न साफ पानी। प्रेमचंदयुगीन तथा उनके परवर्ती हिंदी कथा साहित्य में मध्यवर्ग, गरीबों, दलितों, बेसहारा स्त्रियों की समस्याओं का चित्रण हुआ किंतु शैलेश वर्ग विभेद की जड़ों तक पहुँचने के लिए बहुत गहरे उतरते हैं। इस यात्रा में वे स्टेशन पर काम करने वाले कुलियों, ट्रेन में लोगों का मनोरंजन कर दो-चार रुपए कमाने वाले लोगों, वेश्याओं तथा समाज द्वारा तिरस्कृत उनके बच्चों, मंदिर-मस्जिद, दरगाहों के बाहर भीख मांगने वालों, शराब, जुआ जैसे व्यसनो में पड़े लोगों को भी अपने साहित्य में स्थान देते हैं।

वे किसी भी समस्या को एकांगी दृष्टि से नहीं देखते। किसी समस्या के उत्पन्न होने तथा उसके विकराल रूप धारण करने के पीछे समाज तथा शासन आदि सभी की भूमिका होती है। भारतीय समाज के अंतर्विरोध, भेदभाव, वर्गविभेद कई समस्याओं को जन्म देते हैं। उनके कथा साहित्य में अपराधों में लिप्त लोग, एकाकीपन का जीवन बिता रहे बुजुर्ग, अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों के जाल में फँसे समाज का चित्रण है। लेखक आशा का दीपक सदैव जलाये रहते हैं। उनकी कहानियों में एक अपराधी के सज्जन बनने की गुंजाइश हमेशा बनी रहती है।

3.3.1. शैलेश मटियानी के उपन्यासों में चित्रित महानगरीय समस्याएँ

स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथाकारों में शैलेश मटियानी का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। लगभग चार दशकों में फैली उनकी रचनायात्रा में कथ्य का वैविध्य, अनुभव, संवेदना और विचार की समृद्धि उल्लेखनीय है। वे साठोत्तरी कहानी की रचनात्मक धारा को विकसित करने वाले लेखकों में से एक हैं। जीवन के शुरूआती दिनों से लेकर अंत तक वे तमाम कठिनाइयों और झंझावातों से जूझते रहे। अपनी अदम्य इच्छाशक्ति के बल पर संघर्ष के कठिन दिनों में भी उन्होंने साहित्य सृजन का कार्य जारी रखा। उन्होंने साहित्य की बारीकियों, उसके प्रतिपाद्य और आवश्यक कच्ची सामग्री को किताबों में नहीं खोजा, बल्कि अपने समाज और उसकी विसंगतियों को अपने रचनाकर्म का आधार बनाया। सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक परिवेश में आए हुए बदलाव, सदियों से पीड़ित अवहेलित जनों की पीड़ा तथा नारी शोषण का अंकन मटियानी जी के साहित्य में गहरी संवेदना के साथ हुआ है। हिंदी गद्य

साहित्य को आमजन से जोड़ने का श्रेय प्रेमचंद को जाता है। शैलेश मटियानी ने प्रेमचंद की परंपरा को आगे बढ़ाते हुए समाज के सबसे निचले पायदान पर स्थित, विपन्नता और अभावों का जीवन जीते, पेट की आग को बुझाने के लिए तरह-तरह के समझौते करने वाले लोगों को साहित्य का विषय बनाया। वे उन पात्रों और जीवन की परिस्थितियों के कथाकार हैं जो कथित सभ्य समाज में कलंक माने जाते हैं।

शैलेश मटियानी ने अपने अनेक उपन्यासों और कहानियों में महानगरीय जीवन की त्रासदी और आम आदमी के कष्टों को अपने पात्रों के माध्यम से अभिव्यक्त किया है। मुंबई के महानगरीय जीवन का चित्रण करने वाले उपन्यासों में ‘बोरीवली से बोरीबंदर तक’, ‘कबूतरखाना’, ‘किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई’ आदि अत्यंत यथार्थपरकता के साथ लिखे गए उपन्यास हैं। महानगरों में एक ओर समृद्धता और वैभव का आधिक्य है तो दूसरी ओर वहाँ बहुत सारी विसंगतियाँ और अंतर्विरोध भी हैं। मुंबई की अपराध और हिंसा भरी, नैतिक दृष्टि से शर्मनाक जिंदगी के अनुभवों पर आधारित ये उपन्यास महानगरों में शोषण के दुष्चक्र का पर्दाफाश करते हैं। मुंबई के चालों की कबूतरखाने की जिंदगी, सेठों के घरों से लेकर वेश्याओं के कोठों तक, आलीशान होटलों से लेकर चमकते चैराहों तक चलने वाले देह व्यापार आदि का प्रामाणिक एवं सूक्ष्म अंकन प्रकृतिवादी शैली में शैलेश मटियानी ने किया है।

दिल्ली के महानगरीय परिवेश पर लिखित ‘कोई अनजबी नहीं’, ‘छोटे-छोटे पक्षी’, ‘बावन नदियों का संगम’ आदि उपन्यासों में देश की राजधानी दिल्ली शहर के कटु यथार्थ को उजागर किया गया है। महानगरीय परिवेश में रहने वाले सामान्य आदमी की जिंदगी को, उसके जीवन के आर्थिक अभाव, सामाजिक और राजनीतिक शोषण करने वाले पूँजीपति और नेता, समाजसेवी और भ्रष्ट वकीलों जैसी जमात के असली चेहरों को उजाकर करने का सफल और सरहानीय प्रयास इन उपन्यास में हुआ है।

इलाहाबाद के महानगरीय परिवेश पर लिखित उपन्यास ‘आकाश कितना अनंत है’ में देश के भ्रष्ट मंत्रियों को अनेक षडयंत्रों में सहभागी और आम जनता के प्रति संवेदनहीन दिखाया गया है। एक पत्रकार का आम जनता से जुड़े प्रश्नों को लेकर शासकवर्ग की व्यवस्था से किया गया संघर्ष भी चित्रित हुआ है। लेखक को पात्रों के भीतर छिपी माननीय संवेदनाओं के अंकन में पर्याप्त सफलता मिली है। कालेज में पढ़ने वाली संस्कृति संपन्न और स्वतंत्र विचारों की स्त्रियों का भी रोचक चित्रण यहाँ है, जो नारीवादी आंदोलन के प्रति लेखक के सकारात्मक दृष्टिकोण को दर्शाता है।

अपनी रचना प्रक्रिया के संबंध में वे कहते हैं कि - “एक ओर मेरा अभीष्ट कुमायूँ के जनजीवन, वहाँ की संस्कृति और लोक साहित्य को, उनके अस्तित्व और उनकी आत्मा के अनुरूप शब्द-शिल्प देकर, उन्हें हिंदी साहित्य के विशाल सागर तक ले आना है।...तो दूसरी ओर मैं मुंबई के फुटपाथों, कमाठीपुरा के कोठों में चिलबिलाने-बिलखने वाली बोटियों और गणपत-रामन्ना भाऊ तथा वस्ताद-पोपटों की अपनी बिरादरी के प्रति अपने वैयक्तिक और साहित्यिक- दायित्वों के साथ बँधा हुआ हूँ जिनके टुकड़े मैंने खाए हैं, जिनसे प्यार मैंने पाया है, जिनसे जीवन जीने की कला मैंने सीखी है।”

भारतीय समाज में फैली विसंगतियों और आर्थिक शोषण की शिकार महिलाओं का जीवन ‘किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई’ में शैलेश मटियानी ने बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत किया है। पूँजीपति वर्ग किस प्रकार से अपनी वासनाओं को तृप्त करने के लिए आर्थिक दृष्टि से पिछड़े हुए वर्ग का दैहिक और आर्थिक शोषण करता है, इसका

प्रभावशाली निरूपण मटियानी जी ने इस उपन्यास में किया है। 'किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई में विलासिता, भोग लिप्सा आदि में लिप्त उन परिवारों की कहानी है जो अपनी वासनापूर्ति के लिए गरीब स्त्रियों की मजबूरी का फ़ायदा उठाते हैं। सन् 1978 ई. से 1983 ई. के बीच मटियानी जी ने जो उपन्यास लिखे हैं वे नारी जीवन की संघर्षमय तथा यातनामय पीड़ा के जीवंत दस्तावेज हैं।

3.3.1.1. स्त्रियों की दुर्दशा का चित्रण

स्त्रियों की दुर्दशा का चित्रण मटियानी जी के साहित्य का केंद्रीय विषय है। शशिकला राय के अनुसार 'भूख, स्त्री और मृत्यु मटियानी जी के साहित्य के प्रमुख आयाम हैं।'²³ अपने प्रत्येक उपन्यास में उन्होंने परित्यक्ता, अनमेल विवाह का दंश झेल रही, धार्मिक कुरीतियों की आड़ में शोषण का शिकार हो रही, दूसरों के घरों में चौका-बर्तन कर अपने परिवार का पेट पाल रहीं स्त्रियों, खुशी के अवसर पर दूसरों के घरों में नाच-गाने का काम करने वाली मिरासियों तथा वेश्यावृत्ति की समस्याओं को अभिव्यक्त किया है, जो पाठक के संवेदनतंत्र को झकझोरने वाला है। 'सवित्तरी', 'गोपुली गफूरन', 'रामकली' जैसे उपन्यास तो समाज के धूर्त और अपराधी लोगों द्वारा छली और ठगी जा रही स्त्रियों पर ही लिखे गए हैं। उनके उपन्यासों के बारे में आलोचक गोपाल राय ने लिखा है- "उनके उपन्यासों का परिवेश भले आंचलिक हो, वस्तुतः वह है भी, पर उस परिवेश में पुरुष सत्ता प्रधान समाज में नारकीय पीड़ा झेलती और उससे लगातार लड़ती स्त्री की गाथा ही प्रस्तुत हुई है। मटियानी के उपन्यासों के नारी पात्र शरतचंद्र के उपन्यासों की तरह करुण और कृष्णा सोबती, प्रभा खेतान और मैत्रयी पुष्पा के पात्रों की तरह जुझारू हैं।"²⁴

अपने पहले ही उपन्यास 'बोरीवली से बोरीबंदर तक' में नारी जीवन के साथ खिलवाड़ कर उन्हें देह व्यापार करने के लिए विवश करने वाले दलालों का मटियानी जी ने पर्दाफाश किया है। उपन्यास में चांदनी और नूर के माध्यम से सामाजिक विसंगतियों से संघर्ष करने वाली और आखिर में विजय प्राप्त करने वाली स्त्री-पात्रों का चित्रण किया गया है। चांदनी अपने बल पर अनेक कठिनाईयों से गुजरकर कोठों से अपना उद्धार कर एक सफल अभिनेत्री बन जाती है। उपन्यास में नूर, चांदनी, दादा, कलि, हुसैन आदि की कथाएँ भी प्रासंगिक हैं। उपन्यास की नायिका नूर है जो उन समस्त नारियों का प्रतिनिधित्व करती है जो समाज में आज भी अत्यंत उपेक्षा का जीवन व्यतीत कर रही हैं। नारी अपने प्रयत्न, साहस और संयम से आज भी अपनी कठिन स्थितियों में भी स्वयं का उद्धार कर सकती है, इस प्रकार का संदेश संप्रेषित करने में लेखक सफल होते हैं।

संघर्ष के दिनों में मटियानी जी ने अपना बहुत सा समय मुंबई के कमाठीपुरा और गोलपीठा जैसे स्थानों पर छोटे-मोटे काम करते हुए बिताया था। अनुभवों की प्रामाणिकता तथा यथार्थपरकता के कारण उनके उपन्यास नारी जीवन के संघर्षमय तथा यातनामय जीवन के जीवंत दस्तावेज हैं। वे महानगरों में स्त्रियों की समस्याओं को व्यापक परिप्रेक्ष्य में उठाते हैं। 'किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई' उपन्यास में वे वेश्याओं के बच्चों के प्रति अपनी चिंता सार्वजनिक करते हैं और उनके प्रति समाज को अपनी जिम्मेदारी का अहसास कराते हैं। लेखक के अनुसार वेश्याओं के बच्चे समाज से तिरस्कृत होने की नियति के साथ जन्मते हैं। इसी उपन्यास में वे वेश्याओं पर होने वाले अमानवीय अत्याचारों का ऐसा वर्णन करते हैं जो किसी संवेदनशील व्यक्ति को अन्दर तक झकझोर सकता है। उपन्यास में रामदुलार की गर्भवती पत्नी जो असीम व्यथा और पीड़ा सह रही है, रोजी रोटी के लिए

विवश होकर दूसरे की कामेच्छा की तृप्ति करती है और इस कारण उसकी मृत्यु हो जाती है। उपन्यास का यह वाक्य इस भीषण स्थिति को स्पष्ट करता है- “नगीनभाई सेठ जिन्होंने रानी को पांच रुपए इसलिए नहीं दिए कि वह आसन्न प्रसवा एक रात तो चैन ले सके। उस रात भी रानी को रहीम पठान की बगल में सोना पड़ा। और जब अबोले शिशु को रक्तिम साधू नयनों से निहार, रामी ने अपने रक्त चूसे नयन हमेशा के लिए बंद कर लिए थे, उसकी भिंची मुट्ठी खुल पड़ी थी और सरकारी सिक्के सरकार और सशक्त सेठों के मुंह पर थूक की तराह फुटपाथ पार बिखर गए थे।”²⁵

मटियानी जी वेश्याओं की गंदी, सीलन भरी चालों में फैलनेवाली भीषण संक्रामक बीमारियों के प्रति भी अपनी चिंता व्यक्त करते हैं। अपने उपन्यास ‘कोई अजनबी नहीं’ में वे परित्यक्ता स्त्री तथा बहुविवाह की समस्याओं को उठाते हैं। इस उपन्यास में रामप्यारी के माध्यम से परित्यक्ता स्त्री की दुःख और अवसाद से भरी हुई जीवन दशा का वर्णन है। उसके पति ने उसे छोड़ दिया था जिसका कारण यह नहीं था कि उसके चरित्र में खोट थी या किसी प्रकार की कमी थी। उसके पति ने उसका त्याग इसलिए किया है कि वह अपने पति से कद में ऊँची थी। अपनी शारीरिक बनावट के लिए वह किसे दोष देती? परित्यक्ता स्त्री के प्रति समाज के निर्मम आक्रामक रवैये की वजह से उसमें असुरक्षा का एक स्थायी भाव घर कर जाता है। महानगरों में स्त्रियों की दुर्दशा के लिए वे शासन तंत्र तथा पुलिस को भी जिम्मेदार ठहराते हैं क्योंकि अंततः उनकी सुरक्षा की जिम्मेदारी इन्हीं संस्थाओं की बनती है। ‘बावन नदियों का संगम’ उपन्यास में एक प्रसंग आता है जिसमें एक वकील वेश्याओं को हिदायत देता है कि इन्हेंशन कानून से बचने के लिए वे अपने घरों के बहार संगीत-नृत्य का साइनबोर्ड लगाकर अंदर जो भी करना चाहें कर सकती हैं। इस तरह की भ्रष्ट और पाखंडपूर्ण व्यवस्था के प्रति वे रोष व्यक्त करते हैं। वे लिखते हैं- “मैं बंबई की उन हजारों वेश्याओं के चेहरों को नहीं भुला पाता हूँ, जिन्हें चंद सिक्कों के बदले में बदत्मीजों, बदशक्तों और भयंकर बीमारियों से सुलगते हुए मर्दों की वहशी वासनाओं को अपनी लरजती हुई बोटियों का जायका सौंपना पड़ता है और मैं यह भी नहीं बिसार पाता कि ऐसा सब-कुछ हमारी वर्तमान जनकल्याणवादी, गांधीवादी और रामराज्यवादी सरकार की जानकारी और सहमति से हो रहा है।”²⁶

‘सवित्तरी’ शैलेश मटियानी का एक उल्लेखनीय उपन्यास है जिसमें गरीबी और अभाव में जीवन जी रही समाज द्वारा उपेक्षित परिवार में जन्मी हुई सवित्तरी की करुण और मर्मस्पर्शी कहानी है। सवित्तरी आसपास के घरों में जाकर मेहरी का काम करती है। सौन्दर्यवती होने के कारण लोग वासनामयी नज़रों से उसकी ओर देखते हैं और उसके इर्दगिर्द मंडराते हैं किंतु सवित्तरी गरीब और निम्नवर्गीय होते हुए भी समझदार, साहसी और आत्मसम्मान से जीने वाली युवती है। उसके तेवर देखकर कोई पास फटकने की हिम्मत नहीं करता। किंतु हमारे समाज का आर्थिक ढांचा कुछ ऐसा है कि अर्थ के बल पर समाज के कर्णधार वह सब कर लेते हैं जो सर्वसामान्य व्यक्ति के लिए संभव नहीं। ऐसे ही समाज के मुखियाओं द्वारा सवित्तरी छली जाती है और अंत में वह और उसका जीवन पतन की राह पर उन्मुख होता है। वास्तव में सवित्तरी हमारे समाज का वह घिनौना रूप हमारे सामने प्रस्तुत करने वाला उपन्यास है, जिसकी कल्पना मात्र से हम सिहर उठते हैं, उद्बलित हो जाते हैं। सवित्तरी का चरित्र हमेशा के लिए हमारी स्मृति में स्थान बना लेता है। इस उपन्यास में मटियानी जी शोषण की जड़ में व्याप्त आर्थिक पराधीनता के कारण को देखते हैं। विवशता, बेबसी और आर्थिक विपन्नता के कारण व्यक्ति किस प्रकार असहनीय स्थितियों का शिकार हो जाता है और अन्याय अत्याचारों को सहते हुए हर स्थिति से समझौता करने को तैयार हो जाता है, यह अकल्पनीय है। अपने उपन्यास ‘मंजिल दर मंजिल’ में मटियानी जी ने एक ऐसे शोषित

मजदूर की कथा कही है जो किसी भी तरह अपनी नौकरी टिकाना चाहता है। उसके मन में यह विचार सदैव आता है कि यदि नौकरी छोट गई तो वह अपना जीवन कैसे व्यतीत करेगा। मजदूर की कमजोरी भांपकर मालिक उसकी पत्नी का बलात्कार करता है। इस घटना से वह महिला अपने आपको को इतना प्रताड़ित और अपमानित महसूस करती है कि अंततः वह आत्मघात कर लेती है। नौकरी से निकाले जाने के डर के कारण सब कुछ जानते हुए भी उसका पति स्वयं को असहाय जान मालिक से कुछ नहीं कहता।

‘डेरवाले’ उपन्यास में लेखक ने नाच-गाकर लोगों का मनोरंजन करने वाली मिरासियों की विवशताओं का वर्णन किया है। लय-ताल-सुरों का ज्ञान रखने वाली तथा नाचने-गाने का हुनर रखने वाली मिरासिनें मजबूरी में वेश्यावृत्ति के व्यवसाय में फंसी हुई हैं। वेश्यावृत्ति के व्यवसाय में लगी इन स्त्रियों की स्थिति तब और भी भयानक हो जाती है जब वे बूढ़ी होने लगती हैं। ऐसे में न चाहते हुए भी उन्हें अपनी बेटियों को भी इस पेशे में धकेलना पड़ता है। किंतु पुरुषवर्ग को अच्छी तरह समझ चुकी ये मिरासिनें अपनी बेटियों को उनके चंगुल में न फंसने की सीख देती हैं। उपन्यास में एक बूढ़ी वेश्या अपनी बेटी आनंदी को शिक्षा देते हुए कहती है, “यह संसार विचित्र है चेली, यहाँ पर तू यूँ समझ ले कि फूल तो सैंकड़ों जात के होते हैं मगर उन पर मंडराने वाले भौरों की जात एक सी होती है। इनसे बहुत होशियारी से निपटना होता है।”²⁷ मटियानी जी ने अपने कथा साहित्य में धनाढ्य से लेकर गरीब तक हर वर्ग की स्त्रियों का जीवन चित्रित किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि पितृसत्तात्मक समाज में स्त्री चाहें किसी वर्ग की हो वह शोषण की शिकार होती है, वह पाबंदियों के पिंजरे में कैद होती है, अंतर सिर्फ इतना होता है कि किसी के लिए वह पिंजरा लोहे का होता है तो किसी के लिए सोने का। ‘बोरीवली से बोरीबंदर तक’ उपन्यास में चांदनी और नूर नामक नारी चरित्र कई तरह के षड्यंत्र का शिकार बनती हैं। चांदनी और नूर को सुन्दर और लुभावने सपने दिखाकर कोठों तक पहुंचा दिया जात है। यही स्त्रियाँ जीवन संघर्षों पर विजय पाकर अनेक सामाजिक विसंगतियों से जूझती अंत में अपनी मुक्ति का रास्ता बनाती हैं। इस तरह उपन्यास में नूर, चांदनी, दादा, कली, हुसैन आदि की कथाएँ भी प्रासंगिक हैं। उपन्यास की नायिका नूर है जो समस्त नारियों का प्रतिनिधित्व करती है, जो आज भी समाज में अत्यंत उपेक्षा का जीवन व्यतीत कर रही हैं। उन्होंने स्त्रियों की दशा को दिखाते हुए यह स्पष्ट किया है कि स्त्री चाहें किसी अमीर घर की हो अथवा किसी विपन्न परिवार की उनकी दशा कमोबेश एक जैसी है। महेश कटारे का उपन्यास ‘भर्तृहरि काया के वन में’ में दासी वयसिका और रानी के बीच का संवाद है- “स्मरण रखो कि हम दोनों स्त्रियाँ हैं- पुरुष के चौसर पर गोटियाँ। संयोग कहो या भाग्य कि मैं रानी के घर में हूँ और तुम सेविका के खाने में, पर गति हमारी पांसों की गति से बंधी है। और पांसे...? पुरुष के हाथ में हैं वयसिका। पता नहीं, कौन सी चाल पर कब कहाँ पिटना पड़े! न मैं अपनी कह पाऊँगी, न तुम अपनी। इसलिए अभय होकर कहो, महामात्य तुमसे क्या चाहते थे?”²⁸

समाज के सबसे अंतिम पायदान पर खड़ी, लोगों के तिरस्कार और वहशीपन की शिकार इन स्त्रियों की दुर्दशा का चित्रण उन्होंने पूरे आक्रोशित स्वर में किया है। देश के धनिक और शक्तिसंपन्न वर्ग द्वारा ओढ़े गए सज्जनता के आवरण को हटाकर मटियानी जी ने उनकी सच्चाई को नग्न रूप में उद्घाटित किया है। इस कार्य में उनके अंदर की कड़वाहट शब्दों के माध्यम से प्रकट हुई है। इस कारण उनके कथा साहित्य की भाषा पर सवाल उठाए जाते रहे हैं। इस विषय में स्वयं मटियानी जी कहते हैं कि उनका लक्ष्य सेक्स अपील और गुदगुदी जगाना नहीं है। वे शोषितों और पीड़ितों के प्रति सहानुभूति, ममता और संवेदना जगाकर पाठकों में सामाजिक, आर्थिक और पारिवारिक सजगता निर्माण करना चाहते हैं। सच यह है कि बाहर से कामुक दिखाई देने वाले मटियानी जी के पात्र

भीतर से टूटे हुए हैं। आलोचक गोपाल राय ने उनके कथा साहित्य के विषय में लिखा है- “अकूत वैभव के नीचे पलते हुए विलास और व्यभिचार, नारी की अतृप्ति और घुटन, महानगरीय जीवन के अंतर्विरोध, महानगरी में पलने वाले आवारा समाज, बंबई की रग में पल रहे अत्याचार और शोषण, बम्बईया चालों की कबूतरखाने की जिंदगी, सेठों के घरों से लेकर वेश्याओं के कोठों तक आलीशान होटलों से लेकर चमकते चौराहों तक चलने वाले देह व्यापार आदि का अंकन उन्होंने प्रमाणिक ढंग से और प्रकृतिवादी शैली में किया है।”²⁹

3.3.1.2. आर्थिक विपन्नता से जूझते लोग

वे महानगरों में दरिद्रता और अभाव का जीवन जीने को अभिशप्त ऐसे लोगों का चित्रण करते हैं जिनके लिए स्वाभिमान, मानवीय गरिमा, अस्मिता जैसे भावों का कोई अर्थ नहीं। जिनके लिए जिन्दगी कोई सुखपूर्वक बिताने की चीज नहीं बल्कि जिनपर जिन्दगी एक कहर की तरह टूटती है। अमरकांत ने अपनी कहानी ‘जिन्दगी और जोंक’ में रजुआ के विषय में लिखा था- “मुझे कभी-कभी लगता है कि वह किसी का मुहताज नहीं होना चाहता था और इसके लिए उसने कोशिश भी की, जिसमें वह असफल रहा। चूँकि वह मरना नहीं चाहता था इसलिए जोंक की तरह जिंदगी से चिमटा रहा। लेकिन लगता है कि जिंदगी स्वयं जोंक सरीखी उससे चिमटी थी और धीरे-धीरे उसके रक्त की अंतिम बूँद तक पी गई।”³⁰ शैलेश मटियानी के अनेक पात्र भी ऐसे ही हैं जो जैसे-तैसे जिन्दगी जिए जा रहे हैं। ‘कबूतरखाना’ उपन्यास का गणपत कहता है- “न बिस्तर, न चादर, न औरत। कभी-कभी तो लगता है कि बस रोटी मिलती रहे और कुछ नहीं।”³¹

शैलेश मटियानी अपने समय की समस्याओं को तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों के आलोक में देख रहे थे। स्वतंत्र भारत के लगभग हर महत्वपूर्ण राजनैतिक परिवर्तन- आपातकाल, जयप्रकाश नारायण के आन्दोलन, जनता पार्टी के उदय, मंडल आयोग की सिफारिशों के लागू होने तथा नब्बे के दशक में सांप्रदायिकता के उदय आदि पर शैलेश जी ने उल्लेखनीय टिप्पणियाँ की हैं। ऐसा इसलिए है क्योंकि आर्थिक असमानता तथा शोषण को वे राजनैतिक उदासीनता तथा भ्रष्टाचार की उपज मानते थे।

मटियानी जी की एक विशेषता यह भी है कि वे कदम-कदम पर श्रम के महत्त्व और संघर्ष की चेतना को स्थापित करते दिखते हैं। उनके पात्र दारुण जीवन जीते हुए भी उत्कट जिजीविषा और इच्छाशक्ति से जीवन के झंझावातों को झेलते दिखाई देते हैं। महानगरों के क्रूर झंझावात भी उन्हें जीवन से विमुख नहीं कर पाते और वे गिरकर फिर उठ खड़े होते हैं। गिरिराज किशोर जी ने इस संबंध में टिप्पणी की है- “मटियानी जी में जूझने की असीम सामर्थ्य है। उनको हर मुहिम पर जूझना पड़ता है और वे जूझने से मुंह नहीं मोड़ते। पत्थरों को तोड़कर राह बनाने की पूरी प्रक्रिया उनकी जिन्दगी जीने की प्रक्रिया है।”³²

वे दूरदृष्टि संपन्न लेखक थे। महानगरों की जिन समस्याओं के प्रति उन्होंने पिछली शती के सातवें-आठवें दशक में आगाह किया था और उनके उत्तरोत्तर बढ़ते जाने का खतरा जताया था वे आज विकराल रूप धारण किए समाज के सामने खड़ी हैं। अपने कथा साहित्य के माध्यम से उन्होंने मानव तस्करी, जुआं, सट्टा, नशीली दवाओं के व्यापार आदि गहिँत कार्यों के प्रति सावधान होने का आह्वान किया था। आज यह समस्याएं इतनी अधिक बढ़ चुकी हैं कि इनसे निपटने के लिए पुलिस की एक अलग इकाई गठित की गई है।

अपने उपन्यास मंजिल दर मंजिल में मटियानी जी ने एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया है जो आर्थिक विपन्नता के कारण अकल्पनीय और असहनीय अत्याचार को भी सहने को मजबूर हो जाता है। उपन्यास में एक शोषित मजदूर की कथा है। मजदूर की पत्नी का उसके मालिक द्वारा बलात्कार किया जाता है। इस घटना से वह महिला अपने आपको को इतना प्रताड़ित और अपमानित महसूस करती है कि अंततः वह आत्मघात कर लेती है। नौकरी से निकाले जाने के दर के कारण सब कुछ जानते हुए भी उसका पति स्वयं को असहाय जान मालिक से कुछ नहीं कहता। मंजिल दर मंजिल में मटियानी जी ने एक ऐसे व्यक्ति का चित्रण किया है जो आर्थिक विपन्नता के कारण अकल्पनीय और असहनीय अत्याचार को भी सहने को मजबूर हो जाता है। उपन्यास में एक शोषित मजदूर की कथा है। मजदूर की पत्नी का उसके मालिक द्वारा बलात्कार किया जाता है। इस घटना से वह महिला अपने आपको को इतना प्रताड़ित और अपमानित महसूस करती है कि अंततः वह आत्मघात कर लेती है। नौकरी से निकाले जाने के दर के कारण सब कुछ जानते हुए भी उसका पति स्वयं को असहाय जान मालिक से कुछ नहीं कहता। इस प्रकार के अनेक दारुण दृश्य उनके उपन्यास और कहानियों में दिखते हैं।

‘कबूतरखाना’ महानगरीय परिवेश पर आधारित उपन्यास है जिसमें एक विशिष्ट मोहल्ले का चित्रण किया गया है। नैतिक दृष्टि से गंधाती जिन्दगी के अनुभव पर आधारित प्राकृतिक ढंग का साधारण उपन्यास है। अकूत वैभव के नीचे पलते हुए विलास और व्यभिचार, नारी की अतृप्ति और घुटन, महानगरीय जीवन के अंतर्विरोध, महानगर में पलने वाला आवारा समाज, मुंबई की रंगों में पल रहे अत्याचार और शोषण, मुम्बईया चालों की कबूतरखानों की जिंदगी, अभावग्रस्त जीवन आर्थिक विषमता आदि समस्याओं का चित्रण कबूतरखाना में हुआ है।

उपन्यास का पात्र गणपति जिस वर्ग का प्रतिनिधि पात्र है, उस वर्ग की इस भयानक स्थिति का एकमात्र कारण पूंजीवाद और पूंजीवादी वर्ग है। इन पूंजीवादियों की शोषण नीति के कारण ही गनपत जैसे म्हणत मजदूरी करने वाले सम्पूर्ण वर्ग की अवहेलना और उपेक्षा होती है। मटियानी जी ने इस उपन्यास में निम्न और शोषित वर्ग के लोगों के संघर्षमय जीवन का वर्णन किया है। गनपत जैसे पात्र मुंबई तथा एनी महानगरों में कबूतरों के सामान अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

फिल्म में काम करने वाले कलाकारों का जीवन बाहर से जितना सुंदर दिखाई देता है, भीतर से उतना ही कुरूप होता है। साधारण मनुष्य के जीवन में सुख-दुख की यात्राएँ चलती रहती हैं, वैसी ही यात्राएँ फिल्म कलाकारों के जीवन में हैं। इन्हीं यात्राओं को आधार बनाकर शैलेश जी ने ‘बर्फ गिर चुकने के बाद’ उपन्यास की रचना की। उपन्यास के नायक रवि को देखकर उसकी पूर्व प्रेमिका सहजभाव से पूछती है, “क्यों पहचान नहीं पा रहे हो?” इस एक मामूली प्रश्न की कितनी गहरी और भिन्न-भिन्न प्रतिक्रियाएँ हो सकती हैं, इसका अत्यंत मार्मिक चित्रण उपन्यास में है। ‘डेरैवाले’ उपन्यास में शैलेश मटियानी ने एक विशिष्ट वर्ग के लोगों की जीवन स्थिति को दर्शाया गया है। ‘चंद औरतों का शहर’ में उन्होंने मनुष्य के मन के भीतर चलने वाली द्वंद्वात्मक स्थिति और मानसिकता को बड़ी मार्मिकता से चित्रित किया है। ‘मुठभेड़’ में सरकारी तंत्र की संवेदनशून्यता और अमानवीयता का तिलमिला देने वाला चित्रण किया गया है।

‘मंजिल दर मंजिल’ की फातिमा बेगम एक ऐसी नारी है जो अपने परिवार का गुजारा करने के लिए स्वयं अनाचार और अत्याचार को सहती है। फातिमा बेगम जिन स्थितियों से गुजरती है उस स्थिति में उसका चरित्र

पाठकों को पतित या गिरा हुआ नहीं लगता क्योंकि वह जो भी कर रही है, उसमें उसका त्याग और बलिदान ही है। इसी कारण से पाठक के मन में उसके प्रति सहानुभूति का भाव प्रकट होता है। समकालीन राजनीतिक परिवेश और राजनीति में बढ़ती हुए हिंसा तथा गुंडागर्दी का चित्रण उपन्यासकार ने विश्वसनीयता के साथ किया है। नगरीय परिवेश पर आधारित 'मंजिल दर मंजिल' उपन्यास में शोषित मजदूर वर्ग की पीड़ाभरी दास्तान है। महानगरीय जीवन पर केन्द्रित अनेक कहानियाँ भी उन्होंने लिखी हैं जो महानगरों में शोषण का शिकार लोगों की पीड़ा का जीवंत दस्तावेज़ हैं।

3.3.1.3. राजनीति और सरकारी तंत्र की संवेदनशून्यता

शैलेश मटियानी के उपन्यास मुठभेड़ में सरकारी तंत्र की संवेदनशून्यता और अमानवीयता का तिलमिला देने वाला चित्रण किया गया है। उपन्यास की कथानुसार एक बार एक हौलदार के द्वारा एक बकरे की मृत्यु हो जाती है और यह मृत्यु ही कुछ ऐसा रूप धारण कर लेती है कि इसी मुठभेड़ के माध्यम से रचनाकार उन अनेक चेहरों का पर्दाफाश करता है जो बड़ी संवेदनहीनता से सरकारी तंत्र को चला रहे हैं। उपन्यास की भूमिका में लेखक ने कहा है, - "मुठभेड़ के गहरे विवेचन में जायेंगे तो इसकी अभिव्यक्ति बहुत दूर तक हमारी सामाजिक व्यवस्था के उन तमाम अन्तःप्रसंगों तक दिखेगी जहाँ यह शब्द ठीक इसी रूप में प्रचलन में न होते हुए भी अपनी उपस्थिति का पूरा-पूरा आभास देता है। तब यह पुलिस को प्रदत्त हत्या का अधिकार मात्र ही नहीं रह जाता, बल्कि हत्या की स्थितियाँ उत्पन्न करने और बनाये रखनेवाली व्यवस्था का चरित्र उद्घाटित करता दिखाई पड़ता है। सामान्यतः होते जाना केवल मानवीय व्यवस्था में ही संभव है।"³³

मुठभेड़ के कथानक से अधिक उसमें वर्णित स्थितियाँ महत्व रखती हैं। इन स्थितियों के माध्यम से ही उपन्यास में चरित्रों का सफल चित्रण किया गया है। मटियानी जी के अन्य उपन्यासों की भांति इस उपन्यास में चरित्रों की संख्या भी अधिक नहीं है। हौलदार के द्वारा बकरे की मृत्यु इस छोटी सी घटना को लेकर उपन्यासकार ने समकालीन सामाजिक और राजनीतिक सन्दर्भों को लेकर अपने चरित्र के माध्यम से बहस छेड़ी है। उपन्यासकार जहाँ राजनीतिक स्थितियों की ओर इशारा करते हैं वहीं पर पुलिस और सरकारी तंत्र की यथास्थान कटु निंदा भी करते हैं। वर्तमान युग में सरकारी भ्रष्ट व्यवस्था और पुलिस का प्रबंध इतना भिन्न स्तर का है कि उपन्यासकार उसके प्रति असंतुष्ट होकर पत्रों के माध्यम से अपने ही विचार व्यक्त करते हैं।

स्वतंत्रता के बाद आम आदमी सहज जीवन जीने का सपना देखता रहा। जैसे-जैसे वह स्वतंत्रता में सांस लेने लगा उसे अपना स्वप्न कोरा आशावाद महसूस हुआ। परिणामस्वरूप लोग ऊपरी तौर पर भले ही संतुष्ट दिखाई दे रहे थे लेकिन अन्दर से वे टूटते जा रहे थे। स्वातंत्र्योत्तर उपन्यासकार इस आम आदमी के अंतर्मन के खोखलेपन को तो उजागर कर ही रहा है साथ ही उसके अस्तित्व को चुनौती देने वाली विषम और क्लिष्ट परिस्थितियों को भी अपने उपन्यास का कथा विषय बनाकर उस यथार्थ को अभिव्यक्ति दे रहा है। उपन्यास इसी आदमी का पक्ष लेकर उसे जटिल और विषम परिस्थिति से बाहर निकालने का हथियार बन जाता है। राजनीतिक सिद्धान्त आम आदमी की सच्चाई का निरूपण करने में असमर्थ हो गए हैं। यह आदमी आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक आज़ादी चाहता है। "जिसे वास्तव में टूटना था ही टूटा, शिक्षा का प्रसार हुआ किन्तु अज्ञान नहीं टूटा, चारों और अधजली सिगरेट के टुकड़ों की तरह अपने-अपने स्थान पर सुलगते लोग ही लोग और चरों और बिखरे हुए आहात जीवन मूल्य, सामाजिक संबंध, विवेक चेतना...यहाँ से वहाँ तक एक अकेलापन..।"³⁴ व्यवस्था के

खिलाफ जाने वालों की किस हद तक दुर्गति हो सकती है 'सुप्रभात' दैनिक पत्रिका का सम्पादक नृपेन्द्र भट्ट मुठभेड़ का पहला शिकार बनता है। एक ईमानदार पत्रकार वह था ही, साथ ही उसकी एस पी सही से परम मित्रता थी, उसकी गलती यह थी कि उसने अखबार में 'राजनीति के मस्तक पर पाखंडी के चरण' शीर्षक के अंतर्गत नए गृहमंत्री के बाबा दर्शन वाले प्रसंग को यथावत प्रस्तुत किया था।

‘बावन नदियों का संगम’ उपन्यास में भी भ्रष्ट राजनेताओं का जिक्र लेखक ने किया है। आर्थिक विपन्नता के कारण ही कुछ स्त्रियाँ मजबूर और विवश होकर वेश्यावृत्ति की ओर चली जाती हैं। शासक वर्ग जब वेश्यालालों को बंद करने का फतवा निकालता है, तो कहीं न कहीं उसमें राजनीतिक हित दिखाई देते हैं। यदि सरकारें स्त्रियों की शिक्षा पर ध्यान दें और उनको रोजगार के अवसर उपलब्ध कराएं तो ऐसी स्थिति ही नहीं आएगी। वे स्वावलंबी होकर अपने जीवन की आवश्यकताएं स्वयं पूरी कर लेने का आत्मविश्वास स्वयं में पैदा कर सकेंगी। राजनेताओं के दोहरे चरित्र से यह सब संभव नहीं हो पाता। बावन नदियों का संगम में नेताजी कहते हैं,- “देखो मिस्टर पत्रकार, तुम जो यह पूछते हो कि इन चकलाधरों को बचाए रखने की और वजह क्या हो सकती है? तो साथ-साथ लैट्रिन भी बना लेते हैं जो बाकी घर की सफाई के लिए सचमुच जरूरी होती है।”³⁵

इस उपन्यास में यह स्पष्ट रूप से दिखाई देता है कि व्यवस्था के खिलाफ जाने का साहस करने से पत्रकार, पुलिस अफसर, क्रांतिकारी और निर्दोष जनता की किस हद तक दुर्गति हो सकती है। उपन्यास का एक पात्र एस. पी. सहाय है जो एक ईमानदार नेक नियति का पुलिस अफसर है। एस पी सही का अपराध यह था कि उन्होंने शहर के नामी गुंडे बिंदा ठाकुर साहब और सदगुरु के कुछ आदमियों को पकड़कर उनका आधा सिर मुंडवाकर “गुंडागर्दी पाप है- पुलिस हमारा बाप है” कहलवाते हुए क्षेत्र में घुमाया था। ये गुंडे सारे शहर में सरकार के वारिसों के नाम से जाने जाते थे। इस कारण गृहमंत्री ने सहाय को अपने ही निवास स्थान में बुलाकर तौहीन कर दी थी। सर्किट हाउस में सहाय के पहुँचने पर जब गुंडे मंत्री जी के अगल-बगल बैठकर बातचीत कर रहे थे, उन्हीं गुंडों के सामने उनकी खातिरदारी करने के लिए मंत्री जी ने सहाय को आदेश दिया था और कहा था कि- “देखिये, ये जो गुंडा एलिमेंट हैं, मुल्क के किसी भी कोने में यह खुद हम नेताओं में कुछ ऐसे गंदे लोग मौके का फायदा उठाकर घुस आये हैं और ये प्रोटेक्शन देते हैं इन क्रिमिनल्स को! मैंने आपको आश्वासन दिया है कि आप किसी भी किस्म के पॉलिटिकल प्रेशर में न आइयेगा। आप लोगों में इतना मॉरल करेज होना चाहिए।”³⁶ इस प्रकार अराजकता में शामिल नेता समय पड़ने पर उल्टा अफसरों को धमकाते हैं और किसी प्रकार की अव्यवस्था होने पर इनका स्थानांतरण कर अपने कर्तव्य की इतिश्री कर लेते हैं।

3.3.1.4. महानगरीय जीवन में एकाकीपन

महानगरीय जीवन में अजनबीपन और एकाकीपन की अनुभूति होना सामान्य बात है। सामूहिक-सामुदायिक व्यवस्था के अभाव के कारण एकाकीपन का बोध स्वाभाविक है। मटियानी जी ने अपने उपन्यास ‘छोटे-छोटे पक्षी’ में इस समस्या को एक गंभीर समस्या के रूप में रेखांकित किया है। इस उपन्यास की कथाभूमि दिल्ली की है। दिल्ली महानगर का परिवेश एक ऐसा परिवेश है जहाँ जीवन बड़ा ही व्यस्त रहता है। इस व्यस्त जीवन में अकेलेपन के अनुभव को उपन्यासकार ने चित्रित किया है। आधुनिक समाज में व्यक्ति के चारों ओर हजारों-लाखों लोग हैं। फिर भी उसका अपना कोई नहीं है। इस समाज की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि व्यक्ति के

संबंधों में औपचारिकता इतनी अधिक बढ़ गयी है कि उनमें घनिष्टता का स्थान नहीं रह गया है। दिल्ली जैसे महानगरों के परिवेश में रहने वाले एक ही बहुमंजिले मकान के निवासी भी एक-दूसरे से परिचित नहीं होते हैं। अतः व्यक्ति धीरे-धीरे सामूहिक संबंधों से दूर हो जाता है। समूह में उसे प्रेम, स्नेह, सुरक्षा, आदर सब कुछ मिलता था। आज के समाज में इनका अभाव है। और यही बात उपन्यास में नायक और नायिका सतीश और दीक्षा के विषय में कही जा सकती है।

महानगरों में यही एकाकीपन एक प्रकार का अजनबीपन भी है और अजनबीपन की यह भावना महानगरीय परिवेश में, सब जगह दिखाई देती है। इस उपन्यास में शैलेश मटियानी ने अजनबीपन की समस्या और उसके परिस्थितिजन्य कारणों का चित्रण किया है। जिस स्तर पर शैलेश मटियानी ने इस उपन्यास में अजनबीपन की समस्या को उजागर किया वह बहुत ही सार्थक है। 'छोटे-छोटे पक्षी' की एक स्थिति विशेष में दीक्षा जब घर में अकेली रह जाती है तो कुछ व्यक्ति उसके घर में चले आते हैं और सिरदर्द का बहाना बनाते हैं। वास्तव में वे सिरदर्द का बहाना बनाकर उसका शोषण करना चाहते हैं। इस घटना के माध्यम से लेखक ने महिलाओं के साथ होने वाली ज्यादतियों और अपराधों की ओर इशारा किया है।

'आकाश कितना अनंत है' उपन्यास में भी गरीबी और बेकारी के कारण एकाकीपन से जूझ रहे युवाओं का वर्णन है। मटियानी जी के अन्य उपन्यासों की तुलना में इस उपन्यास का कैनवास काफी फैला हुआ है। इलाहाबाद की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक स्थितियों से बदले हुए परिवेश का चित्रण विस्तार से किया गया है। उपन्यास का पात्र राजशेखर, मीना से बहुत प्रेम करता है किन्तु उसके जीवन में घटनाएं कुछ इस प्रकार से घटित होती हैं कि वह मीना से विवाह करने में असमर्थ रहता है। मीना का विवाह प्रो. तिवारी के साथ होता है। इस विवाह से मीना का प्रेमी राजशेखर आपे से बाहर होता है और भीड़ भरे बाजार में प्रो. तिवारी को थप्पड़ मार देता है। यद्यपि वह झगड़ालू नहीं है किन्तु क्रोध में ऐसा कदम वह उठा लेता है। इस घटना के बाद प्रत्येक व्यक्ति उसे शक की नज़र से देखने लगता है। शेखर को अपनी इस गलती का अहसास होता है और उसे लगता है कि सारे शहर में उसे रहने के लिए कहीं ठौर नहीं है। ऐसे समय में श्रीमती मैथाणी उसे आश्रय देती हैं। लेकिन लोग श्रीमती मैथाणी के बारे में ही बुरी-बुरी बातें करने लगते हैं।

दिन भर मजदूरी करने वाले श्रमिकों के एकाकीपन की दुर्दशा कोई अजनबी नहीं उपन्यास में दिखाई देती है। दिन भर खटने वाला मजदूर सेठ, ठेकेदारों के अत्याचार तथा अमानवीय व्यवहार को सहकर जीने को अभिशप्त हैं। मेहनत-मजदूरी के बाद जब वे शाम को अपने घर लौटते हैं तो अपनी दिन भर की पूरी तनख्वाह घर पर नहीं देते हैं। उनकी आधी मजदूरी तो शराब पीने में चली जाती है और जो कुछ बचता है उससे वह अपने घर का गुजारा करता है। वह शराब के नशे का आदी नहीं, वह अपनी थकान शराब पीकर निकालना चाहता है। मजदूरों के पास रहने के लिए जगह इतनी कम है कि पूरे परिवार को एक ही कमरे में गुजारा करना पड़ता है। दिल्ली जैसे महानगरों में आर्थिक धनाभाव के कारण मजदूरों को अपना जीवन अनेक भयानक विदारक स्थितियों के साथ गुजरना पड़ रहा है। जिस मजदूर के घर में पूरा परिवार रहता है उसके लिए परिवार का गुजारा कर पाना बड़ा मुश्किल होता है। दिनभर कठिन मेहनत के कारण उनके पास इतना समय नहीं बचता कि कुछ समय वे अपने परिजनों के साथ हंसकर बिता सकें।

समाज की तलछट और अपराधी दुनिया से पत्रों को लेकर वह उन्हें गहरी करुणा और मानवीय आशयों से समृद्ध करके प्रस्तुत करते हैं। इससे किसी को भी असहमति नहीं हो सकती कि इस तरह के खराब और अपराधी समझे जाने वाले लोग वस्तुतः गलत सामाजिक व्यवस्था के शिकार होते हैं। उनकी विकृति और अपराध की ऊपरी परतों को खुरच देने मात्र से उनमें करुणा, सहानुभूति और अंतरंगता की अन्तःसलिला फल्गुधरा की तरह प्रवाहित होती दृष्टिगोचर होती है। मटियानी जी की दृष्टि किसी पूर्वाग्रह से पीड़ित नहीं है।

3.3.2. शैलेश मटियानी की कहानियों में चित्रित महानगरीय समस्याएं

उनकी कहानियों में जहाँ एक तरफ कुमायूँ का पहाड़ी प्रदेश मिलता है वहीं दूसरी तरफ महानगरीय परिवेश का चित्रण मिलता है। इन कहानियों में जहाँ उन्होंने तथाकथित ऊँची और संपन्न जातियों के भीतर के खोखलेपन और सड़ांध को चित्रित किया है वहीं इंसानियत के झिलमिलाते दीयों का प्रकाश भी दिखाया है, उसे भी रेखांकित किया है। इनमें कुछ ऐसे भी पात्र मिल जायेंगे जिनमें कहीं भीतर तक मनुष्य होने का अहसास बाकी है तो कहीं ऐसे पात्र भी हैं जो मनुष्य होने की चेतना खो चुके हैं। लाख गरीबी और दरिद्रता के बावजूद अपने मान-सम्मान और 'मरजाद' के लिए जूझती, जीवट वाली नारियाँ भी यहाँ दृष्टिगत हो सकती हैं। इस तरह इनमें कीचड़ में खिलने वाले फूलों को हम देख सकते हैं।

मटियानी जी ने जेल में बंद कैदियों के जीवन को बहुत करीब से देखा और उनके जीवन प्रसंगों के आधार पर कई कहानियाँ लिखीं, जो जेलों के भीतर की दुनिया को बिल्कुल भिन्न तरह से व्याख्यायित करती हैं। गिरिराज किशोर ने उनकी कहानियों का मूल्यांकन करते हुए उन्हें प्रेमचंद से आगे का लेखक ठहराया है। इलाचंद जोशी जैसे लेखकों ने पहाड़ की पृष्ठभूमि को अपने लेखन के लिए अनुर्वर बताया था। उसी पहाड़ी अंचल के दुख-दर्द, अभाव, समस्याओं, वहाँ की संस्कृति को आधार बनाकर शैलेश मटियानी ने अत्यंत संवेदनशील साहित्य रचा।

3.3.2.1 असंगठित मजदूरों तथा नौकरों की स्थिति

अपने समकालीन कहानीकारों के बीच अनुभवसंपन्नता, बेबाक शैली तथा संवेदनासिक्त भाषा के कारण शैलेश मटियानी अलग स्थान रखते हैं। उनकी कहानियाँ अपने पूर्ववर्ती लेखकों से भिन्नता लिए हुए हैं और परवर्ती रचनाकार भी ठीक तरह से उनका अनुकरण नहीं कर सके हैं। 'इब्बूमलंग', 'मैमूद', 'गरीबुल्ला', 'चिथड़े', 'प्यास', 'फर्क', 'बस इतना है' जैसी कहानियाँ महानगरीय जीवन की विसंगतियों का लोमहर्षक विवरण देती हैं। दिल्ली और मुंबई के अपने सुदीर्घ प्रवास में उन्होंने भिखारी, ढोंगी किस्म के साधु-सन्यासी, वेश्याएँ, पेशेवर मवाली और होटलों तथा घरों में काम करने वाले किशोर और युवाओं की अभिशप्त दुनिया को बड़े निकट से देखा और अपनी कहानियों का विषय बनाया। सबसे अधिक संख्या घरेलू नौकरों तथा असंगठित रोजगारों में लगे लोगों की हैं। कई कहानियाँ लेखक के अपने अनुभवों पर आधारित हैं, जैसे- 'जिसकी जरूरत नहीं थी', 'चिथड़े' आदि। यह कहानियाँ नौकरों की विविध समस्याओं को लेकर हैं लेकिन मुख्यतः इनमें दुर्व्यवहार का बिंदु सबसे प्रभावी है। प्रो. देवेन्द्र चौबे ने अपनी पुस्तक 'समकालीन कहानी का समाजशास्त्र' में लिखा है कि- "बाल नौकरों पर केन्द्रित

कहानियों का एक बड़ा हिस्सा उनकी संवेदना के साथ किए जा रहे खिलवाड़ और क्रूरतापूर्ण व्यवहार को लेकर है।... साथ ही प्रभुवर्ग द्वारा उन्हें उनके मार्मिक और संवेदनशील जीवन को न समझ पाने की सामंती प्रवृत्ति को भी कहानीकारों ने गंभीरता के साथ उठाया है।³⁷

बम्बई की पृष्ठभूमि पर शैलेश द्वारा लिखी गई कहानियों में 'जिसकी जरूरत नहीं थी' और 'विडुल' जैसी कहानियाँ इस त्रासद सच्चाई को उभारती हैं कि महानगरों में आजीविका कमाने के उद्देश्य से आए परिश्रमी और कर्मठ किशोर तथा युवा भी कई बार इमानदारी और अपने सिद्धांतों पर चलते हुए जीकोपार्जन नहीं कर पाते। वहाँ शोषण के अनेक तरीकों से लैस, लोग तैयार बैठे हैं। कहीं इन घरेलू नौकरों के साथ दुर्व्यवहार होता है, उन्हें अपशब्द कहे जाते हैं तो कहीं उन्हें वासनापूर्ति का साधन बनाया जाता है। इन घरेलू नौकरों तथा असंगठित रोजगार में लगे लोगों की समस्या महानगरों की प्रमुख समस्याओं में से एक है। इसी कारण हिंदी कहानी का ध्यान समय-समय पर इस ओर जाता रहा है। जवाहर सिंह की कहानी 'रेतघर', अमरकांत की 'बहादुर', भीष्म साहनी की 'राधा-अनुराधा', हरि भटनागर की 'लड़के', अखिलेश की कहानी 'खोया हुआ पुल' आदि घरेलू नौकरों पर केन्द्रित कहानियाँ ही हैं। उदय प्रकाश की कहानी 'हीरालाल का भूत' को कौन भूल सकता है, जो एक नौकर की, हृदय विदीर्ण करने वाली कहानी है। शैलेश मटियानी की 'चिथड़े', 'हमपेशा' और 'गंगादास, वल्द जामुनदास' आदि कहानियाँ भी इसी प्रकार के अनुभवों को केंद्र में रखकर चलती हैं। उनकी कहानियों में शुरू से ही ऐसे पात्रों की उपस्थिती आकृष्ट करती है जो आमतौर पर अच्छे आदमी नहीं समझे जाते और सामाजिक विषमताओं एवं उत्पीड़न का शिकार होने के कारण एक असामाजिक अपराधी दुनिया में शरण पाए हुए हैं। लेखक विशेष आग्रह के साथ इस तथ्य को रेखांकित करता दिखाई देता है कि समाज के ऊंचे, बड़े और अभिजात समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा इनमें कहीं अधिक करुणा और मानवीय सद्भाव बचा हुआ है। उनकी विकृति और अपराध की ऊपरी परतों को हटा देने मात्र से उनमें करुणा, सहानुभूति और अंतरंगता की धारा प्रवाहित होती दिखती है। उपन्यास तथा कहानियों के अतिरिक्त उन्होंने महानगरों की समस्याओं पर केन्द्रित अनेक वैचारिक लेख भी लिखे। हंस में धारावाहिक प्रकाशित उनकी लेख श्रृंखला 'मुंबई: खराद पर' काफी चर्चित रही थी।

3.3.2.2. भूख की समस्या

भूख तथा गरीबी का वर्णन शैलेश मटियानी की अनेक कहानियों में है। मुख्यतः 'मिट्टी', 'चील', 'भय', 'वृत्ति' आदि कहानियों को इस श्रेणी में रखा जा सकता है। 'मिट्टी' कहानी में लालमन नाम का पात्र जो भीख मांग कर पेट भरता है, कहता है, - "हाथों का लूला जनम से ही था, पाँव रेलवे लाइन पार करने में जाते रहे। माँ होश आने से पहले ही मर गई। बाबा की बस इतनी सी याददाश्त रह गयी कि चौपाईयां बहुत बाँचा करते थे... जो मैं गाता हूँ गणेशी! हम अपंग-अपाहिजों की जिंदगी तो ढोर-जानवरों की तरह कटती है, मेरी भी कट गई... यकीन मान जो ये तेरे बच्चे हैं ना, मेरे मर जाने पर मेरे गोष्ठ से भी इनकी भलाई होती हो, तो लालमन चूँ नहीं करेगा..."³⁸

भूख से पीड़ित लालमन जैसे लोगों के लिए बस भूख को शांत करना ही जीवन का सबसे बड़ा उद्देश्य है। उसके लिए क्या-क्या जतन करने पड़ते हैं उसका कोई महत्व नहीं। 'भय' कहानी में मटियानी जी ने हृदय को झकझोर कर रख देने वाले कई दृश्यों का वर्णन किया है। सीताराम की मृत्यु के बाद उसकी शोकाकुल पत्नी को बच्चों के पेट भरने की चिंता भी है इसलिए वह मृत सीताराम की जेबों को इस उम्मीद में टटोलती है कि शायद

कुछ पैसे उसे मिल जाएं, जिससे वह बच्चों का पेट भर सके। लेखक लिखते हैं- “उसके पिता की मृत्यु हो जाने पर, उसकी माँ अत्यंत करुण स्वर में चीखते हुए जिस तरह उसकी जेबों को टटोलने लगीं थीं- उस समय भी उसे यह दृश्य स्मरण हो आया था और इस समय दोनों छोटे बच्चे जिस सतर्कता के साथ सीताराम की लाश पर से पैसे उठाकर भाग गए हैं...उसे अपनी माँ की चीत्कार, पिता की लाश और उसके मुंह में दबे छिलकों को खींचती गाय-सबका स्मरण एक साथ हो आ रहा है और उसे लग रहा है, मनुष्य और जानवरों में कोई खास फर्क नहीं।”³⁹

‘इल्लेस्वामी’ कहानी में इल्लेस्वामी की बहन यनम्मा भी भूख से ही मरती है। किसी मनुष्य के भूख से मरने की खबर विचलित करने वाली होती है। लेखक भी इससे विचलित हुए बिना नहीं रहता। वे इल्लेस्वामी का दुःख बड़े तीखे स्वर में व्यक्त करते हैं- “हाँ, न जाने क्यों, दूसरे दिन स्वामी को वेंकटेश्वर की उन पूड़ियों से घृणा हो गई थी, जिनकी प्रतीक्षा में बैठते-बैठते ही उसकी यनम्मा उससे छीन गई थी। वेंकटेश्वर की वह विशाल मूर्ति उसे उस काले भैंसे सी लगती, जो अपने तीक्ष्ण सींगों से उसे चीरने आ रहा हो।”⁴⁰ ‘एक कोप चा: दो खारी बिस्किट’ कहानी में भूख की समस्या विद्यमान है। कहानी की पात्र नसीम तीन दिन से भूखी है। रामन्ना के पास एक दुअन्नी है जिसे वह नसीम को देना चाहता है। दुअन्नी देते हुए वह कहता है- ‘तू पातल भाजी और पाव खा लेना।’ लेकिन नसीम जानती है कि रामन्ना भी भूखा है, इसलिए वह कहती है- ‘एक कोप चा, दो खारी बिस्किट लेंगे। दोनों बांटकर खा लेंगे।’ इस तरह भूख, इन सबसे निचले आर्थिक स्तर पर खड़े लोगों के बीच एकता का सूत्र भी बनती है। एक-दूसरे की सहायता से ही ये लोग संसाधनहीन होने के बावजूद अपना जीवन काट देते हैं।

एक अन्य कहानी ‘प्यास’ भी भूख से परेशान होकर जेबकतरा बने शंकरिया की कहानी है। अभावों का जीवन जीते-जीते तथा भूख से तंग आकर शंकरिया लोगों की पाकिट मारना तथा झपटमारी शुरू कर देता है। एक बार एक पारसी महिला की सोने की जंजीर छीनकर भागने के आरोप में पुलिस उसको पकड़ती है और क्रूरता से पिटाई करती है। शक्तिसंपन्न लोगों के सामने असहाय हो जाने वाली पुलिस उसको पीटकर अधमरा कर देती है। लेखक, ऐसे प्रशासन तथा व्यवस्था को धिक्कारते हैं जो सबसे निर्बल पर बल प्रयोग करती है। वे इस बात पर भी दुःख प्रकट करते हैं कि पूरे बम्बई महानगर में शंकरिया से इंसानों जैसा व्यवहार करने वाला एक भी आदमी नहीं।

3.3..2.3. स्त्रियों की समस्याएं

स्त्रियों की समस्याएं लेखक का सबसे केंद्रीय विषय है। इस विषय पर उन्होंने कई उपन्यास तो लिखे ही अनेक कहानियां भी लिखीं। ‘दैट माई फादर बाल जी’, ‘नीत्शी’, ‘दो दुखों का एक सुख’, ‘मिसेज़ ग्रीनवुड’, ‘वापसी’, ‘अंतिम तृष्णा’, ‘स्वयं सेविका’, ‘खरबूजा’, ‘गोपुली गफूरन’ आदि इसी तरह की कहानियां हैं। ‘दैट माई फादर बाल जी’ में बालजी सेठ का एक के बाद शिकार बनती स्त्रियाँ हैं। इस तरह के क्रूर व्यक्ति अपने पैसों तथा संसाधनों का प्रयोग कर स्त्रियों का शोषण करते हैं। एक समय के बाद इन्हें इस काम में परपीड़क सुख प्राप्त होने लगता है। जब अन्य अनेक स्त्रियों की तरह वह गंगाबाई से भी संबंध स्थापित करता है, गंगाबाई उससे पत्नी होने का अधिकार मांगने लगती है। तब बालजी सेठ भोजन के साथ गंगाबाई और उसके बेटे अमृत को कुछ ऐसा खिला देता है जिससे वे दोनों मानसिक रूप से विक्षिप्त हो जाते हैं। ‘नीत्शी’ कहानी में असुरक्षित प्रसव से बच्चों की मृत्यु की समस्या का वर्णन किया गया है। अन्य कहानियां भी महानगरों में महिलाओं की समस्याओं को अत्यंत प्रभावी ढंग से उठाती हैं

संदर्भ सूची

- ¹ राजेंद्र यादव, दो कठिन पाठों के बीच, शेखर पाठक (सं.), पहाड़-13, नैनीताल, 2001
- ² मधुरेश, नई कहानी: पुनर्विचार, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 211
- ³ देवसिंह पोखरिया, भारतीय साहित्य के निर्माता: शैलेश मटियानी, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2018, पृष्ठ सं. 28
- ⁴ देवसिंह पोखरिया, भारतीय साहित्य के निर्माता: शैलेश मटियानी, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2018, पृष्ठ सं. 38
- ⁵ शैलेश मटियानी (1961), कबूतरखाना, आत्माराम एंड संस, दिल्ली
- ⁶ हेमंत सोनाले, शैलेश मटियानी के उपन्यास: परिवेश और रचना संदर्भ, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2014, पृष्ठ सं. 74
- ⁷ शैलेश मटियानी (1975), आरंभ से, बर्फ गिर चुकने के बाद, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद,
- ⁸ शैलेश मटियानी (1975), छोटे-छोटे पक्षी, विभा प्रकाशन इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 72
- ⁹ देवसिंह पोखरिया, भारतीय साहित्य के निर्माता: शैलेश मटियानी, साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2018, पृष्ठ सं. 47
- ¹⁰ मटियानी शैलेश (1979), आकाश कितना अनंत है, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 211
- ¹¹ शैलेश मटियानी (1980), सवित्तरी, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, मुखपृष्ठ से
- ¹² शैलेश मटियानी, सवित्तरी, हिन्द पॉकेट बुक्स, हरियाणा, पृष्ठ सं. 154
- ¹³ शैलेश मटियानी, डेरेवाले, सरस्वती विहार, दिल्ली, 1980, पृष्ठ सं. 37
- ¹⁴ शैलेश मटियानी, डेरेवाले, सरस्वती विहार, दिल्ली, 1980, पृष्ठ सं. 74
- ¹⁵ शैलेश मटियानी (1981), बावन नदियों का संगम, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 24
- ¹⁶ शैलेश मटियानी (1993), मुठभेड़, प्रकल्प प्रकाशन, नैनीताल, लेखकीय वक्तव्य से
- ¹⁷ शेखर जोशी, स्मृति में रहे वे, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, 2014, पृष्ठ सं. 61
- ¹⁸ शैलेश मटियानी, इल्लेस्वामी, शैलेश मटियानी की संपूर्ण कहानियां-1, राकेश मटियानी(सं.), 2008, पृष्ठ सं. 79
- ¹⁹ शैलेश मटियानी, चिथड़े, शैलेश मटियानी की संपूर्ण कहानियां-1, राकेश मटियानी(सं.), 2008, पृष्ठ सं. 105
- ²⁰ शैलेश मटियानी, चिथड़े, शैलेश मटियानी की संपूर्ण कहानियां-1, राकेश मटियानी(सं.), 2008, पृष्ठ सं. 106
- ²¹ शैलेश मटियानी, मौत का सामान, शैलेश मटियानी की संपूर्ण कहानियां-1, राकेश मटियानी(सं.), 2008, पृष्ठ सं. 100
- ²² शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियां, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 151
- ²³ शैलेश मटियानी की कहानियों में संघर्ष चेतना, शशिकला राय, अक्षरा, नवम्बर-दिसंबर, 2001, पृष्ठ सं. 95
- ²⁴ गोपाल राय, शैलेश मटियानी के उपन्यास, अक्षरा पत्रिका, दिसंबर, 2001, पृष्ठ सं. 84
- ²⁵ आमुख, किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई, शैलेश मटियानी, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1992, पृष्ठ सं. 13
- ²⁶ आत्मकथ्य, शैलेश मटियानी, पहाड़, अंक-13, पृष्ठ सं. 30
- ²⁷ शैलेश मटियानी, डेरेवाले, सरस्वती विहार, दिल्ली, 1980, पृष्ठ सं. 37
- ²⁸ महेश कटारे, भर्तृहरि: काया के वन में, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 2019, पृष्ठ सं. 39
- ²⁹ शैलेश मटियानी के उपन्यास, गोपाल राय, अक्षरा पत्रिका, दिसंबर, 2001, पृष्ठ सं. 90
- ³⁰ जिंदगी और जोंक, अमरकांत, हिन्दवी <https://www.hindwi.org/story/zindagi-aur-jonk-amarkant-story>
- ³¹ शैलेश मटियानी (1960), कबूतरखाना, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 2019, पृष्ठ सं. 27-28

-
- ³² गिरिराज किशोर, संवाद सेतु, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1983, पृष्ठ सं. 54
- ³³ शैलेश मटियानी (1993), मुठभेड़, प्रकल्प प्रकाशन, नैनीताल, लेखकीय वक्तव्य से
- ³⁴ शैलेश मटियानी (1993), मुठभेड़, प्रकल्प प्रकाशन, नैनीताल, पृष्ठ सं. 73
- ³⁵ शैलेश मटियानी (1981), बावन नदियों का संगम, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 102
- ³⁶ शैलेश मटियानी (1981), बावन नदियों का संगम, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 94
- ³⁷ देवेन्द्र चौबे, समकालीन कहानी का समाजशास्त्र, प्रकाशन संस्थान, नयी दिल्ली, 2001, पृष्ठ सं. 57
- ³⁸ शैलेश मटियानी, शैलेश मटियानी की प्रतिनिधि कहानियाँ, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 113
- ³⁹ शैलेश मटियानी, शैलेश मटियानी की प्रतिनिधि कहानियाँ, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 61
- ⁴⁰ शैलेश मटियानी, इल्लेस्वामी, शैलेश मटियानी की संपूर्ण कहानियाँ-1, राकेश मटियानी (सं.), 2008, पृष्ठ सं. 79

अध्याय – चार

शैलेश मटियानी के कथेतर गद्य साहित्य में महानगरीय यथार्थ

महानगरों की जटिल जीवन स्थितियां कथा साहित्य के साथ-साथ कथेतर गद्य में भी चित्रित होती रही हैं। निबंध, संस्मरण, रेखाचित्र, तथा यात्रावृत्तांत आदि विधाओं में महानगरों एवं महानगरीय जीवन पर विपुल लेखन हुआ है। ‘शहरनामा’ नामक एक नई विधा विकसित हो रही है जिसमें किसी एक शहर पर विस्तार से लिखा जाता है। आधुनिक हिंदी गद्य के आरंभ से ही नगरों की यात्राओं के विवरण तथा उनसे जुड़े संस्मरण लिखे जाते रहे हैं। द्विवेदी युग में महावीर प्रसाद द्विवेदी ने ‘आगरे की शाही इमारतें’ तथा ‘म्युनिसिपैलिटी के कारनामे’ जैसे निबंध लिखे थे जिनमें नगरों का वर्णन और वहां की व्यवस्था के गुण-दोषों के संबंध में लिखा गया है। बाद में चतुरसेन शास्त्री, शांतिप्रिय द्विवेदी, डॉ. भगवतशरण उपाध्याय, हरिभाऊ उपाध्याय, विष्णु प्रभाकर, सम्पूर्णानंद, रामवृक्ष बेनीपुरी, विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय, निर्मल वर्मा, राजनाथ पांडेय जैसे साहित्यकारों ने भी नगरों पर निबंध, संस्मरण तथा यात्रावृत्तांत लिखे। भगवतशरण उपाध्याय के निबंध ‘परकोटे बोलते हैं’ तथा विष्णु प्रभाकर के ‘हस्तिनापुर: एक और समाधि’ से प्राचीन भारतीय नगरों के विषय में महत्वपूर्ण जानकारी मिलती है। यात्रावृत्तांतों की तो लंबी सूची है। बनारसीदास चतुर्वेदी के ‘मेरी एक और रूस यात्रा’ से लेकर वर्तमान समय तक, यात्रावृत्तांत अत्यंत लोकप्रिय विधा के रूप में पढ़े जाते रहे हैं। नगरकेंद्रित यात्रावृत्तांत भी पाठक सदैव चाव से पढ़ते रहे। अनेक सामाजिक-आर्थिक तथा जनसांख्यिकीय कारणों से महानगरों में पैदा हुई समस्याएँ भी कथेतर गद्य के माध्यम सामने आती रहीं। कैलाश वाजपेई ने ‘महानगरों की एक ही परिणति: कूड़ा’ तथा गंगा प्रसाद विमल ने ‘महानगर किसका? - वर्तमान के भदे चेहरे का’ जैसे लेख लिखकर महानगरों के प्रति अपनी वितृष्णा प्रकट की। कैलाश वाजपेई ने अपने निबंध में लिखा है- “महानगरों का कोई दर्शन नहीं होता। उनमें केवल चर्या कार्य करती है, और चर्या समय के फेफड़ों में लगे हुए विषाणु की तरह है जो सोचने वाले व्यक्ति को भीतर ही भीतर सोख जाती है। महानगर का अर्थ है कोलाहल। कोलाहल अनिवार्यतः चिंतन का शत्रु है।”¹

स्वाधीन भारत में लेखक-पत्रकारों के नगर केन्द्रित होते जाने पर ‘महानगर’ बहुआयामी रूप में चित्रित होने लगे। किसी के लिए वे शरणस्थली की तरह लगे तो किसी को संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट करने वाले। ‘नई कहानी’ और उसके पश्चात् ‘समकालीन कहानी’ के पूरे दौर में जिस भोगे हुए यथार्थ की बात होती रही उसमें नगरीय जीवन का हिस्सा ही अधिक था। कहानी के सामानांतर कथेतर गद्य भी इस समय समृद्ध होता रहा। बलराज साहनी, हंसराज रहबर, रवींद्र कालिया, राजेन्द्र यादव, स्वदेश दीपक, रवींद्रनाथ त्यागी, कृष्ण बलदेव वैद्य, देवेश ठाकुर, अनीता राकेश, ममता कालिया जैसे साहित्यकारों ने अपनी आत्मकथाओं में नगरों में बिताए समय का प्रभावशाली वर्णन किया। संस्मरण विधा में मन्मथनाथ गुप्त, कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, रामवृक्ष बेनीपुरी, उपेन्द्रनाथ अशक, विष्णु प्रभाकर, अज्ञेय, कृष्णा सोबती, अजित कुमार, मनोहर श्याम जोशी, लक्ष्मीधर मालवीय आदि लेखकों की महत्वपूर्ण अवदान दिया। बीसवीं सदी के अंतिम दशक में भूमंडलीकरण और बाजारवाद की लहर में नगरीय जीवन हिंदी साहित्य में इतनी अधिक केंद्रीय महत्ता हासिल करता चला गया कि ग्रामीण समाज की उपेक्षा की बात कही जाने लगी। विश्व साहित्य में भी महानगरों पर केंद्रित कथेतर गद्य की पुस्तकें अत्यंत

लोकप्रिय हुई। 'इस्तांबुल' पर लिखी ओरहन पामुक की पुस्तक संस्मरण विधा की ही रचना है। हिंदी का कथेतर गद्य समृद्ध और विविधता से भरा है, जिसमें शैलेश मटियानी कुछ और महत्वपूर्ण जोड़ते हैं।

4.1. शैलेश मटियानी का कथेतर गद्य

कथा साहित्य के अतिरिक्त शैलेश मटियानी का कथेतर गद्य भी उल्लेखनीय महत्व का है। उन्होंने रचनात्मक जीवन के आरंभिक दो दशकों में मुख्यतः उपन्यास तथा कहानियाँ ही लिखीं। मुंबई में श्रमिक का कार्य करते हुए, वे साहित्यिक विमर्शों, वाद-विवादों से दूर रहे। किंतु इलाहाबाद आने के बाद उन्होंने निबंध, संस्मरण तथा बाल साहित्य का सृजन किया। मसिजीवी होने के कारण उन्हें इलाहाबाद में चिंतन तथा लेखन के लिए अधिक समय मिला। इलाहाबाद के इन वर्षों में उन्होंने अपने लेखों तथा व्याख्यानों के माध्यम से साहित्यिक विमर्श में सार्थक हस्तक्षेप किया। 'विकल्प' तथा 'जनपक्ष' नामक दो पत्रिकाओं का संपादन भी उन्होंने किया। उनके कथेतर साहित्य का एक संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है-

4.1.1. संस्मरण

शैलेश मटियानी के संस्मरण उनके तीन संग्रहों में संकलित हैं- 'लेखक की हैसियत से', 'पर्वत से सागर तक' और 'मुड़-मुड़कर मत देख'। 'मुक्ति-प्रसंगों का सत्य' (जो राजकमल चौधरी पर केन्द्रित है), को छोड़कर इन तीनों पुस्तकों में संकलित सभी संस्मरण आत्मकथात्मक हैं। लेखक की हैसियत से (1964) शैलेश की प्रथम संस्मरण कृति है। इसमें उनके चार संस्मरण हैं- 'लेखक की हैसियत से', 'मुक्ति-प्रसंगों का सत्य', 'अपसव्य यज्ञोपवीत' और 'अँधेरे के भीतर का आलोक'।

'पर्वत से सागर तक' (2000) संस्मरण संग्रह पर्वत से सागर तक, अनभ्यासे विषं भूखम्, फिंगर प्रिंट, बोले तो, दफा चौपन का आरोपी, (हंस, जनवरी, 1990 में प्रकाशित) या देवी सर्वभूतेषु (हंस, फरवरी, 1990 में प्रकाशित), वह कौन थी (हंस, अप्रैल, 1990 में प्रकाशित), लेखक बन सकने का रास्ता, कागज़ पर खेती और फिर पर्वत की ओर खंडों में विभक्त है। 'मुड़-मुड़कर मत देख' (2001) पुस्तक में भीषण शिरोव्याधि, अवसाद और अस्वस्थता के दिनों में लिखे गए मटियानी के संस्मरण और कहानियाँ संकलित हैं। इस संग्रह में लेखक की 'लेखा-जोखा' शीर्षक से प्रकाशित पहली से पच्चीसवीं किश्त की संस्मरण-शृंखला के अलावा 'सुगंधि पृष्ठिवर्धनम्', 'रास्ता बंद है' और 'लक्ष्य अधूरा', 'इन दिनों', 'मैं और मेरा समय' आदि संस्मरण संकलित हैं। इन पच्चीस किश्तों के संस्मरणों में उनकी पूरी जीवन-यात्रा और साहित्य यात्रा का यथार्थपरक और संघर्षपूर्ण ब्यौरा समाहित हो गया है।

4.1.2. निबंध एवं वैचारिक लेख

मटियानी जी ने भाषा, साहित्य, अभिव्यक्ति, लेखक, लेखक का दायित्व, पाठक, जनता, साहित्य का उद्देश्य आदि विषयों पर कई साहित्यिक और वैचारिक निबंध लिखे। ये निबंध उनकी तर्क शक्ति, अनुभूतिप्रवणता और वैचारिक चिंतन के परिचायक हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई समसामयिक विषयों पर बेबाक टिप्पणी करते हुए अपने विचार व्यक्त किए हैं। राष्ट्रभाषा, राष्ट्रगान, भारतीय संविधान, राष्ट्रीयता, राष्ट्रीय प्रतीक आदि ज्वलंत

विषयों पर विचार करते हुए उन्होंने सामंती और पूँजीवादी व्यवस्था के प्रति क्षोभ प्रकट किया है। वे बार-बार ईमानदार लेखन की वकालत करते हैं। ईमानदार लेखन से ही सामाजिक और सांस्कृतिक विसंगतियों के मकड़जाल को वेधा जा सकता है और उसकी वास्तविकताएँ उजागर की जा सकती हैं। उनका मानना था कि सांप्रदायिकता, धर्मांधता, सामाजिक वैमनस्य, राजनैतिक एवं सामाजिक दुष्चरित्रता को दूर किए बिना सामाजिक समरसता एवं मनुष्यत्व की कल्पना निराधार है। उनके द्वारा समय-समय पर लिखे गए वैचारिक लेखों द्वारा यह छद्म अनावृत होकर उनके चिंतन और दर्शन, निबंध और वैचारिक लेखों में व्यक्त हुआ है। लेखकीय संवेदना और अनुभवों से संपन्न उनके वैचारिक लेख विचारोत्तेजक, गांभीर्य से पूर्ण और दिशा-दर्शक कहे जा सकते हैं। यद्यपि उनके सारे विचारों से पूर्णतः सहमत नहीं हुआ जा सकता, पर उनके विचार-स्वातंत्र्य का अनादर भी नहीं किया जा सकता। शैलेश के निबंध और विचार उनके 12 संग्रहों में संगृहीत हैं। उनकी चिंतनधारा को समझने के लिए ये निबंध और विचार संग्रह अत्यंत महत्वपूर्ण हैं।

4.1.3. संपादन

शैलेश मटियानी अपने समय-समाज के प्रति अत्यंत जागरूक थे। अपने ढंग से वे उसमें हस्तक्षेप भी करना चाहते थे। अनेक मुद्दों पर उनकी अपने समकालीन लेखकों से मतभिन्नता रहती थी। किसी संगठन विशेष से न जुड़े होने के कारण वे निष्पक्ष और बेबाक होकर लिखते-बोलते थे। अपने इन्हीं उद्देश्यों की पूर्ति तथा एक आर्थिक आधार विकसित करने के उद्देश्य से उन्होंने 'विकल्प' साहित्यिक पत्रिका का संपादन शुरू किया था। इस पत्रिका के 9 अंक प्रकाशित हुए थे। 1968 में प्रकाशित हुआ इसका कथा विशेषांक साहित्यिक जगत में खूब चर्चित हुआ था। मई, 1977 में शैलेश द्वारा संपादित दूसरी विचारप्रधान अनियतकालीन पत्रिका 'जनपक्ष' का प्रकाशन प्रारंभ हुआ था। संसाधनों के अभाव तथा उनके अस्वस्थ रहने के कारण इस पत्रिका के डॉ अंक ही प्रकाशित हो सके।

4.1.4. लोक साहित्य

शैलेश मटियानी ने बचपन से ही विभिन्न लोक गाथा गायकों द्वारा गाई जाने वाली अवतार गाथाओं का बड़े ध्यान से श्रवण करते थे। जहाँ भी अवसर मिलता, गायकों से सुनी इन गाथाओं का वे स्वयं गायन भी करते थे। इन गाथाओं की शब्दावली, भाषा, लय, छंद, वाद्य-लय को उन्होंने पूर्णतः आत्मसात किया। उन्हें अधिकांश गाथाएँ कंठस्थ थीं। हिंदी में लोकगाथात्मक रूप-शैली को लेकर उपन्यासों की रचना करने वाले रचनाकारों में वे अकेले रचनाकार हैं। कुमायूनी लोक साहित्य की संपूर्ण भाषिक संपदा, भावभूमि और कथन भंगिमा से युक्त मटियानी के ये आंचलिक उपन्यास हिंदी साहित्य में अपनी रसात्मकता, विशिष्ट लोकोत्तर आनंद और कुमाऊँ के सांस्कृतिक इतिहास के सफल प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से अनूठे और विशेष महत्व के हैं।

मटियानी जी ने 1953 से 1957 के बीच कुमाऊँ अंचल की लोककथाओं का संकलन कर उन्हें सुबोध हिंदी में अनूदित कर दस संग्रहों में प्रकाशित किया-कुमाऊँ की लोककथाएँ-1 (1958), कुमाऊँ की लोककथाएँ-2 (1958), कुमाऊँ की लोककथाएँ-3 (1958), बारामंडल की लोककथाएँ (1960), अल्मोड़ा की लोककथाएँ (1960), चंपावत की लोककथाएँ (1960), डोटी प्रदेश की लोककथाएँ (1960), तराई प्रदेश की लोककथाएँ (1960), नैनीताल की लोककथाएँ (1960) और कालीपार की लोककथाएँ (1960)। ये लोककथाएँ बाल शिक्षा, लोक जीवन और लोक साहित्य की दृष्टि से तो महत्वपूर्ण हैं ही, लेखक ने इन्हें संकलित कर कुमायूनी लोक साहित्य की अमूल्य

धरोहर को संरक्षित भी किया है। इन लोककथाओं की शैली अत्यंत सरस, रोचक एवं बोधगम्य है। वे कुमायूँ की आंचलिकता से ओत-प्रोत हैं।

4.1.5. बाल साहित्य

मटियानी जी ने बाल साहित्य की भी रचना की है। उन्होंने 15 बालोपयोगी और शिक्षाप्रद रचनाएँ लिखी हैं। इन रचनाओं में अधिकांशतः बाल कहानियाँ और बाल उपन्यासिकाएँ हैं। बाल साहित्य संबंधी उनकी प्रमुख रचनाएँ इस प्रकार हैं- 'सिंधु और गंगा', 'अपनी-अपनी परंपरा', 'चुहिया का दूल्हा', 'चाँदी का रुपैया और रानी गौरैया', 'खाँसी को फाँसी', 'भरत मिलाप', 'फूलों की नगरी' तथा 'माँ तुम आओ'। इन कहानियों के अतिरिक्त मटियानी जी ने 'तीन रंग की कथा', 'योग-संयोग', 'सुबह के सूरज', 'माँ की वापसी', 'बिल्ली के बच्चे', 'यजमान और पुरोहित' तथा 'हाथी और चींटी' की लड़ाई आदि कई शिक्षाप्रद एवं बालोपयोगी कहानियाँ लिखी हैं। मटियानी के कथा साहित्य की दीप्ति के सम्मुख उनका बाल साहित्य अध्येताओं और समीक्षकों की दृष्टि से प्रायः ओझल ही रहा है।

इस विपुल प्रकाशित साहित्य के अतिरिक्त उनका असंकलित और अप्रकाशित साहित्य भी कम नहीं है। कुमायूँनी भाषा में लिखे लेख, पत्रिकाओं में छपे अनेक फुटकल लेख तथा उनकी अप्रकाशित कहानियाँ अब दुर्लभ हैं किंतु जितना उपलब्ध है, वह निश्चित ही साहित्य जगत को समृद्ध करने वाला है।

4.2. शैलेश मटियानी के कथेतर गद्य साहित्य में महानगरीय यथार्थ

हिंदी साहित्य में शैलेश मटियानी की ख्याति एक कहानीकार के रूप में है किंतु कथेतर गद्य विधाओं में भी उन्होंने महत्वपूर्ण साहित्य का सृजन किया है। यदि महानगरीय जीवन पर केन्द्रित उनके कथेतर गद्य के संदर्भ में बात की जाए तो अनेक संस्मरणों, निबंधों तथा पत्रों के रूप में यह उपलब्ध होता है। समय-समय पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित मटियानी जी के संस्मरण तीन संग्रहों- 'लेखक की हैसियत से', 'पर्वत से सागर तक' और 'मुड़-मुड़ कर मत देख', में संकलित हैं। साथ ही उन्होंने भाषा, साहित्य, लेखक का दायित्व, साहित्य का उद्देश्य, सांप्रदायिकता तथा महानगरीय जीवन की सामाजिक और सांस्कृतिक विसंगतियाँ आदि विषयों पर अनेक निबंध लिखे। लेखकीय संवेदना और अनुभवों से संपन्न उनके वैचारिक लेख 12 संग्रहों में संग्रहित हैं। वे अपने परिचितों तथा पाठकों को लंबे पत्र लिखने के लिए भी जाने जाते थे। अधिकतर पत्र व्यक्तिगत विषयों से संबद्ध होते हुए भी, महानगरीय जीवन पर उनमें छोटी किंतु अर्थवान टिप्पणियाँ मिलती हैं। हालाँकि व्यक्तिगत समस्याओं से संबंधित होने के कारण वे महानगर विषयक अध्ययन में शामिल नहीं की जा सकतीं। कई पुस्तकों की भूमिका में उन्होंने लेखन की प्रेरणा, अनुभव तथा रचना प्रक्रिया आदि के विषय में लिखा है जो रचनात्मक लेखन का हिस्सा न होकर उनका स्वगत ही है। विशेष रूप से उनके पहले कहानी संग्रह 'मेरी तैंतीस कहानियाँ' की भूमिका को तो उनका आत्मकथात्मक संस्मरण कहा जा सकता है। प्रस्तुत शोध में शैलेश मटियानी के कथेतर गद्य साहित्य में महानगरीय जीवन की पड़ताल के लिए उनके संस्मरणों तथा 'मेरी तैंतीस कहानियाँ' संग्रह की भूमिका को ही आधार बनाया गया है क्योंकि मुख्यतः इनमें ही नगर जीवन के अनुभव दर्ज हुए हैं।

शैलेश के अनेक संस्मरण साठ के दशक की बम्बई के हैं। यह समय बम्बई में साहित्यिक वातावरण की निर्मिति का समय था। इसी समय जगदंबा प्रसाद दीक्षित, देवेश ठाकुर, जितेन्द्र भाटिया, वेद राही, निरुपमा सेवती जैसे लेखक साहित्य कर्म में सक्रिय हो रहे थे। साहित्य और विविध कलाओं के बीच संवाद का सिलसिला भी इन्हीं दिनों गति पाता है। एक श्रमिक का जीवन जीने के कारण शैलेश मटियानी साहित्यिक चर्चाओं, बहस-मुबाहिसों में तो शामिल नहीं हो पाते थे किंतु सामाजिक-राजनीतिक हलचलों से वे भी अनभिज्ञ नहीं थे। वे हलचलें किस प्रकार की थीं, कवि-आलोचक विजय कुमार इस संबंध में लिखते हैं- “वह नेहरू युग के बाद का मोहभंग का दौर है। सभी भारतीय भाषाओं में युवा तेवर का एक उबलता हुआ समय। स्थापित व्यवस्था से मोहभंग, गुस्सा, हताशा, बोहेमियन अराजकता, अभिव्यक्ति में सपाट बयानी, भाषाई आक्रामकता, साहित्यिक सोच में वामपंथी दर्शन, लेखन में प्रतिबद्धता की बहसें, राज्याश्रय और सेठाश्रय वाली बड़ी पत्रिकाओं का विद्रोही संसार।”² शासन तंत्र से मोहभंग शैलेश मटियानी में और अधिक गहराई से पनपता दिखाई देता है। वे सड़कों की खाक छानकर, फुटपथों पर सोकर, महानगरों में जीवन जी रहे विपन्न वर्ग की त्रासदी जान चुके थे। वे आर्थिक असमानता और शोषण के दुष्चक्र को देख ही नहीं रहे थे बल्कि भोग भी रहे थे।

अपने संस्मरणों में मटियानी जी ने महानगरों की उन जीवनस्थितियों का वर्णन किया है जो साहित्य में दुर्लभ हैं क्योंकि उनसे गुजरने वाले लोग अपने अनुभवों को रचनात्मक रूप में व्यक्त करने के योग्य नहीं होते। शैलेश मटियानी के संस्मरण इसलिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनमें भूख, अपमान, अभाव, जेल जीवन के जो ब्यौरे दर्ज हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। समूचे विश्व साहित्य में ऐसे विवरण कुछ ही लेखकों के साहित्य में मिलते हैं इसलिए राजेन्द्र यादव ने शैलेश मटियानी के दुर्धर्ष जीवन संघर्ष और साहित्य की तुलना में गोर्की, जैक लंदन और ज्यां जेने को याद किया है। वे लिखते हैं- “यहाँ मुझे फुटपथों और घूरे से उठे हुए तीन लेखकों का अनायास ही ध्यान आ रहा है- गोर्की, जैक लंदन और ज्यां जेने। बम्बई की जिस जिंदगी का मटियानी बार-बार जिक्र करते हैं इन तीनों लेखकों के विश्वविद्यालय भी वही थे। उन्हीं ‘निचली गहराइयों’ ने गोर्की को वह वैचारिक ऊर्जा दी जहाँ वह संघर्षशील मानवता के मंत्रद्रष्टा बनकर उभरे। वे जैक लंदन की तरह जंगलों और समुद्र के भेड़ियों, बाघों, लुटेरों, और जल दस्युओं के खिलाफ अपराजेय जिजीविषा की लोमहर्षक कहानियां लिख सकते थे।”³

महानगरों में हुए बुरे अनुभवों, यंत्रणाओं को शैलेश मटियानी ने व्यर्थ नहीं जाने दिया बल्कि उनसे बहुत सीखा। उनके साहित्य पर भी उन अनुभवों की छाप देखी जा सकती है। “मुंबई में हुए अनुभवों ने उन्हें आदमी की जिजीविषा और व्यक्तित्व के नए अछूते आयामों को देखने समझने की एक नई दृष्टि दी। उनके साहित्यिक जीवन को यहाँ एक गति मिली।”⁴ स्वयं शैलेश मटियानी ने यह स्वीकार किया कि जिस तरह का जीवन उन्होंने जिया उसके बाद या तो वे अपराध के रास्ते पर बढ़ सकते थे या इन अनुभवों से उपजी संवेदना से लेखक बन सकते थे। शेखर पाठक ने तो नगरों में बीते उनके संघर्ष के दिनों को उनकी उच्च शिक्षा कहा है- “यदि यह कहा जाए कि कुमाऊँ के सामाजिक-सांस्कृतिक अनुभवों ने उन्हें स्नातक बनाया तो यह कहना अनुचित न होगा कि उनकी उच्च शिक्षा दिल्ली, बम्बई, इलाहाबाद, मुजफ्फरनगर तथा अन्यत्र के फुटपथों तथा ढाबों आदि से हुई थी।”⁵ इन संस्मरणों में से कई तो लेखक की निजी स्मृतियों से जुड़े हैं, जिनमें वे अपने परिजनों को याद करते हैं लेकिन कई संस्मरण ऐसे हैं जो एक ऐतिहासिक दस्तावेज की तरह उस समय की सामाजिक स्थितियों और राजनीतिक परिवर्तनों की जानकारी देते हैं। मटियानी जी के संस्मरणों में संघर्ष का स्वर विविध आयामों में फूटता हुआ दिखाई देता है। जिन प्रमुख समस्याओं को उन्होंने अपने संस्मरणों में उठाया है, वे हैं- गरीबी तथा भूख, संवेदनहीन समाज

तथा अपनेपन की भावना का लोप, असुरक्षा की भावना, बेरोजगारी, तनाव, अवसाद, कुंठा तथा अत्यधिक प्रतिस्पर्धा, औपचारिक संबंध तथा कृत्रिम व्यवहार, आर्थिक असमानता आदि।

ये संस्मरण तत्कालीन महानगर की स्मृतियों के तो हैं ही, साथ ही लेखक के अपने विषय में भी हैं। समय-समय पर उनमें कैसे विचलन आए, प्रतिकूल परिस्थितियों ने तोड़ने की कोशिश की लेकिन लेखक ने अपने को संजोये रखा, इस पूरी यात्रा का वर्णन इन संस्मरणों में है।

4.2.1. मैं और मेरी रचना प्रक्रिया

शैलेश मटियानी का पहला संस्मरण उनके कहानी संग्रह 'मेरी तैंतीस कहानियां' की भूमिका के रूप में प्रकाशित हुआ था। 1961 में जब यह पुस्तक प्रकाशित हुई, लेखक की आयु तीस वर्ष थी। पुस्तक की भूमिका में उन्होंने अपने बचपन से लेकर बम्बई में आरंभिक दिनों के संघर्ष का वर्णन किया है। बचपन के दिनों को याद करते हुए एक ओर तो उन्होंने हरी-गहरी घाटियों, कुमाऊँ अंचल के लोकगीतों व दादा-दादी से मिले प्रेम की सुखद स्मृतियों को साझा किया है वहीं चाचा जी द्वारा शिक्षा से दूर रखे जाने, दुर्व्यवहार झेलने तथा पड़ोसियों द्वारा जुआरी का बेटा तथा बूचड़ का भतीजा कह कर पुकारे जाने के कड़वे अनुभवों को दुख के साथ याद किया है। घर की स्थिति तथा लोगों की कटूक्तियों से तंग होकर वे पहले दिल्ली और वहां से इलाहाबाद चले गए। इलाहाबाद में लेखक शमशेर बहादुर सिंह के सहयोग से उन्हें लीडर प्रेस की कैटीन में जूठे बर्तन धोने का काम मिला। आर्थिक अभाव से उपजी चिंता और बेचैनी के कारण शैलेश से एक प्लेट गिरकर टूट गई। इससे क्रोधित हुए कैटीन के मैनेजर ने पूरे दिन काम करवाया और बिना पारिश्रमिक दिए भगा दिया। वे लिखते हैं- “एक प्लेट मुझसे टूट गई थी, उसी में मेरी दिन भर की मजदूरी भी टूट गई। सबेरे थोड़ा सा नाश्ता दिया था, दिन भर जूठे बर्तन घिसवाकर और प्लेटें धुलवाकर, शाम को बिना कुछ खिलाये ही मुझे निकाल दिया गया।... और मेरी आत्मा इतनी कायर हो चुकी थी, इस सीमा तक टूट गई थी कि मुंह से अपने प्रति बरती गई इस क्रूरता के प्रति क्रोध के अक्षर नहीं फूट सके, सिर्फ अपनी दयनीय स्थिति पर आँखों से लगातार आँसू चूते रह गये।”⁶ भूखे पेट वे सड़कों पर घूमते रहे और ठंड तथा नींद के आवेग में एक मकान के बरामदे में सो गए। जब मकान मालिक ने उन्हें अपने बरामदे में सोते पाया तो उसने शैलेश को थप्पड़ मारे और पुलिस के सुर्पद कर दिया। इस तरह शहर से पहला परिचय ही बुरे अनुभव के साथ हुआ। एक नए शहर के अजनबी माहौल में यह असहाय स्थिति एक युवा के मनोबल को तोड़ने वाली थी। इन घटनाओं से नगरीय समाज की निष्ठुरता और संवेदनहीनता का पता चलता है। दरअसल महानगरों का गतिमान और घटनाबहुल परिवेश यहाँ के नागरिकों में असुरक्षा तथा उससे उपजी अतिरिक्त सावधानी की भावना पैदा करता है। इसके कारण छोटी घटना के काल्पनिक परिणामों के विषय में सोचकर प्रतिक्रिया की जाती है।

लेखक एक ओर शहर में हुए अपने कड़वे अनुभवों को बताते हैं वहीं दूसरी ओर सहयोग करने वाले लोगों के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करना भी नहीं भूलते। इलाहाबाद में उनकी सहायता प्रख्यात कवि शमशेर बहादुर सिंह ने की। लेखक ने उन्हें अत्यंत आदर और आत्मीयता से याद करते हुए लिखा है- “शमशेर बहादुर सिंह...यह एक नाम है, जो मुझे याद आता है, तो ऐसा लगता है, कि श्रद्धा का एक बहुत बड़ा फूल मेरे माथे पर खिल गया है और उसके भार से विनत मेरा सर शमशेर के उन अप्रत्यक्ष चरणों में झुक जाता है, जिनकी अमित छाप मेरे मन की वेदी की गीली मिट्टी पर निरंतर और अधिक उज्ज्वल, और अधिक गहरी होती चली आई है।”⁷ वे अपने संघर्ष के

दिनों को 'दुर्दिन' कहते हुए भी हिचकते हैं क्योंकि उनका मानना है कि उनकी स्मृतियों में जो रह गया है वह उन्हीं कठिन दिनों का अर्जित किया हुआ है। लोगों से अपमान मिला लेकिन आत्मीयता और सहायता भी मिली। नगरों में आने के बाद लेखक की कई पूर्वधारणाएं भी टूटीं। फुटपाथ पर रहने वाले गरीब लोगों के अंदर मानवता का प्रकाश देखा तो समाज में प्रतिष्ठित कई संपन्न लोग, ओछेपन और स्वार्थ में डूबे हुए मिले। एक प्रसिद्ध कवि के पास वे आश्रय मिल जाने की आशा में गए। कवि ने सहयोग के स्थान पर कड़वे शब्द बोलकर झिड़क दिया- 'हमारे पास तो कोई नौकरी नहीं। एक पहाड़ी छोकरा पहले भी रखा था, वह बेईमानी करके भाग गया।' ⁸ लेखक का प्रत्येक साहित्यकार को महान समझने का भ्रम भी टूट गया। वे लिखते हैं- "उसी दिन यह आस्था मुझे मिली कि साधारण व्यक्तियों के हृदय में कई महान साहित्यकारों की अपेक्षा कहीं अधिक संवेदना, सौजन्यता और मानवीय सद्भावनाएं होती हैं।" ⁹ इस घटना से क्षुब्ध होकर शैलेश ने इलाहाबाद छोड़ दिया और वहां से पहले मुजफ्फरनगर और वहां से बम्बई पहुंचे। बड़ा शहर होने के कारण रोजगार की आशा से वे बम्बई गए थे। वहाँ पहुँचते ही उनके साथ ऐसी घटना घटी जो महानगरों के लिए तो सामान्य बात है लेकिन एक असहाय, गरीब, बेरोजगार युवा के लिए यह किसी धक्के से कम नहीं। घटना का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं- "बिना टिकट फ्रंटीयर मेल की यात्रा की कहानी भी कुछ अजीब सी है, मगर उससे भी अनोखी बात यह है कि बम्बई पहुँचते ही मेरा गरम कोट ठगा गया, रहा सहा झोला-झंटा लेकर साथी भी खिसक गया।" ¹⁰ महानगर में पहुँचते ही पहली चोट, लेखक की, दूसरों पर सहज ही विश्वास करने की प्रवृत्ति पर हुई जो अधिकतर ग्रामीणजनों का स्वाभाविक गुण होता है। इसके बाद लेखक का जो समय बम्बई में गुजरा, उसका संघर्ष किसी को भी विचलित कर सकता है। इस कालखंड में अनेक ऐसी घटनाएं घटीं जिनके विवरण पाठक को लेखक के प्रति वितृष्णा के भाव से भर सकते हैं। अनेक अवसरों पर लेखक अकर्मण्य, लोभी तथा सिद्धांतविहीन प्रतीत हो सकते हैं, लेकिन प्रशंसनीय बात यह है कि लेखक ने अपने अवगुणों को भी सच्चाई के साथ प्रस्तुत किया है। शायद इसीलिए ममता कालिया ने कहा था कि- "शैलेश जी की आत्मस्वीकृतियाँ हमारे अंदर विस्मय पैदा करती हैं।" ¹¹

किसी प्रकार के रोजगार और संरक्षण-सहयोग के अभाव में शैलेश को भूख और निराश्रयता का सामना करना पड़ा। इन्हीं दिनों में फुटपाथ पर सोने वालों कुछ लोगों की संगत में तथा पुलिस चौकी में रहने के दौरान उन्हें खून बेचकर पैसे कमाने के बारे में पता चला, कोई और उपाय न देखकर पैसे के लिए वे भी अपना खून बेचने लगे। वे लिखते हैं- "इन पुलिस चौकियों में ही मुझे यह भी पता चला कि खून बेचकर भी रुपये कमाए जा सकते हैं... और फिर मैंने, सात-आठ महीने के अंदर, पांच बार अपना खून बेचा। एक बोतल खून दस रुपये में बिकता था। बीस रुपये सेर के भाव। मेरा खून इतना कीमती सिद्ध होगा, यह कहाँ मैंने सोचा था? (यों, इन दस रुपयों में से भी शुरू-शुरू में, दो रुपये प्रति बार 'दलाल' के हिस्से में चले गए)" ¹² महानगरों में इस तरह की अनाथ जिंदगी जीने वाले लोगों की कमी नहीं। पेट की भूख मिटाने के लिए लोग जो रास्ता अपनाते हैं वह दूसरों के लिए बहुत वीभत्स लग सकता है, लेकिन इनके लिए यह, हर जद्दोजहद कर जीने की इच्छा बचाए रखने की कार्रवाई है। नगरों में एक तबका ऐसा है जो बीमारियों का शिकार है या अपनी अकर्मण्यता के कारण कुछ करना नहीं चाहता। ऐसे लोग मंदिरों आदि के बाहर भीख मांगते हैं, लोगों के द्वारा फेंके गए जूठे फल तथा भोजन खाते हैं। लेखक को इस प्रकार की स्थितियों से भी गुजरना पड़ा। लंबे समय तक इस प्रकार का अपमानजनक और गरिमाहीन जीवन जीने से शैलेश मटियानी टूट गए और उन्होंने आत्महत्या का निर्णय ले लिया। लेकिन उस समय उन्होंने अपने परिजनों, गाँव और साहित्यकार बनने के अपने स्वप्न को याद किया और आत्मघात का विचार त्याग दिया।

वेदना और अवसाद की उस घड़ी में उन्होंने शहरों में अभावों का जीवन जीने वाले किंतु अपने श्रम पर विश्वास के चलते प्रसन्न रहने वाले लोगों को याद किया। इनका संघर्ष एक-दूसरे का पाथेय बनता है। ये आने वाले कल की चिंता नहीं करते और थोड़े में ही संतोष करते हैं। लेखक लिखते हैं- “...और मेरी आँखों में उभर आए बोरीबंदर, बम्बई सेन्ट्रल स्टेशनों के कुली, फुटपाथों के मस्तमौला शहंशाह और तन तोड़-तोड़कर जीने वाले गरीब मजदूर... और मुझे शर्म आई कि ये लाखों जी रहे हैं और मैं एक अकेला नहीं जी सकता? ये लाखों अपने मजबूर प्यार के सपनों को पूरा करने के लिए अपना पसीना बहा रहे हैं कि अपने माँ-बाप, अपने भाई-बहन और अपने जीवन के प्रति, अपने स्वधर्म के प्रति, अपने दायित्व का पालन कर सकें।”¹³ यह बोध होने के बाद लेखक ने कठिन से कठिनतर परिश्रम करके भी जीवित रहने तथा हार न मानने का संकल्प लिया और ‘श्रीकृष्ण पूरी हाउस’ में जूठी प्लेटें धोने का काम शुरू कर दिया। महानगर के वंचित समुदाय के लोगों से, जिन्हें लेखक ने ‘फुटपाथों का मस्तमौला शहंशाह’ कहा है, लेखक को आत्मबल मिला। इसी कारण अपने साहित्य में वे आशा जगाते हैं। बुरी स्थितियों में जी रहे, विविध प्रकार के व्यसनों में फँसे उनके पात्र, आशा की लौ जलाये रहते हैं और अंततः अच्छी स्थिति में आ जाते हैं। प्रेतमुक्ति, हारा हुआ, इल्लेस्वामी, इब्नू मलंग, कठफोड़वा, मैमूद जैसी कहानियों को इस संदर्भ में देखा जा सकता है।

इन्हीं दिनों में उन्होंने कमाठीपुरा, गोलपीठा जैसी जगहों पर जाना प्रारंभ किया और वहां वेश्यावृत्ति के पेशे में फंसी मजबूर स्त्रियों की दुर्दशा ने उन्हें झकझोर कर रख दिया।

लेखक अपने संस्मरणों में विपन्न लोगों की निवास की कोई व्यवस्था न होने की पीड़ा का वर्णन भी करते हैं। आवास के अभाव में वे प्रेम, संभोग के लिए निजता का एक कोना भी नहीं तलाश पाते। अनेक मामलों में लापरवाही और देरी के लिए विख्यात पुलिस, लोगों को निजी क्षणों में परेशान करने से बाज नहीं आती। हमारे देश में पुलिस पर अनेक बार, लोगों के व्यक्तिगत मामलों में आत्मनिर्णय के अधिकार को स्वीकार न कर पाने के आरोप लगते हैं। चूंकि पुलिसकर्मी भी हमारे ही पुरुषवर्चस्ववादी समाज की पैदाइश हैं, इस कारण वे नागरिकों और विशेष रूप से महिलाओं द्वारा अपने व्यक्तिगत निर्णय स्वयं लिए जाने को वे उचित नहीं समझते। वर्तमान समय में इस प्रवृत्ति को ‘मोरल पुलिसिंग’ या ‘नैतिक पुलिसिंग’ कहते हैं। प्रेम, अंतरंगता तथा सेक्स से वंचित ऐसे लोगों की कुंठा कई बार अवसाद और फिर शारीरिक-मानसिक बीमारियों तक पहुँचती है। लेखक इस अभाव की तुलना क्रॉच पक्षी की पीड़ा से करते हैं। वे लिखते हैं- “मैंने क्रॉच पक्षी की व्यथा नहीं देखी है, मगर मैंने बम्बई की फुटपाथों पर मनु-पुत्रों की वह दुर्दशा अवश्य देखी है, जब नैसर्गिक संभोग सुख से लालायित होकर, गृह विहीन होने के कारण, उन्होंने फुटपाथों, कीचड़ के पाइपों और पुलों के नीचे अपनी संगिनियों को अपनी बाहों में समेटा है, किंतु अतृप्तावस्था में ही पुलिस-चौकियों के सीखचों के अंदर बंद हुए हैं और उनका क्रॉच-मैथुन पुलिस के जूतों और डंडों की चोटों से बिलबिलाकर, खामोश हो गया है।”¹⁴

वे इस स्थिति के लिए सरकारों को दोषी मानते हैं और उनसे यह प्रश्न करते हैं कि स्वतंत्रता के इतने वर्षों के बाद भी देश के अनेक नागरिक मूलभूत आवश्यकताओं- रोटी, कपड़ा और मकान से वंचित क्यों हैं। वे लिखते हैं- “मैं यह नहीं कहता कि फुटपाथों और सार्वजनिक स्थानों पर रति-क्रीडा करना अशोभनीय और असामाजिक कृत्य नहीं, मगर मैं यह भी कहना चाहता हूँ कि जो सरकार अपने देश के नागरिकों के लिए निवास की व्यवस्था करने में असमर्थ हो, उसकी पुलिस को गृहविहीनों के प्यार को रौंदने-कुचलने का भी कोई अधिकार

नहीं।”¹⁵ लेखक महानगरों में व्याप्त विषमता पर रोष व्यक्त करते हैं और अमीरों और गरीबों के बीच बढ़ती खाई पर चिंता व्यक्त करते हैं। उनकी अनेक रचनाओं में भी यह चिंता दिखाई पड़ती है। शैलेश मटियानी का यह संस्मरण 1961 में प्रकाशित हुआ था। उस कालखंड के आर्थिक, राजनीतिक इतिहास के बारे में यदि पड़ताल की जाये तो पता चलेगा कि इस दौरान द्वितीय पंचवर्षीय योजना (1956-1961) के अंतर्गत विकास के अनेक कार्य किए जा रहे थे। अर्थशास्त्री प्रशांत चंद्र महालनोबिस के बनाये मॉडल के अनुरूप कार्य हो रहा था। इतिहासकार बिपिन चंद्र ने इस काल को ‘आशा और उपलब्धि के वर्ष’¹⁶ कहा है। शैलेश भी इन उपलब्धियों को स्वीकार करते हैं किंतु फिर भी संतुष्ट नहीं हो पाते क्योंकि इन सफलताओं के बावजूद एक बड़ा वर्ग घोर गरीबी का जीवन जी रहा था। लेखक की प्रतिबद्धता उसी दबे-कुचले वर्ग के प्रति है। वे लिखते हैं- “मैं वर्तमान सरकार के प्रजातांत्रिक तौर-तरीकों का कायाल हूँ मैं यह भी मानता हूँ कि ग्रामीण क्षेत्रों में, स्वातंत्र्योत्तर अवधि में, आर्थिक और सामाजिक ढांचे का बहुत कुछ विकास हुआ है और समूचे राष्ट्र में रचनात्मक आयोजनों की कई नई परंपराएं स्थापित हुई हैं, मगर आज भी करोड़ों आदमी बेकारी और आर्थिक शोषण की चक्की में पिसे चले जा रहे हैं।”¹⁷

उद्योगपतियों की भूमिका पर वे सवाल उठाते रहे। उनका मानना था कि उद्योगपतियों को तो लोगों की भलाई करनी चाहिए, लेकिन वे ऐसा न कर और अधिक धन कमाने की आकांक्षा में लोगों का शोषण करते हैं। वे रोजगार के अवसर बढ़ाएं, गुणवत्तापूर्ण उत्पादन कर आयात में कमी लाएं, इस उद्देश्य से ही उन्हें कम दरों पर ऋण उपलब्ध कराया जाता है, अन्य प्रकार की सहूलियतें दी जाती हैं, किंतु उद्योगपति येन कें प्रकारेण अपना व्यवसायिक साम्राज्य खड़ा करने में प्रवृत्त रहते हैं। शैलेश मटियानी इस संदर्भ में लिखते हैं- “और मुझे दुख इस बात का भी है कि जो उद्योगपति राष्ट्र के निर्माण में, साहित्य और संस्कृति के उन्नयन में गौरवास्पद सहयोग दे सकते हैं, उनके कई गलत तौर-तरीके लाखों-करोड़ों मनुष्यों के लिए शोषण और साहित्यकारों के लिए संताप के विषय बने हुए हैं।”¹⁸

4.2.2. लेखक की हैसियत से

यह लेखक के संस्मरणों का पहला संग्रह है जिसमें चार संस्मरण- ‘लेखक की हैसियत से’, ‘मुक्ति प्रसंगों का सत्य’, ‘अपसव्य यज्ञोपवीत’, ‘अँधेरे के भीतर का आलोक’ प्रकाशित हैं। ‘लेखक की हैसियत से’ संस्मरण मुख्यतः भाषा तथा लेखकीय संवेदना पर केन्द्रित है, साथ ही लेखक के महानगरीय जीवन के कुछ अनुभव भी हैं। इसमें शैलेश अपने माता-पिता, दादा-दादी आदि का स्मरण करते हैं। मां की बीमारी, पिता के आश्रय से वंचित रहना, दादा-दादी का ममत्व मिलना, चाचा और अन्य जुआरियों के उलाहने सुनना, बाद में क्षय रोगग्रस्त पिता की मृत्यु का विशाद झेलना, माँ की मृत्यु आदि तमाम स्मृतियों के विवरण विद्यमान हैं। भविष्यहीनता और आश्रयहीनता के जीवन के अनुभवों को मटियानी ने इस संस्मरण में बड़ी मार्मिकता और बेबाकी के साथ प्रस्तुत किया है। वे इसी संस्मरण में बंबई महानगर के फुटपाथी जीवन, भिखारियों, चोरों, जरायम पेशा लोगों में मनुष्यता होने की प्रतीति का भी स्मरण करते हैं। महानगर में बेकारी, अत्यंत विपन्नता का जीवन जीते हुए वे शासन व्यवस्था के दोषों, विसंगतियों तथा भारतीय समाज के अंतर्विरोधों को बहुत निकट से देख सके। सबसे अधिक दुख उन्हें पूंजीवादी व्यवस्था के प्रसार और उससे उत्पन्न मूल्यों के संकट से हुआ। इस संकट के कारण ही ‘आर्थिक संपन्नता’ किंतु ‘आंतरिक दरिद्रता’ की विरोधाभासी स्थिति उत्पन्न हुई है। ऐसी स्थिति में कोई समाज भौतिक समृद्धि हासिल करने पर भी जीवन स्तर के विकास में पिछड़ा ही रहता है। वे लिखते हैं- “पूंजीवादी

व्यवस्था के द्वारा आर्थिक और नैतिक दोनों स्तरों पर खोखले कर दिए गये आत्मविपन्न लोगों के बीच का रहना-और इससे बाहर झांकने की कोशिश करते ही आर्थिक संपन्नता और आंतरिक-दरिद्रता की महामारी से ग्रस्त व्यापारियों का मनुष्य की संवेदना, करुणा और असहायता को चाट-चाटकर, विषैले नागों की तरह सारे देश में रेंगता हुआ रेला।”¹⁹

भीषण संघर्ष का जीवन जीने के बाद भी लेखक बम्बई आने को अपना उचित निर्णय मानते हैं। अनेक कष्टों के बावजूद, महानगरों में उन्हें जाति मात्र में ही सीमित कर देने वाला कोई नहीं था, सहायता करने के स्थान पर हतोत्साहित करने वाला कोई नहीं था और रूढ़ियों से एक सीमा तक बचाव था। गाँव का परिवेश उन्हें अत्यंत संकुचित मार्ग का पथिक बनाता किंतु महानगर में चिंतन और कल्पना को असीम आकाश मिला। इसीलिए वे कहते हैं- “यह सिर्फ भ्रम हो सकता है, मगर है कि अगर अपने परिवेश और अपनी परिस्थितियों के विरुद्ध निर्णय नहीं लिया होता, तो अपने जीने का ठीक वही स्वरूप और अर्थ मेरे लिए नहीं होता, जो इसके बाद हुआ। और है।”²⁰ महानगरों की चर्चा करते हुए वे बताते हैं कि भिखारी, चोरों और जरायमपेशा लोगों के बीच रहते हुए भी लेखक को कभी उनसे घृणा नहीं हुई। लेखक ने अनुभव किया कि वे इसके अभ्यस्त हो चुके हैं और इसे अपनी नियति स्वीकार कर चुके हैं। वे बदल नहीं पा रहे क्योंकि उनके अंदर बदलने की अंतर्प्रेरणा ही जागृत नहीं हो पायी है।

4.2.3. पर्वत से सागर तक

इस संस्मरण के शीर्षक से ही स्पष्ट है कि लेखक ने इसमें अपने मूल स्थान अर्थात् अल्मोड़ा से बम्बई पहुँचने और उसके बाद के संघर्ष को अभिव्यक्ति दी है। इनमें लेखक ने अपने गाँव, बचपन को जहाँ नॉस्टैल्जिक आत्मीयता के साथ याद किया है वहीं बम्बई के बिल्कुल भिन्न परिवेश के प्रति वितृष्णा भी व्यक्त की है। इस पुस्तक के पहले संस्मरण ‘पर्वत से सागर तक’ में वे अल्मोड़ा शहर तथा अपने बकरी का मांस बेचने का वर्णन करते हैं। दरअसल शैलेश मटियानी की यात्रा सुदूर पर्वतीय क्षेत्र अल्मोड़ा से बम्बई महानगर तक की यात्रा है। अल्मोड़ा में भी माता-पिता के प्रेम के अभाव में बिताया और बम्बई में तो उनको संघर्ष करना ही पड़ा। वे लिखते हैं- “धुर हिमालय के क्षेत्र से दूर समुद्र तट से लगे हुए बम्बई महानगर तक की विडम्बनापूर्ण यात्रा में न जाने कितनी बार ऐसे दुर्दांत क्षण आए हैं, जब लगा है कि बस, इससे आगे शायद और अब कुछ नहीं घोर हताशा, आत्महीनता और आचरण-विहीन हो जाने की अभिशप्तता के बीच यह अनुभव करने की आत्मयंत्रणा कितनी भयावह हो सकती है कि -नहीं, अब सिर्फ इस पतनशीलता और भविष्यहीनता के दलदल के अतिरिक्त कहीं कुछ शेष नहीं रह गया।”²¹

लेखक इस संग्रह के पहले ही संस्मरण ‘पर्वत से सागर तक’ में 1952 के वर्ष के, बम्बई में आरंभिक दिनों की चर्चा करते हैं। एक ग्रामीण व्यक्ति के लिए, शहरों में मल-मूत्र विसर्जन के लिए भी भुगतान करना अचरज भरा लग सकता है, लेखक को भी ऐसा ही लगा। ट्रेन में बिना टिकट यात्रा कर अपने एक मित्र के साथ वे दिल्ली से बम्बई पहुँचे थे। पास में बची अंतिम दुआँनी को ‘संडास मुंशी’ को देना पड़ा। एक छोटे से गाँव, जहाँ सब एक-दूसरे के परिचित होते हैं, से असंख्य जनों वाले महानगर में आना एक नवयुवक के लिए डर और आशंकाओं से मिश्रित अनुभव था। यह पर्वत की निर्जनता, शांति से महानगर के कोलाहल में आना था। पुस्तक का शीर्षक ‘पर्वत से सागर तक’ यह संकेत भी करता है। लेखक ने अपने संस्मरण में लिखा है- “यहाँ तो किसी छोटे से पोखर में की

मछली को एकाएक समुद्र में छोड़ दिए जाने की सी दहशत थी। मछली ऐसे में क्या अनुभव करती होगी, इसे बताना आसान हो सकता है, लेकिन अपने को अनुभव हुआ बताना कठिन है...जैसे कोई नाले में का बहता सागर में आ गिरा हो, कुछ वैसा ही आगमन इस महानगर में हुआ है...।²² ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यालय, डाकखाना, चिकित्सा केंद्र आदि एक-दूसरे से पर्याप्त दूरी पर होते हैं। लेखक एक महानगर के एक ही क्षेत्र में इस तरह के अनेक भवन देखकर आश्चर्य में पड़ गए। उन्हें एक महानगर में बसे अनेक नगर 'भुट्टे में के दानों की तरह' दिखाई दिए।

लेखक आगे बताते हैं कि वे और उनके साथी रेलवे स्टेशन के निकट एक पार्क में किंकर्तव्यविमूढ़ स्थिति में बैठे थे तब वहां गढ़वाल के रहने वाले बाबूराम मिले जो 20 वर्षों से बम्बई में रह रहे थे। बाबूराम ने पहले पहाड़ी लड़कों को बम्बई आने के लिए कोसा। दरअसल वे शैलेश और उनके साथी को कोसते हुए अपने को कोस रहे थे जिनके दो भाई बम्बई महानगर की भेंट चढ़ गए थे। अपने सामने बैठे दो नवयुवकों को संबोधित करते हुए वे पूरे पहाड़ को भी संबोधित कर रहे थे, जहाँ रोजगार का अभाव, भ्रष्ट राजनीति, अंतर्विरोधों और रूढ़ियों से भरा समाज युवकों को महानगरों में धकेलता है। पहाड़ों से महानगरों में प्रवास अनेक प्रकार के असंतुलन उत्पन्न करता है। जहाँ महानगरों में सिर छुपाने की जगह नहीं वहीं पहाड़ों में गाँव के गाँव खाली होते जा रहे हैं। युवाओं के प्रवास में निकलने के बाद गाँव में वृद्धजन रह गए हैं। 2018 में उत्तराखंड सरकार द्वारा पलायन रोकने के लिए बनाए गए आयोग की रिपोर्ट के अनुसार- 'प्रवास के कारण 2011 के बाद से 734 गाँव निर्जन हो गए।' ²³ बम्बई में पहाड़ के युवाओं के अनादर तथा पुलिस की ज्यादाती को बताते हुए बाबूराम कहते हैं- "...अभी तो खैर दिन का उजाला है। रात होते ही बम्बई के मामा लोग आयेंगे सादी वर्दी में- क्यों बे फंटूश, किधर काम करने का? नौकरी का लाइसेंस किधर? साले मुंबई में माल काटने को आया क्या? जेब काटने का धंधा करता कि घरफोड़ी का...? और ये बेंत-पर-बेंत...उधेड़ लेंगे चमड़ी... कल को देखो पहाड़ी सालों को, तो गू खाया- जैसा मुँह लेके लौटेंगे फिर अपने उसी पहाड़ को और या यहीं फुटपाथों-जेलों में सड़के जिंदगी बर्बाद कर देंगे!" ²⁴ महानगरों में रोजगार की उपलब्धता तो है किंतु सिर पर छत पाना बहुत ही कठिन है। भारत के अनेक महानगर दुनिया के सबसे अधिक जनसंख्या वाले नगरों में आते हैं। 1950 के दशक, जिस समय की बात लेखक कर रहे हैं, उसके आरम्भ में ही बम्बई महानगर की जनसंख्या 30 लाख से अधिक थी और यह विश्व के सबसे अधिक जनसंख्या वाले महानगरों में था। ²⁵ इन महानगरों में अपना ठिकाना बनाना आसान नहीं। महानगरों में गाँव-कस्बों से आजीविका की तलाश में आए लोग एक अदद शरणस्थली की तलाश में रहते हैं लेकिन वर्षों बीत जाने के बाद भी उन्हें रहने की जगह नसीब नहीं हो पाती। शैलेश मटियानी ने अपनी कई रचनाओं में इस संकट के विषय में लिखा है। रहने के स्थान की समस्या को उन्होंने दिल्ली, कलकत्ता आदि शहरों में भी देखा जिसका जिक्र उन्होंने अपने अनेक पत्रों में किया है। बाबूराम शैलेश को समझाते हैं- 'इस मुंबादेवी की नगरी की एक खासियत तो माननी पड़ेगी कि यहाँ बासा चाहें बहुत कठिन, लेकिन गासा की कमी नहीं है।' ²⁶ लेखक पुलिस स्टेशन की चर्चा करते हुए भी जगह की किल्लत की बात बताते हैं। उन्होंने देखा कि वहां के लॉक अप में लोग भेड़-बकरियों के गोठ की तरह भरे हुए थे। संडास अर्थात् शौच-निवृत्ति की जगह के पास भी लोग सो रहे थे।

महानगरों में श्रमिक दिन भर कठिन श्रम कर, थक कर चूर हो जाता है। इस अवस्था में वह विश्राम के लिए जो भी स्थान पाता है बेसुध होकर वहीं सो जाता है। लेखक इसे लेटना न कहकर 'लोटना' कहते हैं। दोनों में अंतर बताते हुए वे कहते हैं कि जब व्यक्ति को इस बात का ज्ञान हो कि वह कहाँ लेटा है, प्रातः उठकर वह क्या

करेगा, तब वह लेटता है किंतु जब कोई शारीरिक और मानसिक रूप से थक जाने पर बिना भूत-अतीत की चिंता किए कहीं भी पड़ जाए तो इसे लोटना कहते हैं।

लेखक के साथी राम सिंह तथा बम्बई में मिले स्वयं को गढ़वाल निवासी बताने वाले बाबूराम लौटकर वापस आने को कहकर गए और वापस नहीं आए। असहाय लेखक विले-पारले स्टेशन से लोगों द्वारा फेंकी गई फलों की जूठन खा कर सो गए। रात में सादी वर्दी में पुलिस के लोगों ने उनको उठाकर ‘बायोडाटा’ या पता-ठिकाना बताने को कहा। शहर में नया और बेरोजगार होने पर तथा बिना टिकट के स्टेशन पर सोने के कारण पुलिस उनको पुलिस हवालात में ले गई। पुलिस स्टेशन से पहले साक्षात्कार के अनुभवों को लेखक ने अपने संस्मरण ‘फिंगर प्रिंट, बोले तो, फिंगर प्रिंट’ में बताया है। हवालात में बंद लोग बुरी से बुरी परिस्थितियों के अभ्यस्त हो चुके होते हैं। गंदगी, गरिमाहीन व्यवहार उन्हें विचलित नहीं कर पाते। दरअसल महानगरों के इन सबसे निचले तबके के लोगों के पास खोने को कुछ भी नहीं, इसलिए कोई दुख उन्हें नहीं व्याप्त। बल्कि वे कठिन परिस्थितियों पर हँसना सीख जाते हैं। जेल के अंदर से अधिक असुरक्षाबोध महानगर में खुले आकाश के नीचे है। निरा एकाकी और असहाय होने का डर भी एक असुरक्षाबोध है।

जेल में रहने के दौरान उन्होंने विभिन्न अपराधों में हवालात में बंद लोगों में भी दया और करुणा की भावना देखी थी। बाहर से शुष्क और अक्खड़ दिखने वाले लोग अंतः में संवेदना का जल लिए हुए थे। वे लिखते हैं- “...जब तक कोई पेशेवर हत्यारा नहीं बन जाए, मनुष्यता की लौ उसमें से पूरी तरह ओझल होती नहीं। अपराध जगत के लोगों के भीतर भी कहीं बहुत तल में मनुष्यता के किसी गहरे गर्भगृह में दीपक की टिमटिमाती सी लौ और गहरे दुःख तथा पश्चाताप को देखना यह अनुभव कराता था कि मनुष्य कैसी भी परिस्थितियों के बीच पूरी तरह मरता नहीं।”²⁷ कई बार महानगरों में विपन्न तबके का अभावग्रस्त जीवन अपराध की स्थितियाँ पैदा करता है। परिश्रम का अपेक्षित परिणाम न देख व्यक्ति गैरकानूनी विधियों से धन कमाने और अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने की योजना बनाने लगता है।

4.2.4. मुड़ मुड़कर मत देख

यह शैलेश मटियानी के संस्मरणों का तीसरा संग्रह है। इसमें संग्रहित 28 संस्मरणों में से अधिकतर अमर उजाला दैनिक पत्र में, कवि और तत्कालीन साहित्य संपादक वीरेन डंगवाल के निवेदन पर लिखे गए थे। ‘मुड़-मुड़कर मत देख’, में भीषण शिरोव्याधि, अवसाद और अस्वस्थता के दिनों लिखे गए मटियानी के संस्मरण और कहानियाँ संकलित हैं। अधिकतर प्रसंग इलाहाबाद के हैं। शैलेश इलाहाबाद में पहले एक बार रोजगार की तलाश में आये थे। उनका उद्देश्य स्थायी रूप से वहीं निवास कर लेखन कार्य को गति देने का था, किंतु उस समय वह संभव नहीं हुआ। बाद में दोबारा वे अपने लेखक तथा संपादक मित्रों की सलाह पर इलाहाबाद आए और तीन दशकों से अधिक समय वहीं रहे। सामाजिक गठन तथा परिवेशगत भिन्नता के बावजूद इलाहाबाद में भी भूख तथा बेरोजगारी सर्वत्र व्याप्त थी। कथाकार लक्ष्मण सिंह बिष्ट ‘बटरोही’ ने लिखा है- “कुमायूँ और मुंबई की तरह यहाँ भी सब कुछ वैसा ही था- वही भूख वही असंगतियाँ और अस्तित्व से जुड़े वैसे ही सवाल।”²⁸ इलाहाबाद के परिवेश पर बाद में उन्होंने ‘महाभोज’, ‘छिद्दा पहलवान की गली’, ‘भविष्य’, ‘मिट्टी’, ‘मैमूद’, ‘चील’ तथा ‘उत्सव के बाद’ आदि कहानियाँ लिखीं।

इस पुस्तक के कई लेख 'पर्वत से सागर तक' पुस्तक में भी प्रकाशित हुए हैं, उनकी चर्चा करना दोहराव होगा। 'सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्' से नए संस्मरण आरंभ हैं। इस संस्मरण में वे सरकारी कार्यालयों की कार्यशैली, पुलिस के द्वारा किए जाने वाले भ्रष्टाचार, राजनीतिक व्यक्तियों के संरक्षण में पल रहे अपराधों का आँखों देखा हाल बताते हैं। पुलिस की कार्यशैली के विषय में उन्होंने बम्बई आधारित संस्मरणों में भी लिखा है। अपने उपन्यास 'मुठभेड़' में उन्होंने इन सच्चाइयों का पर्दाफाश किया है। वे इसमें पुलिस द्वारा दो नवयुवकों की नृशंस हत्याओं को मुठभेड़ के रूप में प्रदर्शित करने के षड्यंत्र का वर्णन करते हैं। महानगरों में इस प्रकार की घटनाएं आए दिन अखबार की सुर्खियों में रहती हैं। मानवाधिकार आयोग जैसी संस्थाएं इस विषय पर चिंता भी प्रकट करती हैं लेकिन कोई सुधार होता नहीं दिखता। लेखक मुठभेड़ उपन्यास की भूमिका में लिखते हैं- "मुठभेड़ के गहरे विवेचन में जायें तो इसकी व्याप्ति बहुत दूर तक, हमारी सामाजिक व्यवस्था के उन तमाम अन्तःप्रसंगों तक दिखेगी, जहाँ यह शब्द ठीक इसी रूप में प्रचलन में न होते हुए भी अपनी उपस्थिति का पूरा-पूरा आभास देता है। तब यह मात्र 'पुलिस को प्रदत्त हत्या का अधिकार' मात्र ही नहीं रह जाता, बल्कि हत्या की स्थितियाँ उत्पन्न करने और बनाये रखने वाली व्यवस्था का चरित्र भी उद्घाटित करता दिखाई पड़ता है।"²⁹ एक सामान्य व्यक्ति के लिए इस प्रकार की पुलिस तथा कानून व्यवस्था में न्याय प्राप्त करना कितना कठिन है, इसका चित्रण लेखक करते हैं। बहुधा सरकारें अपने पक्ष में पुलिस का प्रयोग करते हुए भी दिखाई देती हैं। महानगरों में अपराध पर अंकुश लगाने तथा कानून व्यवस्था सुचारू रूप से चलाने के लिए बड़ी मात्रा में पुलिस की आवश्यकता होती है। किंतु हमारे देश में बड़ी मात्रा में पड़ रिक्त होने के कारण सिपाहियों तथा अधिकारियों की कमी रहती है। इस कारण पुलिस पर अतिरिक्त दबाव भी पड़ता है और नागरिकों की सुरक्षा भी खतरे में पड़ती है। लेखक, पुलिस द्वारा लोगों को यातना देने तथा पदोन्नति आदि के लालच में लोगों की हत्या करने को आखेट करना कहते हैं। जिस प्रकार आखेट के समय किसी निर्दोष, निहत्थे जीव को अवसर देख मौत के घात उतार दिया जाता है, उसी तरह निर्दोष लोग कई बार पुलिस के शिकार बनते हैं। इस भयावह अपराध पर लेखक लिखते हैं- "इस देश की मौजूदा राज्य-व्यवस्था में मनुष्य का आखेट कैसे-कैसे होता है। एक-एक नवयुवक के पालन-पोषण में माता-पिता का कितना प्रेम लगता है। समय और देश का अन्न-जल। भविष्य की कितनी आकांक्षाएँ। कितनी उपस्थित की स्वस्ति।... लेकिन ये सब कुछ पेशेवर हत्यारों या पुलिस के लिए बंदूक की गोलियों के सवाल हैं।"³⁰

इसी प्रकार का भ्रष्टाचार न्याय व्यवस्था में भी व्याप्त होने की बात लेखक ने कही है। यदि कोई व्यक्ति एक बार किसी कानूनी विवाद में पड़ जाता है तो दशकों तक जूझता रहता है। न्यायिक प्रक्रिया के धीमे होने और मामलों की संख्या बहुत अधिक होने के कारण पहले तो वर्षों तक सुनवाई ही नहीं होती। सुनवाई होने पर भी यदि पुलिस तथा न्यायधीश द्वारा अपनी भूमिका ठीक तरह से नहीं निभाई जाती तो न्याय मिलना कठिन होता है। लेखक अपने अनुभव को 'बावन नदियों का संगम' उपन्यास में एक पात्र के माध्यम से सामने लाते हैं। इस उपन्यास में एक वकील वेश्याओं से कहते हैं- "तुम लोग धंधा चाहें जो करो, इन्हेंशन कानून की गिरफ्त में न आए यानी यूँ कि बाहर से संगीत नृत्य का साइनबोर्ड रहे और कमरों में हारमोनियम, सितार, बांसुरी सब मौजूद हों, बाकी धंधा चाहें जो करो।"³¹

महानगरों में बड़ी मात्रा में ऐसे युवा मिल जाते हैं जो ऊर्जावान हैं, जो सुनहरे भविष्य का स्वप्न देखते हैं लेकिन उनके पास कोई आधार नहीं है जिस पर वे कार्य आरम्भ कर सकें। कोई उनकी सहायता करने वाला नहीं। शैलेश के उपन्यास 'बोरीवली से बोरीबंदर तक' में वे अपने अनुभवों को वीरेन के पात्र के माध्यम से व्यक्त करते

हैं। वीरेन अपनी स्थिति को बेहतर करने का हर संभव प्रयास करता है किंतु अन्त तक न उसे कोई सहायता मिलती है और न कोई आर्थिक संघर्ष से उबरने का समाधान मिला है। उपन्यास के पात्र आर्थिक विषमता के मारे हैं और अभावग्रस्तता में अपना समय काट रहे हैं। वीरेन में शैलेश की छाया को सहज ही देखा जा सकता है। लेखक लिखते हैं- “पुरुषार्थ की बात आते ही वीरेन के विचार तंतुओं को एक झटका सा लगा। लेकिन वह आखिर पुरुषार्थ भी क्या करे, उसके लिए भी तो क्षेत्र चाहिए, आधार चाहिए, राह चाहिए। लगता है सारी राहें बनाये नहीं बनतीं, कोई आधार ढूँढे नहीं मिलता।”³²

लेखक ऐसे लोगों के विषय में भी लिखते हैं जिन्होंने महानगरों की भागदौड़ भरी जिंदगी में बड़ी-बड़ी उपलब्धियों के स्वप्नों और स्पर्धा से खुद को दूर कर लिया है। वे अपने छोटे-मोटे रोजगार और तंगहाली में बीत रहे जीवन में ही प्रसन्न हैं। ये लोग बसों, लोकल ट्रेनों में फुरसत मिलते ही ताश खेलते हैं या कोई गीत गुनगुनाते हैं। लेखक ने लिखा है- “बम्बई की लोकल ट्रेनों में यात्राएं करते प्रायः दो चीजों से वास्ता जरूर पड़ेगा। नियमित यात्रा करने वालों की टोलियाँ या पत्ते खेलती मिलेंगी, या संगीत मंडल चलाते।”³³ संसाधनों को इकट्ठा करने की निरर्थकता को ये समझ चुके हैं और अनजाने ही बुद्ध के अपरिग्रह के सिद्धांत के अनुयायी बन गए हैं। वे महानगरों में रहते हुए भी उसके वैभव और चकाचौंध से आकर्षित नहीं होते। महानगरों में छोटे और अस्थायी रोजगारों में लगे लोगों के लिए जाति-धर्म के आधार पर भेदभाव कोई मायने नहीं रखता। धर्माधारित तकरीरें खाए-अघाए लोगों का काम हैं, जो अभाव में पला-बढ़ा उसे जिंदगी की नंगी हकीकत दिखाई देती है। जेल के दिनों में लेखक के दोस्त बन गए उस्मान मियां कहते हैं कि- “जिंदगी से ज्यादा खूबसूरत दुनिया में कोई चीज नहीं- न हूँ, न खुदा!”³⁴

लेखक भूख के दिनों की एक मार्मिक घटना का वर्णन करते हैं। शांग्रिला में एक दंपति अपने छोटे से बच्चे के साथ दीवार पर बैठकर कुछ खाते रहे। और बाद में एक बिस्कुट का डिब्बा वहीं छोड़ वे चले गए। भूख से परेशान लेखक ने बिस्कुट की आशा से उस डिब्बे को उठा लिया। लेकिन जब खोलकर देखा तो पाया कि उसमें उस छोटे बच्चे का मल था, जिसे उस दंपति ने डिब्बे में भर दिया था।

4.2.5. खराद पर बम्बई

मुंबई (उन दिनों बंबई) के अनुभवों पर शैलेश जी ने ‘खराद पर बंबई’ नाम से तीन संस्मरणों की श्रृंखला लिखी थी जो ‘हंस’ पत्रिका के जनवरी 1990 अंक से लेकर अप्रैल 1990 अंक तक धारावाहिक प्रकाशित हुई थी। बाद में ये तीनों संस्मरण ‘पर्वत से सागर तक’ पुस्तक में प्रकाशित हुए। इन संस्मरणों में वे महानगरों से गाँव में पहुंचे और वहां की चकाचौंध से विस्मित व्यक्ति के अनुभव, शहरों की सघन बसाहट, औद्योगीकरण के दुष्प्रभावों, एक-दूसरे से अनजान सड़कों पर बेतहाशा चलते हुजूम तथा शहरों में दरिद्रता का जीवन जी रहे लोगों का वर्णन करते हैं। बंबई की सघन बसाहट और मोटरगाड़ियों के हुजूम का जिक्र करते हुए सड़कों पर निश्चिन्त भाव से विचरते आवारा पशुओं के लिए वे लिखते हैं- “अरण्य में पशु, पत्तों का खड़कना सुनकर भी चिहुंक उठते हैं क्योंकि इसका उन्हें अपने प्राणों से वास्ता जान पड़ता है। शहर के पशु मोटरगाड़ियों के शोर शराबे के बीच भी जुगाली करते रहते हैं।”³⁵ कुछ समय के बाद मनुष्य और पशु सभी अपने परिवेश के अभ्यस्त हो जाते हैं। उनकी इन्द्रियाँ अपने वातावरण के अनुसार अनुकूलित हो जाती हैं।

दरअसल शैलेश, खाली जेब के साथ बंबई पहुंचे थे। रोजगार के अभाव में लंबा समय उन्होंने फुटपाथ पर बिताया। वे फुटपाथी जीवन के दुर्धर्ष संघर्ष के दिनों के अनुभवों की पूँजी के कारण ही वे ‘इल्लेस्वामी’, ‘विट्टल’, ‘चिथड़े’, ‘गरीबुल्ला’, ‘प्यास’, ‘एक कोप चा: दो खारी बिस्किट’, ‘निश्चिन्त’ जैसी महानगरों की भीतरी सच्चाइयों को उद्घाटित करने वाली कहानियाँ और ‘कबूतरखाना’, ‘बोरीवली से बोरीबंदर तक’, ‘किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई’, ‘मुठभेड़’ जैसे उपन्यास लिख सके। इन भुखमरी के दिनों में कई बार उन्हें जेल भी जाना पड़ा। जेलों में पुलिस की कार्यविधि, निर्दोष व्यक्तियों के शोषण तथा अपराधियों के साथ बिताए समय पर उन्होंने ‘**दफा चौपन का आरोपी**’ नाम का संस्मरण लिखा। जेल की गतिविधियों के साथ-साथ इसमें महानगरीय जीवन की विडंबनापूर्ण सच्चाइयाँ भी दर्ज हैं। लेखक लिखते हैं कि जेल में बंद अनेक आरोपी जेल से बाहर नहीं निकलना चाहते क्योंकि महानगरों में बिना आजीविका और सिर छुपाने के लिए छत के जीवन जीना अत्यंत चुनौतीपूर्ण है। उनके अनुसार जेलों में दो वक्त की रोटी और सुरक्षित होने का अहसास है इसलिए वे वहीं रहना चाहते हैं। कई बार तो जेल जाने की इच्छा से लोग जान-बूझकर कोई गैरकानूनी गतिविधि करते हैं। भोजन तथा दैनिक उपयोग की वस्तुओं के लिए मिलने वाले भत्ते के लालच में वे ऐसा करते। पुलिसकर्मी ऐसे लोगों के इरादे भांप उन्हें थाने से यह कहकर भगा देते हैं कि वे मुक्त की रोटी नहीं तोड़ सकते। तो स्थितियाँ इतनी त्रासद हैं कि जेल जाने के लिए भी प्रतिद्वंद्विता की स्थिति दिखती है। वे लिखते हैं- “इस द्वीप से बाहर निकलने के बाद फिर जीवन के प्रारंभ होने का डर भी सतत उपस्थित, जबकि यहाँ जिंदगी के थपेड़ों से एक किनारे लगे होने की सी सुरक्षा थी।”³⁶ जेल में बंद लोगों को उन्होंने अधिक सुकून तथा शांति से रहते देखा। वहाँ पाने की कोई होड़ ही नहीं थी, जो मिल जाए उसी को लोग उम्मीद से ज्यादा मान लिया करते थे। वहाँ लाए गए अधिकतर लोग ऐसे हुआ करते थे जो अपने पेट की भूख मिटाने को मेहनत-मजदूरी करते रात को रूखी-सूखी रोटी खा किसी सड़क किनारे सो जाते। अपराधी होने के शक में ये फुटपाथों से ही पुलिस थाने लाए जाते। फुटपाथों पर उनका संरक्षक-सहायक कोई भी नहीं, लेकिन हवालात में कानून के पालन के उद्देश्य से ही सही, कोई उनकी जिम्मेदारी लेने वाला तो है। लेखक लिखते हैं- “किसी स्वप्नदृश्य की सी रहस्यमयता से भरी सी थी वह दुनिया, जहाँ कि एक भी ऐसा नहीं दिखता था जो हवालात में बंद होने को किसी दुर्घटना या अभिशाप की तरह देखता हो। अपराध करते अथवा अपराध के वास्ते पकड़े गए लोग पहले से ही इतने थके हारे थे कि किसी में यह सवाल कहीं दिखाई ही नहीं पड़ता था कि हमें बिना अपराध के बंद क्यों किया गया है।”³⁷

मटियानी जी ने जेल में बंद कैदियों के जीवन को बहुत करीब से देखा और उनके जीवन प्रसंगों के आधार पर जिन निष्कर्षों तक पहुंचे, वे समाज में प्रचलित धारणाओं से अलग हैं। लेखक महानगरीय जीवन की विसंगतियों का संबंध अपराध जगत से जोड़ते हैं। महानगरों में ऐसे न जाने कितने लोग हैं जिन्हें जीवन की आधारभूत आवश्यकताओं- रोटी, कपड़ा और मकान से भी वंचित रहना पड़ता है। सुविधाओं और विलासिता की वस्तुओं के उपलब्ध न होने पर व्यक्ति सब्र कर सकता है और थोड़े में ही गुजर-बसर करने का प्रयास करता है लेकिन भूख नैतिकता और अनैतिकता के भेद को समाप्त कर देती है। वे लिखते हैं- “भूख, वस्त्र और ठिकाने का सवाल कितना बड़ा है, मार्क्स केवल इस एक सवाल को लेकर महान सिद्ध हो गए। जान-माल की प्रतिभूति राज्यव्यवस्थाओं की नींव का पत्थर होती है। अखबार में भुखमरी के वृत्तांत सबको नहीं व्यापते। जिनको व्यापते हैं, वो अखबार नहीं पढ़ते, बोरों में रद्दी कागज़ तथा अन्य वस्तुएं बटोरते हैं।”³⁸ शिक्षित, स्वस्थ नागरिक और समानता पर आधारित समाज ही अपराधविहीनता की ओर जा सकता है किंतु महानगरों में शिक्षा, स्वास्थ्य सभी

को उपलब्ध नहीं। अनार्यों और लावारिसों सा जीवन जीते बच्चे और किशोर आखिर किस दिशा में जायेंगे? फुटपार्थों के रास्ते हवालात का जीवन भला किस ओर ले जायेगा? ये प्रश्न लेखक समाज तथा सत्ता संस्थानों से पूछते हैं। अपने संस्मरण में वे लिखते हैं- “भूख की धमक कैसे जितनी आदमी की चेतना तक, उतना ही गहरे जाती है, सभ्यता, संस्कृति राजनीति या दर्शन कला साहित्य के मुकामों तक भी! आदमी की आँखों तक पहुँच गयी भूख ही उसे हिंसा या अहिंसा के उस पड़ाव तक ले जा सकती है जहाँ से फिर वह पीछे नहीं लौट पाता।” वे सरकारों को भी धिक्कारते हैं जो ऐसे लोगों को अपराधी बना दंड देने को तो तत्पर रहती हैं किंतु इनके लिए कोई सहायता प्रदान नहीं करती। वे लिखते हैं कि- “मैंने पेट की आग से झुलसे हुए मनु पुत्रों को चोरी, गिरहकटी, भडुवागिरी, गुंडई आदि अनेकों अनैतिक और अपराधपूर्ण कृत्यों को करते और बदले में नृशंसतम दंड भोगते देखा है। मैंने बिना अपराध किए ही पुलिस चौकियों में कैद होने वाले, पुलिस के सोंटे खाने वाले देखे ही नहीं हैं, उनमें से एक मैं भी रहा हूँ... जो सरकार अपने लाखों नागरिकों के लिए रोजी-रोटी की व्यवस्था करने में भी अपने को निकम्मा पाती हो, उसे ऐसे कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं, जो भुखमरी और बेकारी से मजबूर इंसान को, रोजी-रोटी देने की जगह नृशंस यंत्रणाएं देते हों।”³⁹ ऐसे लोग जो बिना अपराध के जेलों में बंद हैं, उनके अपराध की ओर मुड़ने की संभावना हमेशा बनी रहती है। व्यक्ति अपने शोषण का प्रतिकार न कर पाने पर उसका प्रतिशोध किसी और से लेने का विचार ग्रहण कर लेता है। कई बार इससे अलग प्रवृत्ति भी देखने को मिलती है। शोषण सहने वाला व्यक्ति प्रतिकार करने के बजाय हर प्रकार के शोषण का अभ्यस्त हो जाता है। वैसे भी महानगर, व्यक्ति को अपने अनुसार ढाल कर कुछ विशेष गतिविधियों का अभ्यस्त बना लेता है। शोर गुल में विश्राम करने का, दूसरे से अनादर पाने का, प्रदूषित जल और वायु ग्रहण करने का, यांत्रिक ढंग से कंपनियों में मशीनों को चलाने आदि का अभ्यस्त। महानगर की इस प्रवृत्ति की ओर भी लेखक संकेत करते हैं। जो नगरों की प्रतिकूल परिस्थितियों का अभ्यस्त नहीं हो पाता वह वहां कष्ट ही भोगता है। लेखक को जेल में भी ऐसे लोग मिले जो संडास की दुर्गंध में ही भोजन कर सकते थे, एक दूसरे को गंदी गालियाँ दे सकते थे, पुलिस की मार भी खा सकते थे। लेकिन लेखक के लिए यह डरावना अनुभव था। जेल में व्यक्ति का अस्तित्व एक मनुष्य के रूप में न होकर एक संख्या ‘कैदी नं.’ के रूप में होता है। मनुष्य की गरिमा में विश्वास करने वाले व्यक्ति के लिए यह बुरा अनुभव होता है।

लेखक ने बड़ी साफगोई से जेल में मिले कथित अपराधियों का चरित्र चित्रण किया है। जब व्यक्ति का व्यवहार उन परिस्थितियों से निर्धारित होता है, जिनमें वह जी रहा है तब अच्छा-बुरा तथा शुभ-अशुभ, पाप पुण्य जैसी अवधारणाओं पर सवाल खड़े होते हैं। लेखक ने महानगरों में फुटपाथ पर सोने वालों, उठाईगीरों, जेल में बंद लोगों के हृदय में मानवता का प्रकाश देखा वहीं कई कथित सम्मानित लोगों, खादी पहनने वाले नेताओं को अनेक अमानवीय कार्यों में लिप्त पाया। जब उन्होंने फुटपार्थों पर पड़े कराहते लोगों, समाज की घृणा पाने वाले लोगों में करुणा की नमी देखी तो उन्होंने इन्हें अपने साहित्य का विषय बनाया। वे लिखते भी हैं- “इन्हीं फुटपार्थों पर सोने के अपराध में जब ‘चौपन’ के अंतर्गत पुलिस चौकियों में पहुँचा, तो वहां मुझे हिंदुस्तान उन बेटों का साहचर्य मिला, जो पूंजीवादी और सरकारी शोषण के मकड़जाल में फँसे हुए गुनाहगार बनने को मजबूर होते हैं और जिनके चेहरे पर गुंडागिरी की मुहर रहती है, मगर हृदय में प्यार की कोमलतम कविता के पवित्र छंद रहते हैं।”⁴⁰ जेल में मिलने वाले उस्मान मियां पहले लेखक से दुर्व्यवहार करते हैं लेकिन बाद में लेखक के संघर्ष और घरेलू परिस्थितियाँ जानकार उनके रोजगार आदि को लेकर चिंतित रहने लगे। जेल में हुए अनुभवों से लेखक की

कई पूर्वधारणाएं टूटीं, उनका विरेचन हुआ, क्रोध-घृणा का स्थान करुणा ने ले लिए, इसलिए ही लेखक ने इस कैद की अवधि को दीक्षा का नाम दिया है।

जेल से निकलने के बाद लेखक फिर पहले के जैसे ही असहाय और बेरोजगार थे। ऐसे में बुरी संगत में पड़ वे चोरी के काम में भी शामिल हो गए। हंस, फरवरी 1990 के अंक में प्रकाशित संस्मरण 'या देवि सर्वभूतेषु' में लेखक ने इन घटनाओं का उल्लेख किया है। बम्बई में भुखमरी और बेबसी उन्हें अनपेक्षित बुराइयों की ओर धकेलती रही, हताशा और विषाद की स्थितियां सदैव बनी रहीं लेकिन इसी शहर में उनका लेखक बनने का संकल्प और मजबूत हुआ।

4.3. शैलेश मटियानी के कथेतर गद्य में महानगरों की समस्याएं

4.3.1. गरीबी तथा भूख

महानगरों में अनेक लोगों के लिए सबसे बड़ी समस्या भूख है। लेखक उस भूख का अनुभव करते हुए उसे 'आँतों में अपनी बाँबी के भीतर फुफकारते हुए साँपों जैसी भूख'⁴¹ कहते हैं। 'अपसव्य यज्ञोपवीत' संस्मरण में भी वे महानगरों के उन लोगों का चित्रण करते हैं जिनके लिए दो समय की रोटी जुटाना ही सबसे बड़ा संघर्ष का काम है। इसके अतिरिक्त उनकी कोई आकांक्षा नहीं। वे लिखते हैं- "महानगर बम्बई की फुटपाथों पर हजारों-लाखों ऐसे लोगों के बीच का जीना, जिनमें सिर्फ आहार की तलाश ही एकमात्र तलाश बाख गई हो...घूरे के ढेर पर से अन्न के दाने बीनती हुई अंगुलियों के पीछे जहाँ सिर्फ याचना के गंदलेपन और जरायमपेशा करुणा तथा आशाविहीनता की कठोरता से पथराई हुई आँखें रह गई हों- वहाँ अपनी इस पराजय और पतनशीलता को स्वीकार कर लेने के अलावा और कौन सी मुक्ति शेष रह जाएगी कि इतनी विषम और भाग्यहीन परिस्थितियों, ऐसे आर्थिक शोषण से जकड़े हुए क्रूर समाज और रूढ़ियों के बीच यही हो सकता था।"⁴²

चूँकि लेखक ने स्वयं अनेक रातें भूखे पेट बिताई थीं, इसलिए वे भूख की तीव्रता के शरीर, मन और आत्मा पर पड़ने वाले प्रभाव को बड़े मनोवैज्ञानिक ढंग से रेखांकित करते हैं। वे लिखते हैं- "भूख को भी आँख होती है। वह भी इशारा करती है। जैसे पानी में डूबता, अपनी पहुँच में दूसरे को भी पूरी ताकत से अपने साथ खींच लेता है, तैसे ही डूबने लगे, तो पेट भी मन, बुद्धि और प्राण, जो हाथ पड़ जाए, उसे ही अपने साथ खींचना शुरू कर देता है कि - तुम तमाशा देखने को स्वतंत्र नहीं छोड़े जाओगे।"⁴³ लेखक यह भी बताते हैं जैसे कोई काम बार-बार करने से उसका अभ्यास हो जाता है, महानगरों में बेरोजगारों और अनिश्चित रोजगार में लगे लोगों को भूखे रह-रहकर भूखे रहने का अभ्यास हो जाता है। कई बार वे भूख और नशे के दुष्चक्र में एकसाथ फँसते हैं। उन्हें समय पर भोजन भले न मिले किंतु नशा चाहिए होता है। भूख से जर्जर शरीर पर इस नशे की दोहरी मार पड़ती है।

साथी रामसिंह के फरार हो जाने के बाद लेखक, विशाल बम्बई महानगर में बिल्कुल अकेले हो गए, इस बात का दुःख तो था ही पर इससे भी ज्यादा कष्ट भूख का था। ऐसी असहाय परिस्थिति में शैलेश ने विले-पारले स्टेशन पर जूठे फल तथा फलों के छिलके खाकर अपनी भूख मिटाई। उदर को कचोटती भूख में वे छिलके

भी उन्हें स्वादिष्ट लगे। वे लिखते हैं- “फलों वाली गुमटी के पास कुछ अधखाए चीकू और केलों के छिलके मिले थे। कैसी सुगंध थी केले के उन छिलकों में! और अगर किसी में दसवां हिस्सा भी गूदा छूटा मिल गया, तो वह केला खाने वाले की उदारता का प्रतीक ही भासित हो सकता था।”⁴⁴

महानगरों में आर्थिक धरातल पर संघर्ष करते लोग हर दिन कुआँ खोदकर पानी पीने वाले लोग हैं। भूख यहाँ एक सनातन समस्या है। कुआँ खोदने वाला मनुष्य शक्तिवान होते हुए भी अन्य किसी लड़ाई का सामर्थ्य नहीं रख पाता। मटियानी जी इन स्थितियों के लिए जिम्मेदार लोगों के दुष्कर्मों की परिणति को रेखांकित करते हुए लिखते हैं- “बेकारी के अंधड़ में भटकते हुए फुटपाथों पर जीने की बदहवासी, निरपराध होते हुए भी भारत सरकार की न्याय संहिता में पसरी पड़ी अमानवीयता का निदारुण साक्षात्कार और आँतों में धंसती भूख देखना अत्यंत दुःखद है।”⁴⁵ इस भूख नाम की सनातन समस्या के लिए महानगरों में लोग क्या-क्या जतन करते हैं इसका विवरण भी लेखक देते हैं। अपने रोजगार को सुरक्षित रखने के लिए लोग तरह-तरह के समझौते करते हैं, पैसे बचाने को कोसों पैदल चलते हैं, अपनी पहचान छुपाकर अनचाहे काम करते हैं। उन दिनों मुंबई के मुख्यमंत्री मोरारजी देसाई ने शराब पर कठोर पाबंदी लगा रखी थी। कितनी महिलाएं पेट के पास शराब की बोतल लगाकर, गर्भवती औरतों की भांति सफ़र करती थीं। घरफोड़ी के मामलों में नलकों के सहारे ऊपर चढ़कर घरों में चोरी करने वालों के टखने पुलिस तोड़ दिया करती थी ताकि फिर कभी नलकों के सहारे ऊपर पहुंचकर वे चोरी न कर सकें। लेकिन चोरी की घटनाएं फिर भी नहीं रुकती थीं। महानगरों में हुए अनेक अनुभवों को मटियानी जी ने ज्यों का त्यों अपनी रचनाओं में व्यक्त कर दिया है। वे एक प्रसंग बताते हैं- एक रात लगभग दो-ढाई बजे का समय होगा, जबकि मैं बोरीवली रेलवे स्टेशन के एक भाखड़े की एक और सोया था, लेकिन जाने कब नींद खुल गई तो बैठ गया था। कुछ फासले पर एक दूधवाला बैठे-बैठे गहरी नींद सोया हुआ था। “उसने अपने पैसे को छोटी पन्नी में लपेटकर मुंह में रखा था। उस भाखड़े की ओर एक दूसरा व्यक्ति भी बैठा था और शायद वह दूधवाले को ध्यान से देख रहा था। उसके गहरी नींद में डूबते ही वह व्यक्ति अपने स्थान से उठकर आया और उसकी बगल में बैठ गया और कुछ ही क्षणों में दूध के हंडे के मुंह पर लगे पुआल से एक तिनका निकाला और उस दूधवाले की नाक से छुआना प्रारंभ किया। कुछ ही क्षणों में दूधवाले को एक बड़ी सी छींक आई और मुंह में भरी रुपयों वाली पन्नी बाहर गिर गई और वो फिर खरटि भरने लगे। उस व्यक्ति ने पन्नी में लपेटे गए रुपयों को अंटी किया और चलता बना।”⁴⁶

भूख का कष्ट ऐसा कि जिस पुलिस चौकी में पहली बार जाने पर लेखक को अत्यंत आत्मग्लानि हुई थी, भूखे होने पर उसी चौकी की याद आयी। भूख की तीव्रता को उन्होंने अपने शरीर से पार आत्मा से अनुभव किया है इस कारण उसकी छाया उनकी अनेक रचनाओं में है। कोई पात्र दो जून की रोटी की आकांक्षा में कठिन श्रम करते, अनैतिक समझौते करते दिखाई देते हैं। भूख से पीड़ित रहे लेखक के लिए यह सब अनायास रहा होगा। आलोचक विद्याधर शुक्ल ने इस संबंध में लिखा है- “भूख और मृत्यु पर अधिकांश त्रासद कहानियां हिंदी में शैलेश मटियानी के ही खाते में हैं। भिखारी, उच्चकों, जेबकतरों, फुटपाथी लोगों की जिजीविषा और संघर्ष की जोरदार अलख हिंदी कथा साहित्य में सर्वप्रथम मटियानी ने ही जगायी। मटियानी की कहानियों से गुजरना, भूखे-नंगे, बेसहारा और दबे-कुचले लोगों की करुण कराह, भूख और मौत के आर्तनाद के बीच से गुजरना है।”⁴⁷

शैलेश मटियानी के अनुसार बम्बई में होटलों में बाख-खुची जूठन को जब फेंका जाता तो भूख से व्याकुल लोग उस पर भी झपट पड़ते। वे लिखते हैं- “...अगर बम्बई रहना या आना-जाना हुआ हो, तो शायद,

कभी-न-कभी किसी ऐसे दृश्य से भी गुजरना हुआ जरूर होगा, जिसमें जूठन खाते कुत्ते और आदमी के बीच का फर्क खत्म हो जाता है। इसे कुत्ते नहीं, आदमी के भीतर की दीवारों का ढह चुका होना ही कहा जा सकता है और यह भी कि भूख में कितनी ताकत होती है...अनेक बार देखा था कि कहीं किसी होटल से इस तरह कुछ फेंके जाते ही कुत्तों की ही भांति आदमी भी लपकते हैं।”⁴⁸

4.3.2. स्त्रियों की समस्याएं

शैलेश मटियानी ने कमाठीपुरा, गोलपीठा में महिलाओं की जो दुर्दशा देखी, किसी वस्तु की तरह उन्हें अपना शरीर बेचते देखा, उससे उन्हें गहरा दुख पहुँचा। पहाड़ों में भी उन्होंने महिलाओं को शोषित होते देखा था। महानगरों में तो स्त्रियों की दशा को और बुरा पाया। इस कारण उन्होंने स्त्रियों की समस्याओं पर बहुत गंभीरता, जिम्मेदारी के साथ लिखा है। उनके लगभग आधा दर्जन उपन्यास महिलाओं पर ही केन्द्रित हैं, जैसे- रामकली, गोपुली गफूरन, सवित्तरी, किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई, चंद औरतों का शहर। 1961 में प्रकाशित ‘मेरी तैंतीस कहानियाँ’ पुस्तक की भूमिका में वे महानगरों में महिलाओं की दुरावस्था पर लिखने की प्रतिबद्धता व्यक्त करते हैं। वे लिखते हैं- “...में बम्बई की फुटपाथों, कमाठीपुरा के कोठों में चिलबिलाने-बिलखने वाली बोटियों और गणपत-रामन्ना भाऊ तथा वस्ताद-पोपटों की अपनी बिरादरी के प्रति अपने वैयक्तिक और साहित्यिक दायित्वों के साथ बंधा हुआ हूँ, जिनके टुकड़े मैंने खाए हैं, जिनसे प्यार मैंने पाया है, जिनसे जीवन जीने की कला मैंने सीखी है।” वे लिखते हैं- “मैं बम्बई की उन हजारों वेश्याओं के चेहरों को नहीं भुला पाता हूँ, जिन्हें चंद सिक्कों के बदले में बदतमीजों, बदशक्तों और भयंकर बीमारियों से सुलगते हुए मर्दों की वहशी वासनाओं को अपनी लरजती हुई बोटियों का जायका सौंपना पड़ता है। और मैं यह भी नहीं बिसार पाता कि ऐसा सब कुछ हमारी वर्तमान जनकल्याणवादी, गांधीवादी और रामराज्यवादी सरकार की जानकारी और सहमति से हो रहा है।” महानगरों में बेरोजगारी एक गंभीर समस्या है। यहाँ रह रही जनसंख्या का बहुत छोटा हिस्सा सरकारी सेवाओं, निजी कंपनियों तथा अपने कारोबार से प्राप्त आय से सुविधापूर्ण जीवन जी रहा है। अधिकतर लोग छोटे-छोटे अनियमित रोजगारों से अपनी आजीविका कमाते हैं। असंगठित क्षेत्र में काम करने वाले लोगों को रोजगार की कोई सुरक्षा नहीं होती। संकट की स्थिति में वे अपने काम से हाथ धो बैठते हैं। महिलाओं की स्थिति और भी दयनीय है। लाखों गरीब महिलाएं घर के खर्चे पूरे करने के लिए दूसरे के घरों में झाड़ू, पोंछा तथा बर्तन धोने का काम करती हैं। पेट की भूख के लिए हर रोज नए-नए समझौते करने को मजबूर इन महिलाओं की स्थिति को लेखक ने अत्यंत निकट से देखा और कुछ निजी अनुभवों को अपने संस्मरणों में लिखा।

महानगरों में परिश्रम कर अपने परिवार का पालन-पोषण कर रही स्त्रियों की जिंदगी की धुरी के चारों ओर संघर्ष ही संघर्ष है। उनका संघर्ष बहुआयामी है। शैलेश मटियानी की कहानियों के स्त्री पात्र आर्थिक, सामाजिक पारिवारिक, मानसिक, दैहिक और संबंधों के बिन्दुओं पर निरंतर संघर्षरत रहते हुए भी उनके पुरुष पात्रों की अपेक्षा अधिक चैतन्य हैं इसीलिए संघर्ष में उनकी शक्ति त्रीवता से उभर कर आती है। वे अपने एक संस्मरण में लक्ष्मी नाम की महिला का वर्णन करते हैं जिसका संघर्ष अकरुण समाज की दृष्टि में मायने नहीं रखता। यह संघर्ष देह को लेकर देह का है। देह असुंदर है (बदसूरत नहीं) इस कारण पति तिरस्कृत कर देता है। परित्यक्ता लक्ष्मी अपमान, अवहेलना घृणा की परिस्थितियों में रहते हुए भी उस रहस्य सुख से परिचित होना चाहती है जिस रहस्य

से परिचित कराने के नाम पर पति ने सेज पर ही ठोकर मार दी। लक्ष्मी सोचती अगर दैहिक सम्बन्ध नहीं बन पाया पति के साथ तो क्या हो गया? अपने भीतर वह लगातार इसी द्वन्द से जूझती है। उसकी मनःस्थिति को रेखांकित करते हुए शैलेश मटियानी लिखते हैं- “एक दुर्दांत आकर्षण से अपने आपको अपने ही लिए अजनबी और घृणा तथा दया के बीच अनिर्णीत लटका देने वाली मनःस्थिति।” धर्मशाले के अंधे भिखारी को देखकर वह सोचती है कि वही एक अवलंब है जिसके सहारे रहस्यमुक्ति का सुख और चरित्र भंग का पश्चाताप भोग जा सकता है। यहाँ संघर्ष देह की उमड़ती इच्छाओं और संघर्ष मन के रूढ़ीग्रस्त कुलीनतावाद से है। ऐसे में मटियानी जी प्रश्न करते हैं कि क्या लक्ष्मी की इस प्रकार की कल्पनाएँ घृणास्पद थीं? बाहर से शांत किंतु अपने अन्दर एक बवंडर और तीव्र हलचल लिए ऐसी अनेक महिलाओं की व्यथा वे बड़ी बेबाकी और अपने हिस्से की संवेदना के साथ कहते हैं।

दिन भर घर तथा दफ्तरों में खटती इन महिलाओं से घर आने पर कोई प्रेम के दो शब्द बोलने वाला भी नहीं। लेखक ऐसे पुरुषों का जिक्र भी करते हैं जो पत्नी के पैसों को बेरोक-टोक खर्च करते हैं और अवसर मिलने पर उनका चरित्रहनन करने से भी नहीं चूकते। तंगहाली तथा यथास्थितिवाद को तोड़ने के लिए कोई उद्यम करने के बजाय वे भाग्य को कोसते हुए शराब पिए घरों में पड़े रहते हैं। जब पुरुष ऐसी स्वावलंबी महिलाओं से दास की तरह व्यवहार करते हैं तब उनमें अलगाव की भावना जन्म लेती है। इससे पारिवारिक संबंधों में खटास उत्पन्न होती है और परिवार टूटने की कगार पर आ जाते हैं। वे कुटुंब अर्थात् परिवार कि महत्ता भी बताते चलते हैं। किसी व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन तथा किसी देश के सामाजिक जीवन दोनों के लिए परिवार का महत्त्व है। अपने संस्मरणों में बड़ी आत्मीयता से अपने परिजनों का स्मरण करते हैं तथा कहते हैं कि ‘कुटुंब की रिक्ति कभी दूर नहीं हो पाती।’⁴⁹ अपनी प्रसिद्ध कहानी ‘अर्धांगिनी’ को भी कुटुंब की सुखद स्मृतियों की परिणति बताते हैं। सामाजिक जीवन में परिवार का महत्त्व किसी परिवर्तन की आरंभिक इकाई के रूप में है। इससे शुरू होकर ही कोई परिवर्तन या सुधार देशव्यापी बनता है। महानगरों में हो रहे पारिवारिक विघटन तथा स्त्री-पुरुष संबंधों पर भी उन्होंने विस्तार से लिखा है। वे इसका कारण शहरीकरण तथा अर्थकेन्द्रित नीतियों के कारण होने वाले सांस्कृतिक अवमूल्यन को बताते हैं। ‘पुरखा’ कहानी में लेखक की कुटुंब को लेकर चिंताएँ व्यक्त होती हैं। वे लिखते हैं- “अरे, परिवार होने की तो देवदार के वृक्ष की तरह है। सात-सात बहुएं, छः छः बेटे। डॉ बीसी तक पोते नातियों की गिनती। पर कलियुग में कहीं कुटुंब एक रहता है? सब भाई न्यारे हो गए।”⁵⁰

एक अन्य समस्या स्त्रियों को देहव्यापार में धकेलने की है। कुमाऊँ अंचल तथा इसकी तरह अन्य विपन्न क्षेत्रों से अपराधिक प्रवृत्ति के व्यक्ति महिलाओं को रोजगार का लालच दे महानगरों में लाते हैं और फिर धोखे से वेश्यावृत्ति के धंधे में धकेल देते हैं। अर्थाभाव से जूझ रहे परिवारों की स्त्रियाँ इन लोगों के चंगुल में फंस जाती हैं। लेखक ने कमाठीपुरा, गोलपीठा में ऐसे अनेक मजबूर महिलाओं को देखा था जो इस तरह के धोखे का शिकार हुईं। वेश्यावृत्ति के दलदल से निकलने का उन्होंने प्रयास किया किंतु यह इतना आसान नहीं। अपने उपन्यास तथा कहानियों में भी उन्होंने नूर, चाँदनी जैसी अनेक महिलाओं के माध्यम से देहव्यापार में लिप्त महिलाओं की समस्याओं को उठाया है। शैलेश मटियानीजी ने महानगरीय परिवेश को केंद्र में रख जो कथा साहित्य रचा, वह उनके अपने अनुभवों पर आधारित है। उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि इन समस्याओं को लिखकर वे लोगों का ध्यान इन समस्याओं की ओर खींचना चाहते हैं।

लेखक ने नगरों में देखी ऐसी बातों का वर्णन भी किया है जो अत्यंत वीभत्स हैं, लेकिन सच्चाई है। एक बार लेखक ने बनारस में एक व्यक्ति द्वारा तीन शवों को ठेले पर ले जाते देखा था। शैलेश इस दृश्य से अत्यंत विचलित हुए और इस घटना से पैदा हुए अवसाद से वे तभी मुक्त हो सके जब उन्होंने इस पर ‘हलाल’ नामक एक कहानी लिखी।

लेखक ने महानगरों में दमित वासना तथा ग्रंथियों से पीड़ित लोगों को देखा। महानगरों का कठिन श्रम, अर्थाभाव तथा अकेलेपन का जीवन कुंठाओं और ग्रंथियों को जन्म देता है। इस प्रकार की दमित वासनाएं तथा ग्रंथियों कई बार व्यवहार में अचानक हुए नकारात्मक परिवर्तन का कारण बनती हैं। अपने इन्हीं अनुभवों पर लेखक ने ‘छिलके’ तथा ‘बंदिश’ जैसी कहानियां लिखीं।

4.3.3. महानगरों में अपराध

लेखक महानगरों में अपराध की प्रवृत्ति की ओर भी पाठकों का ध्यान आकर्षित करते हैं। बड़ी मात्रा में अपराध संगठित समूहों द्वारा किए जाते हैं, जिनमें कई बार शक्तिसंपन्न लोगों की भूमिका भी होती है। वहीं अन्य अपराध कुछ विशेष व्यक्तियों द्वारा किए जाते हैं। महानगरों की जटिल बनावट में अनेक ऐसे दोष हैं जो अपराधों में वृद्धि के कारण बनते हैं। यहाँ उत्पादन के साधनों पर चंद लोगों का स्वामित्व देखा जा सकता है, श्रमिकों को कम भुगतान देकर अधिक परिश्रम कराया जाता है, अधिक से अधिक लाभ का उद्देश्य रहता है, ये सब स्थितियां एक विषमतापूर्ण समाज का निर्माण करती हैं जो अंततः अपराध के लिए उर्वर भूमि तैयार करता है। नगरों में यातायात के व्यक्तिगत साधनों से लेकर कुलीगिरी, पल्लेदारी जैसे कामों को कथित दादाओं द्वारा नियंत्रित किया जाना, इन कार्यों से आजीविका कमाने की इच्छा रखने वाले लोगों के लिए परेशानी का कारण बनता है। लेखक अपना अनुभव बताते हैं- “बीच-बीच में कुलीगिरी को आजमाया, मगर वहाँ भी लगातार दादाओं का डर। इस जंगल में शक्ति का नियम ही चलेगा। दादागिरी में बिना मारामारी के कोई स्थान नहीं और यह मारामारी छुरेबाजी तक जा सकती है...वास्तविक से ज्यादा संभावित भयों से चलता है आदमी और जिसमें सामना करने का दम नहीं, भाग निकलता है।”⁵¹ यहाँ तक कि खून बेचने के बाद भी इन दादाओं को कुछ हिस्सा देना पड़ता है। वे लिखते हैं- “पुलिस हवालातों में ही यह जानकारी मिली थी कि बम्बई में खून भी बिकता है, सिर्फ ऐसी व्यवस्था करने वाले दादा को उसका हिस्सा देना पड़ता है। दस रुपये खून बेचने के मिलें, तो दो रुपए उसके।”⁵²

महानगरों में झुग्गी झोपड़ियों तथा देहव्यापार में लिप्त महिलाओं के बच्चों पर अपराधियों की नजर रहती है। कमाठीपुरा तथा गोलपीठा जैसे स्थानों में रहनी वाली देहव्यापार में लिप्त महिलाएं अपने बच्चों पर ध्यान नहीं दे पातीं। इन बच्चों को आसान शिकार समझ कर ‘वस्ताद’ कहे जाने वाले लोग इन्हें ‘पोपट’ के रूप में प्रशिक्षित कर छोटे-मोटे अपराध करवाते हैं। एक समय के बाद अपराध की दुनिया में जाने के बाद वापसी संभव नहीं रहती और ये बच्चे बाद में आदतन अपराधी बन जाते हैं।

लेखक ऐसे श्वेत-वस्त्रधारी अपराधियों का चित्रण भी करते हैं जो समाज में दिखावे के लिए सम्मानित व्यक्ति हैं किंतु जिनके काम निहायत ही गैरकानूनी और अमानवीय हैं। अपने अनेक उपन्यास और कहानियों में भी उन्होंने ऐसे लोगों की चर्चा की है।

महानगरों में इस प्रकार की तनावपूर्ण परिस्थितियों के कारण एक बड़ा वर्ग भयंकर कष्टों का सामना करते हुए अपना जीवन बिताता है। दरअसल एक व्यवस्थित और सुचारू रूप से चलने वाला समाज अपने मूल्यों, आदर्शों, मान्यताओं के साथ जीवित रहता है। एक संगठित समाज सामाजिक संबंधों, नीतियों तथा लोकाचार से बंधा होता है किंतु आर्थिक विकास और प्रगति की तीव्रता समाज में संक्रमण की अवस्था उत्पन्न करती है। चीजें उलटने-पलटने लगती हैं। व्यक्ति की सोच व मानसिकता में बदलाव आने लगता है औद्योगिक क्रांति और यांत्रिक पूंजीवाद ने आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक ढांचे को परिवर्तित कर दिया है। नगरों की परिस्थिति का परिदृश्य विरोधाभासों से युक्त है। एक तरफ ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएं, दूसरी और बदबूदार नारकीय मलिन बस्तियां, बेरोजगारों की भीड़। तरह-तरह के अपराध। यौन शोषण के संगठित संगठन। शराब के अड्डे। भ्रष्ट व्यावसायिक व्यवस्था में पनपता भ्रष्टाचार। प्रत्येक व्यक्ति का धनी बनने का सपना चाहे जैसे भी हो वह धनि बनना चाहता है। इसलिए यहाँ अपराध, आदत और व्यवसाय के रूप में गोपनीय, पर सुचारू और संगठित रूप में पनपता है। मटियानी जी राजनीतिक संरक्षण प्राप्त ऐसे ठेकेदार दादाओं का जिक्र करते हैं जो गरीबों का जीना और मुहाल किये रहते हैं। नगरीय परिस्थितियों का यह अजीब ढंग महानगरों की देन है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नगरीकरण की प्रक्रिया से समाज के ढांचे और व्यवस्था में असंतुलन उत्पन्न होता है। एक संक्रमणकालीन और आदर्श शून्यता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। महानगर की पेचीदा और जटिल संस्कृति में भ्रम की अनेक स्थितियां होती हैं जो व्यक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं।

महानगरों में मजदूरी तथा कठिन श्रम करने वाले लोगों के बीच फैली शराब तथा नशे की बीमारी के विषय में लिखते हैं। वे इस समस्या को गहराई से देखते हुए इसके परिवार, समाज में पड़ने वाले दुष्प्रभावों का भी उल्लेख करते हैं। शराबी आदमियों के घरों कि महिलाओं को किस प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं, इसका वर्णन भी लेखक ने किया है। लेखक ने महानगरों में देखा कि बड़ी मात्रा में लोग शराब पीकर घरों में पड़े रहते हैं। उनकी स्त्रियाँ आजीविका के लिए काम करती हैं और घर आने पर मर्दों की कड़वी बातें भी सुनती हैं।

महानगरों में हाशिये पर पड़े लोगों को अपने साहित्य का विषय बनाने की प्रेरणा कहाँ से मिली इसका वर्णन वे सियाराम तिवारी को लिखे एक पत्र में करते हैं। वे अपने फुटपाथ के साथी गणपत रामा की बात का उल्लेख करते हैं जिन्होंने उससे कहा था- “बिरादर तुम हमारे भाऊ की तरह से रहता है, खाता पीता है, जिंदगी गुजारता है। पीछूँ अगर तुम हमारी स्टोरी नहीं लिखेंगा, तो और कौन साला लिखेंगा?...लिखो प्यारे हमारी स्टोरी लिखो। ऐसी स्टोरी कि पढ़नेवाला की आँखों का चश्मा तड़क के रह जावे। लिखो बिरादर हमारे कलेजे का खून में फौन्टैन डुबा के लिखो, कि कैसे हमारे जैसे माणूस का आक्खा जिंदगी गटर का डूकर का माफिक खलास हो रयेला है।” गणपत रामा की बात पर मटियानी जी लिखते हैं- “गणपत मेरा बिरादर, मेरा भाऊ नशे में था उस दिन। मगर मैं ही समझ पाया कि उसे शराब के नशे ने कम, सूअर की सी जिन्दगी के नशे ने ज्यादा दबोच रखा था।”⁵³ शैलेश मटियानी ने इन वंचितों के दुख दर्दों को समाज के सामने लाना अपने जीवन का ध्येय बना लिया। साहित्य के प्रति उनकी उनकी अखंड प्रतिबद्धता का रहस्य यही था कि उनकी पक्षधरता इन समाज के सबसे निचले तबके के लोगों के प्रति थी।

मटियानी जी की एक विशेषता यह भी है कि वे कदम-कदम पर श्रम के महत्व और संघर्ष की चेतना को स्थापित करते दिखते हैं। उनके पात्र दारुण जीवन जीते हुए भी उत्कट जिजीविषा और इच्छाशक्ति से जीवन के

झंझावातों को झेलते दिखाई देते हैं। महानगरों के क्रूर झंझावात भी उन्हें जीवन से विमुख नहीं कर पाते और वे गिरकर फिर उठ खड़े होते हैं। गिरिराज किशोर जी ने इस संबंध में टिप्पणी की है- “मटियानी जी में जूझने की असीम सामर्थ्य है। उनको हर मुहिम पर जूझना पड़ता है और वे जूझने से मुंह नहीं मोड़ते। पत्थरों को तोड़कर राह बनाने की पूरी प्रक्रिया उनकी जिन्दगी जीने की प्रक्रिया है।”⁵⁴ दरअसल मटियानी जी एक समतामूलक समाज का स्वप्न देखते थे किंतु जब महानगरों में उन्होंने एक ही स्थान पर गंदी, बदबूदार मलिन बस्तियों और उन्हें मुंह चिढ़ाती अट्टालिकाओं को देखा तो उनके स्वप्न चकनाचूर हो गए। वे उस वर्ग के प्रति चिंतित थे जहाँ विकास परियोजनाओं को तो छोड़िए प्रकृतिप्रदत्त सुविधाएं तक नहीं पहुँच पातीं। विशाल गगनचुम्बी इमारतों के साए तले बनीं अस्थायी झुग्गी-झोपड़ियों में न सूरज की रोशनी ही पहुँचती है, न हवा और न साफ पानी। प्रेमचंदयुगीन तथा उनके परवर्ती हिंदी कथा साहित्य में मध्यवर्ग, गरीबों, दलितों, बेसहारा स्त्रियों की समस्याओं का चित्रण हुआ किंतु मटियानी जी वर्ग विभेद की जड़ों तक पहुँचने के लिए बहुत गहरे उतरते हैं। इस यात्रा में वे स्टेशन पर काम करने वाले कुलियों, ट्रेन में लोगों का मनोरंजन कर दो-चार रुपए कमाने वाले लोगों, वेश्याओं तथा समाज द्वारा तिरस्कृत उनके बच्चों, मंदिर-मस्जिद, दरगाहों के बाहर भीख मांगने वालों, शराब, जुएँ जैसे व्यसनो में पड़े लोगों को भी अपने साहित्य में स्थान देते हैं। 1961 में प्रकाशित अपने एक आत्मकथ्य में वे लिखते हैं- “मैं वर्तमान सरकार के प्रजातांत्रिक तौर तरीकों का कायल हूँ मैं यह भी मानता हूँ कि ग्रामीण-क्षेत्रों में, स्वातंत्रोत्तर अवधि में, आर्थिक और सामाजिक ढांचे का बहुत कुछ विकास हुआ है और समूचे राष्ट्र में रचनात्मक आयोजनों की कई नई परंपराएं स्थापित हुई हैं मगर आज भी करोड़ों आदमी बेकारी और आर्थिक शोषण की चक्की में पिसे जा रहे हैं। मेरी अपनी आंतरिक इच्छा यह है कि मैं अपने कुमायूं के लोक साहित्य और संस्कृति के बुरंश-फूलों को हिंदी साहित्य की प्रशस्त पूजा वेदी पर प्रतिष्ठित करूँ मगर मेरी कमजोरी यह है कि मैं बंबई के फुटपाथों पर लावारिस पड़ी अपनी उस बिरादरी को नहीं बिसार पाता हूँ, जो पूंजीवादी व्यवस्थाओं के दुष्परिणामों को भोगते हुए, घोर यंत्रणापूर्ण और नारकीय जीवन जी रही है।”⁵⁵

वे महानगरों में दरिद्रता और अभाव का जीवन जीने को अभिशप्त ऐसे लोगों का चित्रण करते हैं जिनके लिए स्वाभिमान, मानवीय गरिमा, अस्मिता जैसे भावों का कोई अर्थ नहीं। जिनके लिए जिन्दगी कोई सुखपूर्वक बिताने की चीज नहीं बल्कि जिनपर जिन्दगी एक कहर की तरह टूटती है। अमरकांत ने अपनी कहानी ‘जिन्दगी और जोंक’ में रजुआ के विषय में लिखा था- “मुझे कभी-कभी लगता है कि वह किसी का मुहताज नहीं होना चाहता था और इसके लिए उसने कोशिश भी की, जिसमें वह असफल रहा। चूँकि वह मरना नहीं चाहता था इसलिए जोंक की तरह जिंदगी से चिमटा रहा। लेकिन लगता है कि जिंदगी स्वयं जोंक सरीखी उससे चिमटी थी और धीरे-धीरे उसके रक्त की अंतिम बूँद तक पी गई।”⁵⁶ शैलेश मटियानी के अनेक पात्र भी ऐसे ही हैं जो जैसे-तैसे जिन्दगी जिए जा रहे हैं। ‘कबूतरखाना’ उपन्यास का गणपत कहता है- “न बिस्तर, न चादर, न औरत। कभी-कभी तो लगता है कि बस रोटी मिलती रहे और कुछ नहीं।”⁵⁷ संघर्ष के दिनों में मटियानी जी ने अपना बहुत सा समय मुंबई के कमाठीपुरा और गोलपीठा जैसे स्थानों पर छोटे-मोटे काम करते हुए बिताया था। अनुभवों की प्रामाणिकता तथा यथार्थपरकता के कारण उनके उपन्यास नारी जीवन के संघर्षमय तथा यातनामय जीवन के जीवंत दस्तावेज हैं। वे महानगरों में स्त्रियों की समस्याओं को व्यापक परिप्रेक्ष्य में उठाते हैं।

महानगरों की जिन समस्याओं के प्रति उन्होंने पिछली शती के सातवें-आठवें दशक में आगाह किया था और उनके उत्तरोत्तर बढ़ते जाने का खतरा जताया था वे आज विकराल रूप धारण किए समाज के सामने

खड़ी हैं। अपने कथा साहित्य के माध्यम से उन्होंने मानव तस्करी, जुआं, सट्टा, नशीली दवाओं के व्यापार आदि गंभीर कार्यों के प्रति सावधान होने का आह्वान किया था। आज यह समस्याएं इतनी अधिक बढ़ चुकी हैं कि इनसे निपटने के लिए पुलिस की एक अलग इकाई गठित की गई है। अपने संस्मरणों पर उन्होंने इन समस्याओं के बारे में बहुत विस्तार से लिखा है। वे लिखते हैं- “बम्बई के फुटपथों का मैं आजीवन ऋणी रहूंगा कि उनमें फिर-फिर कर मैंने चने और रोटियों के बासी टुकड़े पाए हैं, जिनने मेरे भूखे पेट को राहत दी। इन्हीं फुटपथों पर सोने के अपराध में जब ‘चौपन’ के अंतर्गत पुलिस चौकियों में पहुंचा तो वहां मुझे हिंदुस्तान के बेटों का साहचर्य मिला, जो पूंजीवादी और सरकारी शोषण के मकद-जाल में फंसे हुए गुनाहगार बनने को मजबूर होते हैं और जिनके चेहरे पर गुंडागिरी की मुहर रहती है, मगर हृदय में कोमलतम कविता के पवित्रतम छंद रहते हैं।” वे ऐसे अनेक लोगों के विषय में बताते हैं जो बिना अपराध के जेलों में बंद हैं और वे स्वयं बाहर नहीं आना चाहते। आर्थिक विपन्नता, रहने के ठौर ठिकाने के आभाव में वे अपना भविष्य असुरक्षित देखते हैं इसलिए जेल में रहने में ही अपनी भलाई समझते हैं।

4.3.4. शहरों में जातीय विद्वेष तथा साम्प्रदायिक घृणा

सामान्यतः नगरों में लोगों से प्रगतिशील तथा वैज्ञानिक-तार्किक विचारों की अपेक्षा की जाती है, किंतु नगरों में साम्प्रदायिक घृणा आज भी विद्यमान है। कुछ सक्रिय लोगों के प्रयासों से इस प्रकार की रूढ़िवादी विचारों को छोड़ने के लिए जागरूकता फैलाई जाती है तो वहीं कई संगठन इसके समर्थन में प्रचार करते हैं। प्रसिद्ध पत्रकार राजकिशोर ने लिखा है- “बेशक आधुनिक विचार ने एक वर्ग के जीवन को बदला है, लेकिन यह ज्यादातर निजी जीवन में हुआ है और किसी सामाजिक आंदोलन की शक्ल नहीं ले सका है। इस मामले में तीसरी दुनिया के अनेक देशों की तरह भारत के मध्य वर्ग ने काफी निराश किया है। यूरोप के मध्य वर्ग ने अनेक सामंती मूल्यों से विद्रोह कर प्रगतिशील काम किया था, किंतु भारत के मध्य वर्ग ने अधिकांशतः सामंती मूल्यों को संरक्षण दिया है।”⁵⁸ शैलेश मटियानी ने अल्मोड़ा, इलाहाबाद, दिल्ली तथा बम्बई आदि शहरों में फैले जातीय विद्वेष के विषय में अपने कथा साहित्य में तो लिखा ही है, अपने कथेतर गद्य में भी वे जातीय विद्वेष व्यक्तिगत अनुभवों को बताते हैं। चूंकि लेखक अपने चाचा की दुकान पर मांस बेचने का काम किया करते थे, कई लोग उनके इस पेशे के कारण ही उनसे घृणा करते थे। एक घटना का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं- “शहर से कुछ लोग सांध्य भ्रमण के लिए काबार देवी के मंदिर को दिशा में जा रहे थे। मुझे पहचानते थे और मेरे काम को भी। उनमें से एक व्यक्ति ने पहले गौर से मुझे कीमा कूटते देखा था और दिखाया तथा इसके बाद ‘पिच्च’ करते हुए, पान की पीक दायीं ओर थूकने के बाद, अत्यंत व्यंग्य के साथ कहा- देखिये सरस्वती जी का कीमा कूटा जा रहा है।”⁵⁹ वे यह भी लिखते हैं कि लेखन के आरंभ में उनकी रचनाएं कई पत्रिकाओं में छपती थीं किंतु उनके शहर की पत्रिकाओं में उनकी रचनाएं स्वीकार नहीं की जाती थीं। जाहिर है इसका कारण उनका एक मांस बेचने वाले परिवार का सदस्य होना था।

मटियानी जी द्वारा बंबई की गरीब महिलाओं की स्थिति का वर्णन तो और भी हृदयविदारक है। मुख्यतः उन्होंने भूलेश्वर, गोलपीठा, कमाठीपुरा में देहव्यापार करने वाली महिलाओं की समस्याओं का उल्लेख किया है। ‘कबूतरखाना’ तथा ‘किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई’ शैलेश मटियानी के इन्हीं आत्म साक्षात्कारों के परिणाम हैं। उनकी बंबई अंचल से संबद्ध लगभग सभी कहानियों में उनके संस्मरण बिखरे पड़े हैं। कमाठीपुरा और गोलपीठा जैसे स्थानों में निवास करनेवाली स्त्रियाँ देह व्यापार के कारण अपने बच्चों की समुचित देखभाल में असमर्थ रहती हैं। जिम्मेदार अभिभावक के अभाव में इन बच्चों पर आपराधिक प्रवृत्ति के लोगों की नज़र रहती है और वे इन्हें

चोरी, राहजनी, नशा आदि कुकृत्यों में दक्ष कर उन्हें 'पोपट' नाम देते हैं। ऐसे ही एक पोपट के विषय में लिखते हुए वे देश के उन अनेक बच्चों के प्रति लोगों का ध्यान खींचते हैं जिनका भविष्य अंधकार में है और जिनकी देखभाल करने वाला कोई नहीं। वे लिखते हैं- "पोपट, जिसने देश की लाखों गरीब संतानों की तरह न माँ-बाप का लाड़-दुलार पाया, न भाई-बहनों का नेह-बंधन। जो माँ के अमिय-पयोधरों को दूधिल कर देने की उम्र में, वस्ताद के हाथ के बासी पाँव-चालू चा में पला। वे उस वर्ग के प्रति चिंतित थे जहाँ विकास परियोजनाओं को तो छोड़िए प्रकृतिप्रदत्त सुविधाएं तक नहीं पहुँच पातीं। विशाल गगनचुम्बी इमारतों के साए तले बनीं अस्थायी झुग्गी-झोपड़ियों में न सूरज की रोशनी ही पहुँचती है, न हवा और न साफ पानी। प्रेमचंदयुगीन तथा उनके परवर्ती हिंदी कथा साहित्य में मध्यवर्ग, गरीबों, दलितों, बेसहारा स्त्रियों की समस्याओं का चित्रण हुआ किंतु मटियानी जी वर्ग विभेद की जड़ों तक पहुँचने के लिए बहुत गहरे उतरते हैं। इस यात्रा में वे स्टेशन पर काम करने वाले कुलियों, ट्रेन में लोगों का मनोरंजन कर दो-चार रुपए कमाने वाले लोगों, वेश्याओं तथा समाज द्वारा तिरस्कृत उनके बच्चों, मंदिर-मस्जिद, दरगाहों के बाहर भीख मांगने वालों, शराब, जुएँ जैसे व्यसनो में पड़े लोगों को भी अपने साहित्य में स्थान देते हैं। 1961 में प्रकाशित अपने एक आत्मकथ्य में वे लिखते हैं- "मेरी अपनी आंतरिक इच्छा यह है कि मैं अपने कुमायूँ के लोक साहित्य और संस्कृति के बुरुंश-फूलों को हिंदी साहित्य की प्रशस्त पूजा वेदी पर प्रतिष्ठित करूँ मगर मेरी कमजोरी यह है कि मैं बंबई के फुटपाथों पर लावारिस पड़ी अपनी उस बिरादरी को नहीं बिसार पाता हूँ, जो पूंजीवादी व्यवस्थाओं के दुष्परिणामों को भोगते हुए, घोर यंत्रणापूर्ण और नारकीय जीवन जी रही है।"⁶⁰ जाहिर है लेखक बम्बई की मलिन बस्तियों की ओर संकेत करते हैं। मुंबई जैसा महानगर, जो तस्वीरों में हमेशा चमचमाहट लिए नज़र आता है, अपने अंदर एक ऐसे क्षेत्र भी समाए हुए है। 'धारावी' को एशिया की सबसे बड़ी मलिन बस्ती माना जाता है। यह क्षेत्र शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़क, पेयजल की सुविधाओं से वंचित है। "धारावी यानी कि धूल-गर्द, कीचड़, कचरे के ढेर, खुली नालियों, अभावों, बीमारियों, तनावों, मेहनत-मजदूरी, पसीने और उम्मीदों के साथ-साथ तमाम तरह की असामाजिक गतिविधियों, गुंडों, मवालियों, पेशेवर अपराधियों के सह-अस्तित्व से बना औद्योगिक महानगर का एक तलघर।"⁶¹

लेखक इन स्थानों पर स्वच्छ पानी, स्वच्छ हवा, सफाई जैसी बुनियादी जरूरतों के आभाव पर दुख व्यक्त करते हैं। वेश्याओं की गंदी, सीलन भरी चालों में फैलनेवाली भीषण संक्रामक बीमारियों के प्रति भी अपनी चिंता व्यक्त करते हैं। वे परित्यक्ता स्त्री तथा बहुविवाह की समस्याओं को उठाते हैं। रामप्यारी नाम की एक महिला के माध्यम से परित्यक्ता स्त्री की दुःख और अवसाद से भरी हुई जीवन दशा का वर्णन करते हैं। उसके पति ने उसे छोड़ दिया था जिसका कारण यह नहीं था कि उसके चरित्र में खोट थी या किसी प्रकार की कमी थी। उसके पति ने उसका त्याग इसलिए किया कि वह अपने पति से कद लंबी थी। अपनी शारीरिक बनावट के लिए वह किसे दोष देती? परित्यक्ता स्त्री के प्रति समाज के निर्मम आक्रामक रवैये की वजह से उनमें असुरक्षा का एक स्थायी भाव घर कर जाता है। रामप्यारी की दुखद जीवनकथा पर बाद में उन्होंने एक उपन्यास भी लिखा। महानगरों में स्त्रियों की दुर्दशा के लिए वे शासन तंत्र तथा पुलिस को भी जिम्मेदार ठहराते हैं क्योंकि अंततः उनकी सुरक्षा की जिम्मेदारी इन्हीं संस्थाओं की बनती है। 'बावन नदियों का संगम' उपन्यास में एक प्रसंग आता है जिसमें एक वकील वेश्याओं को हिदायत देता है कि इन्टेंशन कानून से बचने के लिए वे अपने घरों के बहार संगीत-नृत्य का साइनबोर्ड लगाकर अंदर जो भी करना चाहें कर सकती हैं। इस तरह की भ्रष्ट और पाखंडपूर्ण व्यवस्था के प्रति वे रोष व्यक्त करते हैं। यह एक वास्तविक घटना है जिसका उपयोग बाद में उन्होंने अपने उपन्यास में किया।

बंबई में दो आर्थिक वर्गों में बंटे समाज के बीच बड़ा अंतर है। एक वर्ग संसाधनों की अतिशय प्रचुरता से यांत्रिकता का जीवन जी रहा है। इन अतिसंपन्न घरों की महिलाएं भी अपने जीवन से प्रसन्न नहीं क्योंकि इन घरों में संसाधन तो हैं किंतु पारिवारिकता का लोप है। घर के सदस्यों में आत्मीयता का अभाव है। ऐसे घरों के पुरुषों का समय अपने व्यापारिक प्रतिष्ठानों की देखरेख में ही चला जाता है। अपने बच्चों की परवरिश के लिए भी उन्होंने नौकर रख छोड़े हैं। दूसरी और वे गरीब महिलाएं हैं जिन्हें पूरी फ़िक्र आज की है क्योंकि कल का कोई भरोसा नहीं। इसीलिए वस्ताद, पोपट को बताता है कि- “इस बंबई में न फुटकलियों को चैन है न महलों को आराम। यहाँ तिरिया के (अर्थात् स्त्री के) दो भेद हैं- सेठानी और घाटन।”⁶²

4.3.5. राजनीतिक उदासीनता और शासन का भ्रष्टाचार

शैलेश मटियानी अपने समय की समस्याओं को तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक परिवर्तनों के आलोक में देख रहे थे। स्वतंत्रत भारत के लगभग हर महत्वपूर्ण राजनैतिक परिवर्तन- आपातकाल, जयप्रकाश नारायण के आन्दोलन, जनता पार्टी के उदय, मंडल आयोग की सिफारिशों के लागू होने तथा नब्बे के दशक में सांप्रदायिकता के उदय आदि पर शैलेश जी ने उल्लेखनीय टिप्पणियाँ की हैं। वे जयप्रकाश नारायण के आंदोलन पर सवाल खड़े करते हैं। इतिहासकार बिपिन चंद्र ने इस संबंध में लिखा है- “जे. पी. का राजनीतिक और विचारधारात्मक धुंधलापन इस तथ्य से भी उजागर हो जाता है कि उन्होंने ऐसी राजनीतिक पार्टियों और समूहों से समर्थन लिया जिनके बीच कार्यक्रमों और नीतियों के मामले में कोई समानता नहीं थी और विचारधारात्मक रूप से वे परस्पर विरोधी थे।”⁶³ ऐसा इसलिए है क्योंकि आर्थिक असमानता तथा शोषण को वे राजनैतिक उदासीनता तथा भ्रष्टाचार की उपज मानते थे। वे लिखते हैं- “पिछले बार जब इंग्लैंड की महारानी दिल्ली आयी थीं, तो जहाँ-जहाँ से होकर उन्हें गुजरना था, वहाँ-वहाँ की सड़कों की फुटपाथों पर से ‘गंदे और घिनौने आदमियों’ को पुलिस ने डंडे मार-मारकर उस इलाके से दूर भगाया था और बहुतों की अल्पकालिक गिरफ्तारियां भी हुई थीं। मुझे क्लेश यूँ होता है कि जब-जब बाहर के राजकीय महत्व के राजा-रानी और नेता लोग आएँ, तब-तब अपने राष्ट्र की दरिद्रता, बेकारी और बदहाली पर पर्दा डालने के लिए अल्पकालिक कृत्रिम और अमानुषिक व्यवस्थाएँ करने के स्थान पर, राष्ट्र के समस्त नागरिकों को एक सुव्यवस्थित आर्थिक स्तर पर ले आने के लिये कोई ठोस कदम आज तक सरकार नहीं उठा पायी है। सरकार के पास राष्ट्र निर्माण की और चाहें सैकड़ों योजनाएँ हों, मगर लाखों बेकारों, बदहालों और बेघरों के उद्धार की कोई ठोस योजना उसके पास नहीं, ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव होता है।”⁶⁴

मटियानी जी उस समय की सामाजिक-आर्थिक परिस्थितियों का भी वर्णन करते हैं जिसके कारण उनके संस्मरण ऐतिहासिक सन्दर्भों से भरे पड़े हैं। 1950 के दशक की बम्बई पर केन्द्रित उनके संस्मरणों में इस बात पर अफसोस प्रकट किया गया है कि आजादी के महज कुछ वर्षों के बाद ही स्वतंत्रता संघर्ष के आदर्श धूमिल पड़ने लगे थे। वे लिखते हैं- “1952 का वर्ष था यह देश को स्वाधीनता मिले कुछ ही वर्ष हुए थे। गाँधी जी जा चुके थे, लेकिन उनका रहा होना अभी पूरी तरह मौजूद था।... वहीं बिना किसी अपराध के ही पकड़कर हवालात में बंद कर दिया जाना और वहाँ गालियाँ खाना, कमीज को गर्दन के पास से पकड़कर खींचा जाना, यह सब इसीलिए एक विद्रूप सा लगा था क्योंकि इतना अहसास तब भी था कि आदमी की कुछ हैसियत होनी चाहिए।”⁶⁵ लेखक संकेत करते हैं कि शहर में हो रहे गैरकानूनी कामों तथा भ्रष्टाचार में सरकार की सहभागिता होती है। वह कमीशन लेकर लोगों को मनमानी करने देती है। वे लिखते हैं- “और मैं यह पूछना चाहता हूँ, कि क्या बम्बई सरकार इस सत्य-

तथ्य से इनकार कर सकती है कि उसकी प्रजातांत्रिक-व्यवस्था के अंतर्गत ही हजारों औरतों को वेश्यावृत्ति के लायसेंस दिए जाते हैं और उन लायसेंसों की कमाई सरकारी कामों में खर्च की जाती है।”⁶⁶

सरकार के प्रति उनका आक्रोश दिखाई देता है। वे लिखते हैं- “जो सरकार अपने लाखों नागरिकों के लिए रोजी-रोटी की व्यवस्था करने में भी अपने को निकम्मा पाती हो, उसे ऐसे कानून बनाने का कोई अधिकार नहीं, जो भुखमरी और बेकारी से मजबूर इंसान को रोजी-रोटी देने की जगह नृशंस यंत्रणाएँ देते हों।”⁶⁷

कई बार विदेशी मेहमान आने पर लोगों का जीवन स्तर सुधारने के बजाय अपनी असफलताओं पर पर्दा डालने का काम करती हैं। वे लिखते हैं- “पिछली बार जब इंग्लैंड की महारानी दिल्ली आई थीं, तो जहाँ-जहाँ से होकर उन्हें गुजरना था, वहाँ-वहाँ की सड़कों की फुटपाथों पर से ‘गंदे’ और ‘घिनौने’ आदमियों को पुलिस ने डंडे मार-मार कर उस इलाके से दूर भगाया था और बहुतों की अल्पकालिक गिरफ्तारियाँ भी हुई थीं।... राष्ट्र की दरिद्रता, बेकारी और बदहाली पर पर्दा डालने के लिए अल्पकालिक, कृत्रिम और अमानुषिक व्यवस्थाएँ करने के स्थान पर, राष्ट्र के समस्त नागरिकों को एक सुव्यवस्थित आर्थिक स्तर पर ले आने के लिए कोई ठोस कदम आज तक सरकार नहीं उठा पाई है।”⁶⁸

4.3.6. महानगरों में हताशा और अजनबीपन

महानगरों में व्याप्त यांत्रिकता, दिखावटी व्यवहार और श्रमिक वर्ग की उपेक्षा लोगों के मानसिक रूप से टूट जाने का कारण बनती है। समृद्धि में डूबा यहाँ का अभिजात्य वर्ग एक निर्धन व्यक्ति की समस्याओं को नहीं समझ सकता। महानगरों के स्पष्ट वर्ग विभाजन में निर्धन व्यक्ति, अपने आसपास की चकाचौंध के बावजूद असहाय अनुभव करता है। लेखक ने इस अनुभूति को कुछ इस तरह व्यक्त किया है- “इस कोटि की विशालता में यह पहला प्रवेश था, जहाँ कि समृद्धि पानी की तरह छलछलाती दिखाई देती हो। हर वस्तु में एक निश्चितता। अपनी-अपनी जगह पर इत्मीनान से बैठे या काम करते हुए कि जैसे आकाश में से नक्षत्र अपने-अपने स्थान पर हों, स्थान पाने पर आदमी भी कुछ दूसरा ही हो जाता है। तब जानना कठिन है कि जिन्हें कोई स्थान नहीं, ऐसे चमत्कार भरे स्थान में पहुँचते ही उनकी सारी इन्द्रियाँ कितनी सिकुड़ जाती होंगी। बोलना कितना कठिन हो जाता होगा ऐसे स्थानों पर, जहाँ करुणा उपजा सकने के अवसर नदारद दिखाई पड़ते हों।”⁶⁹

महानगरों का विस्तार लोगों को डराता है क्योंकि चारों ओर दूर तक फैली आबादी में उनका परिचित कोई नहीं, असीम विस्तार में ऐसा कोई कोना नहीं जहाँ छुपा जा सके। ऐसे अजनबीपन से भरे परिवेश में आए व्यक्ति की तुलना वे उस पक्षी से करते हैं जो अचानक किसी कमरे में प्रवेश कर जाता है और फिर मुक्ति की चाह में दीवारों से टकराता रहता है। शैलेश मटियानी के संस्मरण महानगरों का वीभत्स यथार्थ तो प्रस्तुत करते ही हैं, वे उनके संघर्ष का लेख जोखा भी प्रस्तुत करते हैं। लेखक हिमांशु जोशी ने ठीक लिखा है कि- “चोर, उचक्के, हत्यारे- जैसे असामाजिक तत्वों के संपर्क में दिन-रात रहने के कारण बिगड़ने की संपूर्ण संभावनाओं के बावजूद, शैलेश काजल की इन कोठरियों से कुंदन बनकर लौटे, कालिख लगाकर नहीं। इन अनुभवों एवं अनुभूतियों ने उनके लेखन को समृद्ध ही नहीं किया, एक व्यापक दृष्टि भी दी।”⁷⁰ उनके कथेतर गद्य में इन अनुभवों को पढ़ना उनके कथा साहित्य जितना ही रोचक और विचारोत्तेजक है।

संदर्भ सूची

- ¹ कैलाश वाजपेई (1966), महानगरों की एक ही परिणति: कूड़ा, रमेश बक्षी (सं.), *ज्ञानोदय (नवंबर, 1966)*, कलकत्ता, पृष्ठ सं. 315
- ² विजय कुमार (2023), शहर जो खो गया, सेतु प्रकाशन, नोएडा, पृष्ठ सं. 393
- ³ यादव, राजेंद्र, दो कठिन पाठों के बीच, पहाड़-13, 2001, (संपादक- शेखर पाठक), पृष्ठ सं. 169
- ⁴ बटरोही (2015), एक बड़े लेखक की नियति, अंकित प्रकाशन, हल्द्वानी, पृष्ठ सं. 30
- ⁵ शैलेश मटियानी के मायने, शेखर पाठक, पहाड़-13, 2001, (संपादक- शेखर पाठक), पृष्ठ सं. 7
- ⁶ शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियाँ, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 16
- ⁷ शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियाँ, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 15
- ⁸ शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियाँ, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 17
- ⁹ शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियाँ, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 18
- ¹⁰ शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियाँ, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 18
- ¹¹ ममता कालिया (2001), पहाड़ जिनके ऊपर टूटता ही रहा, शेखर पाठक (सं.), 2001, *पहाड़-13*, नैनीताल, पृष्ठ सं. 133
- ¹² शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियाँ, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 19
- ¹³ शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियाँ, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 21
- ¹⁴ शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियाँ, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 26
- ¹⁵ शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियाँ, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 26
- ¹⁶ बिपिन चंद्र, आशा और उपलब्धि के वर्ष, *आजादी के बाद का भारत (1947-2007)*, 2011, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली, पृष्ठ सं. 184
- ¹⁷ शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियाँ, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 27
- ¹⁸ शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियाँ, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 30
- ¹⁹ शैलेश मटियानी (1987), *लेखक की हैसियत से*, विकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 20
- ²⁰ शैलेश मटियानी (1987), *लेखक की हैसियत से*, विकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 18
- ²¹ शैलेश मटियानी (1987), *लेखक की हैसियत से*, विकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 80
- ²² शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 11-12
- ²³ कुशल चौधरी (29 अप्रैल 2022), उत्तराखंड के भूतिया गांवों से बड़े पैमाने पर पलायन अभी भी एक बड़ी समस्या है, न्यूज़ क्लिक <https://www.newsclick.in/Mass-Migration-Uttarakhand-Ghost-Villages-Still-Huge-Problem>
- ²⁴ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 18- 19
- ²⁵ Mumbai Population Data, world Population Review, <https://worldpopulationreview.com/world-cities/mumbai-population>
- ²⁶ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 19
- ²⁷ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 90
- ²⁸ बटरोही (2015), एक बड़े लेखक की नियति, अंकित प्रकाशन, हल्द्वानी, पृष्ठ सं. 31
- ²⁹ शैलेश मटियानी (1993), मुठभेड़, प्रकल्प प्रकाशन, नैनीताल, फ्लैप से उद्धृत

-
- ³⁰ शैलेश मटियानी (2001), मुड़-मुड़कर मत देख, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 143
- ³¹ शैलेश मटियानी (1983), बावन नदियों का संगम, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 46
- ³² शैलेश मटियानी (1959), बोरीवली से बोरीबंदर तक, अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 66
- ³³ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 50
- ³⁴ या देवी सर्वभूतेषु, शैलेश मटियानी, हंस, फरवरी 1990
- ³⁵ दफा चौपन का आरोपी, शैलेश मटियानी, हंस, जनवरी 1990, पृष्ठ सं. 13
- ³⁶ दफा चौपन का आरोपी, शैलेश मटियानी, हंस, जनवरी 1990, पृष्ठ सं. 16
- ³⁷ दफा चौपन का आरोपी, शैलेश मटियानी, हंस, जनवरी 1990, पृष्ठ सं. 17
- ³⁸ दफा चौपन का आरोपी, शैलेश मटियानी, हंस, जनवरी 1990, पृष्ठ सं. 17
- ³⁹ शैलेश मटियानी (1963), मैं और मेरी रचना प्रक्रिया, शेखर पाठक (सं.), 2001, *पहाड़-13*, नैनीताल, पृष्ठ सं. 29
- ⁴⁰ शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियां, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 18-19
- ⁴¹ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 30
- ⁴² शैलेश मटियानी (1987), *लेखक की हैसियत से*, विकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 81
- ⁴³ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 32
- ⁴⁴ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 36
- ⁴⁵ शैलेश मटियानी के साहित्य में संघर्ष चेतना, शशिकला राय, अक्षरा, नवंबर-दिसंबर 2001, पृष्ठ सं. 98
- ⁴⁶ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 87
- ⁴⁷ विद्याधर शुक्ल (1980), प्रेमचंद की विरासत बनाम हिंदी कहानी, पृष्ठ सं. 61
- ⁴⁸ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 78-79
- ⁴⁹ शैलेश मटियानी (2001), मुड़-मुड़कर मत देख, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 144
- ⁵⁰ शैलेश मटियानी (1989), सुहागिनी तथा अन्य कहानियां, अनुभूति प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 48
- ⁵¹ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 73
- ⁵² शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 90
- ⁵³ शैलेश मटियानी के पत्र, डॉ. सियाराम तिवारी, समीक्षा प्रकाशन, मुजफ्फरपुर, पृष्ठ सं. 43
- ⁵⁴ संवाद सेतु, गिरिराज किशोर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1983, पृष्ठ सं. 54
- ⁵⁵ मैं और मेरी रचना प्रक्रिया, मेरी तैंतीस कहानियां, शैलेश मटियानी, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1961, पृष्ठ सं. 17
- ⁵⁶ जिंदगी और जोंक, अमरकांत, राजपाल एंड संस, 1958
- ⁵⁷ कबूतरखाना, शैलेश मटियानी, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1960, पृष्ठ सं. 27-28
- ⁵⁸ राजकिशोर (2001), जाति कौन तोड़ेगा, आज के प्रश्न: जाति का जहर (सं. राजकिशोर), वाणी प्रकाशन, नयी दिल्ली, 2001, पृष्ठ सं. 132
- ⁵⁹ शैलेश मटियानी (2001), मुड़-मुड़कर मत देख, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 152
- ⁶⁰ शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियाँ, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 17
- ⁶¹ विजय कुमार (2023), शहर जो खो गया, सेतु प्रकाशन, नोएडा, पृष्ठ सं. 21
- ⁶² भूमिका, किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई, शैलेश मटियानी, आत्माराम एंड संस

-
- ⁶³ बिपिन चंद्र, मृदुला मुखर्जी, आदित्य मुखर्जी(2002), आज़ादी के बाद का भारत, हिंदी माध्यम कार्यान्वयन निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, पृष्ठ सं. 355
- ⁶⁴ आत्मकथ्य, शैलेश मटियानी, पहाड़ साहित्यिक पत्रिका, अंक-13, पृष्ठ सं. 30
- ⁶⁵ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 48
- ⁶⁶ भूमिका, किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई, शैलेश मटियानी, आत्माराम एंड संस
- ⁶⁷
- ⁶⁸ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 27
- ⁶⁹ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 27
- ⁷⁰ हिमांशु जोशी (2001), संघर्ष का दूसरा नाम, शेखर पाठक (सं.), 2001, *पहाड़-13*, नैनीताल, पृष्ठ सं. 156

शैलेश मटियानी के कथा साहित्य का भाषागत अध्ययन

किसी भी समाज की सामाजिक-आर्थिक स्थिति जानने में भाषा एक महत्वपूर्ण उपकरण होती है। विश्व के अनेक समाजशास्त्रियों ने जब सीमान्त आदमी की अवधारणा पर विचार किया तो उन्होंने हाशिये के लोगों की भाषा का अलग से अध्ययन किया। स्त्रीवादी विचारक साहित्य की प्रचलित भाषा को पुरुषवर्चस्व से प्रभावित बताते हैं और एक अलग तरह की भाषा, जिसे वे स्त्री भाषा कहते हैं, की जरूरत पर बल देते हैं। शैलेश मटियानी के कथा साहित्य की भाषा अपनी जीवंत और विविधतापूर्ण शब्दावली के कारण रोचक और पठनीय लगती है। अपने पात्रों और परिवेश से शैलेश मटियानी के गहरे जुड़ाव के कारण उनकी कहानियाँ, कथाभूमि के नागरिकों और वहाँ के जीवन का शाब्दिक अनुवाद सी लगती हैं। दूसरे रचनाकारों के प्रभाव से स्वयं को मुक्त रखने के प्रयास में उनकी कहानियाँ अनगढ़ता और स्वाभाविकता लिए हुए हैं। उन्होंने अपने परिवेश को बहुत गहराई के साथ संपूर्णता में देखा। इस गहन अनुभूति की अनुगूंजे उनके साहित्य में सुनी जा सकती हैं। 'सींखचों पर अटका अतीत', 'छोटा सा आकाश', 'खंडित सुख की मंजिल', 'नीच कौम की सड़क', 'दो दुखों का एक सुख' जैसे शीर्षकों से ही उनकी रचनाओं में वर्णित कथावस्तु का अनुमान लगाया जा सकता है। उनके साहित्य को पढ़ते हुए जितनी बेचैनी और कौतूहल पैदा करने वाला उनका कथ्य होता है उतना ही ध्यान भाषा की ओर भी जाता है जो पात्रों के वर्गीय यथार्थ के साथ उनकी सामाजिक अवस्थिति बताती है। अच्छी प्रेम कहानियाँ लिखने के लिए जाने जाने वाले शैलेश इब्बू मलंग जैसी कहानी लिखते हैं जिसमें वे शब्दों के माध्यम से वीभत्स परिवेश को चित्रित करते हैं। इससे उनकी रचना सामर्थ्य का पता चलता है। लोक से निकटता की सुगंध लिए, अनूठे बिम्बात्मक भाषिक विधान वाली उनकी भाषा, उनकी सबसे बड़ी मजबूती रही। उत्तराखंड के आंचलिक परिवेश पर केन्द्रित कथा साहित्य में वे लोक मर्मज्ञ की तरह भाषा का प्रयोग करते हैं जिसमें पूरे पहाड़ को अपना कुटुंब समझने का बोध रहता है। महानगरों पर केन्द्रित कथा साहित्य में वे वहाँ की मिश्रित संस्कृति की भाषा का प्रयोग करते हैं, जो उस समाज का आईना बन जाती है। साहित्यकार गोविन्द मिश्र को लिखे एक पत्र में वे अपनी भाषा के संबंध में लिखते हैं- "मुझे राजेन्द्र भाई भाषा का मरीज कहते हैं, लेकिन यह मेरी लाचारी है। ज्यादा बुद्धि और अध्ययन नहीं होने से किसी भी लेखक को उसकी भाषा के सहारे पकड़ने की कोशिश करता हूँ। मेरे लिखे लेखन की सबसे बड़ी कसौटी-उसकी भाषा ही है। जिस फिनामिना का जिक्र कबीर करते हैं, उसे भाषा को सिर्फ भाषा से ही बांधा जा सकता है और वह झिलमिल मनुष्य ही नहीं, मेंढ़क तक में मौजूद है।"¹ प्रभावित वे किसी से होना नहीं चाहते थे इसलिए उनको अपना मुहावरा विकसित करने में बहुत संघर्ष करना पड़ा। आरम्भ में उन्हें संघर्ष करना पड़ा। उनका कथन है कि- जो कुछ भी मैं लिखना चाहता हूँ वह गूंगे की जिह्वा के स्वाद की तरह मेरी भाषा में नहीं आ पाता है। मटियानी जी जो कुछ लिख रहे थे वह एक कलात्मक भूख से प्रेरित नहीं था बल्कि अपने करीब की विसंगतियों को

देख उनके प्रति उपजे आक्रोश, विद्रोह में उनकी कलम चलती थी इसलिए उनकी रचनायें एक बड़े उद्देश्य से जुड़ती हैं नागरिकों को समाज की दशा दिशा पर सोचने का विवेक देती हैं

‘किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई’ के आमुख में वे लिखते हैं- ‘यह किस्सा है गांठिया पापड़ी, ऊसल पाँव, मसाला डोसा, बटाट वड़ा, चालू स्पेशल चा और भेलपुरी के देश बंबई का जहाँ पारले की औरेंज की बाटली फकत 5 आने में, ग्लूको कोला की बाटली फकत चार आने में लेकिन इन दोनों से भी मीठी-कसैली बेगमें सिर्फ आठ आने में।’ यह भाषा मुंबई के बहुभाषी-बहुसांस्कृतिक समाज के साथ-साथ स्त्रियों की दुर्दशा के बारे में बताती है। महानगरों में फुटपाथ पर भटकते बच्चों की जिम्मेदारी लेने वाला कोई नहीं होता। इन बच्चों को इनके नामों से पहचाना जा सकता है, जो उनके लावारिस होने का पता देते हैं। कहानी उपन्यासों में काव्य माधुर्य की सुगंध उन्हें पहाड़ों की मिटटी से मिली है, यहाँ के लोक मानस, लोक साहित्य तथा लोक भाषा से जिनकी स्मृतियाँ उनके उनके अवचेतन मन में सदैव तरोताजा रहीं। मटियानी जी सुन्दर प्रेम कहानियाँ लिखने के लिए जाने जाते रहे लेकिन उन्होंने इब्नूमलंग जैसी कहानी भी लिखी जिसमें वे शब्दों के माध्यम से वीभत्स परिवेश को चित्रित करते हैं। उपभोक्तावाद, बाजारवाद के दुष्प्रभावों को वे अपनी भाषा में बड़ी आसानी से व्यक्त कर देते हैं- ‘इस बम्बई में न फुटकलियों को चैन है न महलों को आराम।’ कहानी-उपन्यासों में काव्य माधुरी की यह खुशबू इन्हें पहाड़ों की मिटटी से मिली है, यहाँ के लोक मानस, लोक साहित्य तथा लोक भाषा से, जिनके बिम्ब शैशव काल से उनके मन पर अंकित होते रहे। अपनी धरती के इस प्रदान को वह कृतज्ञ भाव से स्वीकार करते थे।

5.1. शैलेश मटियानी की भाषा विषयक मान्यताएं

शैलेश मटियानी की मान्यताएं भाषा के प्रति उनकी श्रद्धा और सचेतता को दिखाती हैं। भाषा का सवाल उनके चिंतन के केंद्र में रहा और समय समय पर वे इसके विषय में लिखते रहे। साहित्य में भाषा के प्रयोग पर उनकी राय प्रचलित धारणाओं से कई स्तरों पर भिन्न है। शैलेश, एक लेखक के लिए अपने अनुभवों को भाषा में व्यक्त कर पाने को एक चुनौती मानते हैं जिस पर खरा उतरने का प्रयास उसे सदैव करना होता है। लेखन में परिवक्वता और प्रौढ़ता की निशानी, अनुभवों की सूक्ष्म, सहज अभिव्यक्ति है। भाषा को बरतने में असफल रहने को वे एक मनुष्य के रूप में असफल होना मानते हैं। वे लिखते हैं- ‘मुझे लगता है कि अपने जीवन में अनुभव किए हुए को अपनी भाषा में उतार पाने का संघर्ष किसी भी लेखक के लिए उसके जीवन पर्यंत का संघर्ष है। अपने इस संघर्ष में चूक जाना ही, शायद अपने मनुष्य होने में भी चूक जाना है और लेखक होने में भी।’² व्यक्ति के अनुभव भी सदैव समान नहीं रहते बल्कि उनमें समय सापेक्ष परिवर्तन घटित होते रहते हैं। लेखक इस परिवर्तन के साथ भाषा के भी पुनर्नवा होते जाने की बात कहते हैं। वे इसे गतिमान भाषा कहते हैं। तेजी से परिवर्तित हो रहे समाज में रूढ़ भाषा प्रभावी नहीं हो सकती। लेखक इस संदर्भ में कहते हैं- ‘यह नए सिरे से शब्दों के अविष्कार की प्रक्रिया नहीं है, सिर्फ उस भाषा की खोज है, जो प्रत्येक

क्षण ठीक उतनी ही संवेदनशीलता, त्वरा और संरचनात्मकता के साथ उसके भीतर अस्तित्व ग्रहण करते हुए अनुभवों का साथ दे सकती है, जिस तरह बढ़ते हुए पौधों का साथ पानी देता है, हवा देती है।”³ भूमंडलीकरण के पश्चात् भाषा में आए परिवर्तनों को इस संदर्भ में देखा जा सकता है। विभिन्न देशों के बीच व्यापारिक तथा वैचारिक आदान-प्रदान बढ़ने से पिछले कुछ दशकों में भाषाओं ने अधिक समावेशी स्वरूप ग्रहण किया है। शुद्धतावादी आग्रहों को अब बहुत अधिक महत्व नहीं दिया जाता।

एक साहित्यकार, भाषा को सामान्य व्यक्ति से अलग ढंग से प्रयोग में लाता है। सामान्य व्यक्ति का उद्देश्य स्वयं को उचित ढंग से अभिव्यक्त करने का होता है। लेखक इससे आगे बढ़कर भाषा को एक उपकरण के रूप में प्रयोग करता है जो हर प्रकार की मनोस्थिति भाव को प्रकट करने में सक्षम होती है। कोई सघन अनुभूति भाषा के स्थूल रूप में अभिव्यक्त नहीं हो पाती, उसके लिए भाषा के नए प्रयोग और कहन के नए ढंग विकसित करने होते हैं। शैलेश मटियानी ने लेखक की हैसियत से लिखा है- “सामान्य व्यक्ति भाषा के माध्यम का उपयोग सिर्फ अभिव्यक्ति के लिए करने तक ही सीमित रहता है, किंतु लेखक के लेखक होने की शुरुआत ही भाषा के अनुभव के लिए होने की प्रतीति में से होती है। इसी प्रतीति के सहारे वह अपने अनुभव संसार में सामान्य व्यक्तियों की अपेक्षा ज्यादा लंबी यात्राएं करता है और अपने आपको अभिव्यक्त करने के लिए, अपने भीतर से, सामान्य आदमी की अपेक्षा ज्यादा संकुल, संश्लिष्ट और संवेद्य अनुभवों की खेप लाता है।”⁴

शैलेश मटियानी भाषा को ही एक लेखक की कसौटी बताते थे। इसका कारण वे लेखकीय संवेदना से जोड़ते हैं। उनके विचार में भाषा के माध्यम से ही व्यक्ति संवेदना और चैतन्य की गहराइयों में पहुँचता है। मात्र किसी लिपि का जानकार होना अभिव्यक्ति के लिए पर्याप्त नहीं, उसके लिए तो भाषा से आत्मीयता का संबंध जोड़ना होता है। एक संस्मरण में वे लिखते हैं- “लेखक, संभवतः, तभी बढ़ता है, जब उसकी भाषा का कद भी बढ़े। बीज में से अंकुर की तरह का उगना और फिर प्रकृति में से धूप, हवा, जल और रसायन लेते हुए वृक्ष की तरह का अपना कद बढ़ाना- अपने ही भीतर की चरम यातना में से अपने लिए उगना, अपने ही धुप्प अँधेरे में नाद की तरह व्याप्त अपने होने को पहले भाषा के माध्यम से और फिर भाषा के लिए थाहना।”⁵ भाषा शैलेश मटियानी के रचनात्मक सामर्थ्य को बताती है और उसके प्रति उनकी निष्ठा उन्हें सजग-चेतस साहित्यकार सिद्ध करता है।

लेखक भाषा संबंधी विचार निबंधों के अतिरिक्त अपने कथा साहित्य में भी व्यक्त करते रहे हैं। ‘आकाश कितना अनंत है’ उपन्यास में वे लिखते हैं- “भाषा जब तक आदमी का प्रतिनिधित्व नहीं करती, उसका कोई वजूद नहीं। और जब तक उसका इस्तेमाल एक व्यापक समाज को प्रेरित या उद्वेलित नहीं करता- कवियों की जबान और कलम की नोक से उसका निकलना हाथी की पीठ पर चीड़ की तीलियों का गिरना है।”⁶

लेखक भाषा की प्रतिकार की शक्ति पर भी जोर देते हैं। उनके अनुसार साहित्यकार इस भाषिक माध्यम से ही अपना प्रतिरोध दर्ज करता है। वे लिखते हैं- “काव्य क्या है, सिवा वेदना का भाषिक संधान के, आजानुभुज श्रीराम

के रावण के विरुद्ध वाण के संधान से भी कहीं अपरिमित शक्ति से अभिषिक्त है, क्रौंचवध से व्याकुल आदिकवि का व्याघ के विरुद्ध शब्दसंधान!...और इसी से सहस्राब्दियाँ बीत जाने पर भर्र आदिकवि के 'शब्द' की टंकार ज्यों की त्यों विद्यमान है..."⁷

इसमें वे यह भी बताते हैं कि व्यक्ति एक लंबी प्रक्रिया के बाद अपनी भाषा को पाता है। अपने एक निबंध में वे 'लिखने की भाषा' और 'मनुष्य होने की भाषा' के बीच अंतर स्पष्ट करते हैं। लिखने की भाषा तो व्यक्ति अकादमिक शिक्षा की प्रक्रिया में भी सीख लेता है। लेकिन संवेदना की गहराई और एक श्रेष्ठ समाज का स्वप्न मनुष्य की भाषा से ही आकार पाता है। लेखक के अनुसार- "किसी भी लेखक के लिए लिखने की भाषा से भी महत्वपूर्ण मनुष्य होने की भाषा होती है और लेखक होने का संघर्ष दरअसल अपने तत्काल के व्यक्ति से बेहतर मनुष्य हो सकने के लिए किए गए संघर्ष के अतिरिक्त और कुछ नहीं।"⁸

5.2. शैलेश मटियानी के कथा साहित्य की भाषा

शैलेश मटियानी के आरंभिक उपन्यासों की भाषा तीखे आक्रोश से परिपूर्ण है। इन उपन्यासों में वे पूंजीपतियों द्वारा श्रमिक वर्ग के शोषण, महानगरों की समस्याओं तथा स्त्री संबंधी विषयों पर अपनी चिंताएं बेबाक तरीके से रखते हैं। इस आक्रोश का कारण बताते हुए वे लिखते हैं- "मेरे लेखन में जो तथाकथित उग्रता, अभद्रता और अश्लीलता है, वह पूंजीवादी व्यवस्था के अंतर्गत होने वाले शोषण के तरीकों से कहीं बहुत अधिक मर्यादित, शिष्ट और श्लील है। हिंदी के अन्य लेखकों की तुलना में यदि मेरी रचनाओं में अधिक आक्रोश और बौखलाहट है, तो इसका एक-मात्र कारण यह है, कि मैंने आर्थिक और नैतिक व्यवस्थाओं के दुष्परिणामों को देखा-सुना ही नहीं, प्रत्युत सीधे भोग भी है।"⁹ यह भाषा भी अपनी बेबाकी तथा टटकेपन के कारण पाठकों द्वारा पसंद की गई। बाद में तो लेखक ने भाषा और शिल्प में अनेक नए प्रयोग किए और उन्हें समृद्ध बनाया। उनकी भाषा को समझने के लिए उसका सांगोपांग अध्ययन आवश्यक है। अतः उनके द्वारा प्रयुक्त मुहावरे-लोकोक्तियाँ तथा बिम्ब-प्रतीक विधान का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत है-

5.2.1. मुहावरे और लोकोक्तियाँ

शैलेश मटियानी के उपन्यासों की भाषा खिलंदड़ी और मुहावरेदार है। लोककथाओं में विशेष रुचि होने के कारण वे अपने उपन्यासों के अध्यायों का आरंभ ही किसी रोचक वाक्य से करते हैं। उनके अधिकतर उपन्यास आख्यानपरक शैली में हैं तथा उनमें लोकगीतों की भरमार है। अपनी रचना की कथाभूमि को चित्रित करते समय उनका ध्यान उसके प्रत्येक आयाम पर होता है। ऐसे में मुहावरे और लोकोक्तियों का प्रयोग उनकी रचनाओं के औसतन प्रत्येक पृष्ठ पर हुआ है। अधिकतर मुहावरे और लोकोक्तियाँ, लाक्षणिक और व्यंजना प्रधान अभिप्रायों को प्रेषित करने के उद्देश्य से प्रयोग किए गए हैं। कुछ उपन्यासों में प्रयुक्त मुहावरे और लोकोक्तियाँ प्रस्तुत हैं-

हौलदार उपन्यास में प्रयुक्त लोकोक्तियाँ- ‘ऐसे पलटन से बाख आए हो, जैसे वन के बाघ से बकरी बच आती है’ (पृष्ठ सं. 2), गोविंदी, मडुआ गोड़ते हुए, कहने लगी- ‘नानि भौजी, तुम्हारे लिए तो ‘वैद्य मर गया, बीमारी बाख गई है’ वाली कथा हो गई है।’ (पृष्ठ सं. 144) ‘वह अक्सर गोबर सिंह के कानों में तेल डालती रहती थी- ढलान में के सूरज हैं, अब ढले, तब ढले।’ (पृष्ठ सं. 13), ‘दोनों जुवे में जुते बैल थे (पृष्ठ सं. 14), ‘चार गास अन्न हमारे यहाँ खा लेंगे, तो कोई हमारे भकार के धन नहीं घट जायेंगे, तुम्हारे देवर के दांत नहीं हिल जायेंगे’ (41)

‘किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई’ उपन्यास में – ‘कौन किसका सैयां, कौन किसका सनम, (पृष्ठ सं. 28), ‘बड़ी मछली का चारा बनना ठीक नहीं, बाई... और न छोटे मुँह में बड़ा चारा ही रखना ठीक है’ (पृष्ठ सं. 84), ‘पकी हुई फसल को ज्यादा अरसे तक खेतों में रहने देने वाले किसान को क्या अक्लमंद कहा जा सकता है’ (पृष्ठ सं. 100)

‘मुठभेड़’ शासन व्यवस्था के भ्रष्टाचार तथा पुलिस द्वारा निर्दोष लोगों को दी जाने वाली यंत्रणा की कहानी है। इसमें भी मुहावरों और लोकोक्तियों का प्रयोग रोचक ढंग से हुआ है- ‘अरे, भई, ये भ्रष्ट नेता कोई आसमान से इंद्र महाराज ने टपकाए हैं’ (पृष्ठ सं. 44), ‘अफसरी जाए, तो जाए, पर अम्मा के कहे का असर न जाए’ (पृष्ठ सं. 47), ‘कब्ज के मरीज को मुर्गी का और बूढ़े नौशे को कम उम्र बीबी का गोश्त नहीं पचता’ (पृष्ठ सं. 67)

‘बारूद और बच्ची’ कहानी में भिमुली सबको सुनकर कहती है- “अरे, खेतों में जाने से बैल सुधरते हैं और देश-परदेश जाने से बैग(पुरुष)। इसी कहानी में भिमुली एक अन्य स्थान पर कहती है- “चोरों से मोर मरते तो भावर ही रीता रह जाता। अरे, हौलदार बनने वाले बेटों की हड्डी बोटी ही अलग होती है। हमारे प्रीतम सिंह को तो यह मिसाल है, कि बानर को सूरत देखने का शौक लगा, दूसरों का तो आईना तोड़ा और अपने शरीर में कांच चुभाए...” ‘बेटा पैदा हो गया है, तो एक दिन मरना ही है। और फिर क्षत्री की मूठ भर वज्रदंती हड्डियों के लिए तो रणभूमि ही गया-काशी होती है।’ (पृष्ठ-259) ‘उसका मन व्यथा से पुरानी रूई- सा धुनने लगा” (पृष्ठ 259)

इस प्रकार से अन्य उपन्यासों तथा कहानी संग्रहों में भी लोकोक्तियाँ और मुहावरों का प्रयोग देखा जा सकता है। जैसे- कुनवा चौमास की लौकी की तरह फैल गया, कलेजे के कान कोमल होते हैं, तिरिया भली न काठ की तस्कर भला न डोर का आश्रय भला न ससुर का संग भला न चोर का, न आगे नाथ न पीछे सिद्ध, पाथर टूट के दो होना, मति पर पाथर पड़ना, लीक छोड़ के चलने वाला बैल अपना ही कन्धा तुड़वाता है, बिल्ली के बच्चे के तो जन्म से ही नाखून मिलते हैं, बन की लकड़ी काटने के रामुत में बन की लकड़ी का ही बीन डालना पड़ता है, चलते जोगी का रुकना कैसा सोते राजा का जागना कैसा आदि।

5.2.2. बिम्ब तथा प्रतीक योजना

(क) बिम्ब योजना

शैलेश मटियानी अपने गद्य में किसी कवि की तरह अनूठे बिम्बों का सृजन करते हैं। उनकी दृष्टि अपने परिवेश के उन स्थान, वस्तुओं पर जाती है जिन पर प्रायः ध्यान नहीं दिया जाता। अपनी मौलिक दृष्टि और आख्यानपरक भाषा के सहारे वे यह संभव बनाते हैं। लेखक गिरिराज किशोर ने शैलेश के गद्य के बिम्ब विधान के संबंध में लिखा है- “मटियानी के बारे में लिखते समय भी यह मत व्यक्त किया गया था कि मटियानी और अमरकांत जिंदगी के अभावों के कथाकार हैं। अभाव और भूख इनके भौतिक धरातल पर नहीं घटते, बल्कि उनकी आत्मा में उतर गए हैं। अमरकांत

अपनी भाषा के सूधेपन के कारण इस वास्तविकता को अधिक प्रमाणित करते हैं। मटियानी अपनी भाषा के कारण उसे थोड़ा कलात्मक बना देते हैं। कभी-कभी उनमें प्रतीकों और बिम्बों की समकालीन छाया दिखलाई पड़ जाती है।”¹⁰

अपने पत्रों की मनोस्थिति, बिम्बों के सहारे वे कैसे चित्रित करते हैं, इसको हौलदार उपन्यास के इस अंश से समझा जा सकता है- “डूंगरसिंह मन ही मन फटी गुदड़ी जैसी सी रहा था, पर फटे कपड़े में सिलाई कम ही टिकती है। अगर सुई मोटी हो, और धागा पतला। डूंगरसिंह की मन-स्थिति उस दर्जी की सी हो रही थी, जिसे कपड़ों की सिलाई तो आती हो, पर कटाई नहीं। अन्तर्द्वन्द्व और दुविधा की दो सूती डोरी में उलझे उसके मन मस्तिष्क के ढलुवे धरातल पर निश्चय के पाँव टिक ही नहीं पा रहे थे, और यों सचमुच ही डूंगरसिंह को क्या करूँ हो रही थी।”¹¹ इसी उपन्यास के आरंभ में ही डूंगरसिंह, नरुली को छेड़ते हुए कहता है- “जोबन को उस दही सा क्यों जमाती जा रही है, जिसका बिलोने वाला कोई नहीं? मुझे अपना टेकुवा क्यों नहीं बना लेती?”¹² पलटकर नरुली भी इसी भाषा में जबाब देती है- “बिना भैंस के खिरक के भैंस सी विधवा बहन घर में पड़ी तो है, पहले उसके टेकुवा बन लो, फिर मेरे बनना!”¹³ एक अन्य स्थान पर मटियानी जी लिखते हैं- ‘डूंगरसिंह ने एक बार अपनी भृकुटियों को रामलीला के वंस-धनुष सा खींचा।’¹⁴ डूंगरसिंह हौलदारी के सपने को लेकर परेशानी में रहता है। डूंगरसिंह की दुविधा को लेखक ने इन शब्दों में अभिव्यक्ति दी है- “जैसे चूने वाले वर्तन में दूर के नौले से पानी भर के लाने में परेशानी होती है, ठीक ऐसे ही जब-जब डूंगरसिंह को अपनी हौलदारी के सपने संकल्पों के टूटने की याद आती है, तो कलेजा कस मसा ही जाता है। उसे लगता है, हौलदारी का फूटा हुआ वर्तन डुबाने पर होने वाली डुब-डुब-डुब जैसी कोई बात होती है, तो ऐसा महसूस होता है, कि सिर-धरा हौलदारी का फूटा स्वप्न-संकल्प-पात्र पानी ठंडा बरफ जैसा चू-चू के कहाँ तक पहुँचा। कलेजे तक...”¹⁵ “डूंगरसिंह की चलायमान आँखों की मति ऐसी पलटी, कि कहाँ तो एक ठौर ठिकाने का लाख कोशिशें करने पर भी पूर्वी सुपारी के गोल दाने जैसी लुढ़कती- फिसलती भी, कहाँ दोपहर से शाम होने आई, जैता के काफल दानों जैसे कुचाग्रों के मोतिया बिन्दु आँखों में पड़ गए हैं, कि ओस जैसे दुलकते तो हैं, पर झरते नहीं।” (पृष्ठ 44-45)

उनका उपन्यास ‘मुख सरोवर के हंस’ भी अनूठे बिंब विधान से समृद्ध है। कुछ उदहारण हैं- “गाय का कसाई कोई और, फूलों का वानर कोई और होगा, कि मेरे स्वामी बफौल शरीर बल से हिमाल, किन्तु स्वभाव से पराल हैं, कि एक पर्वत की बाईस चोटियाँ, एक वृक्ष की बाईस डालियाँ हैं। शेर की गरज मारेंगे पर चीटी को गुड़, चड़ी को चुग्गा डालेंगे”(पृष्ठ 23) ‘सारा राज कार्य वयोवृद्ध मंत्री विज्ञानचंद्र जोशी संभाल रहे थे। कई बार उनका मन हुआ, राजा को इस सम्मोहन व्यूह से निकालने का प्रयास तो करें’(पृष्ठ 28) ‘परिचारिका, कनखियों से देखती, अंगुलियों पर इकहरी होती चली गई’(पृष्ठ 29) ‘राजा कालीचंद का प्यार थका हिरन छौना और रानी रूपाली का प्रचंड प्रभात बन गया है।’ (पृष्ठ 42)

यदि शैलेश मटियानी के बिम्ब विधान का विश्लेषण किया जाए तो वह लोक से प्रेरित दिखाई देगा। अधिकतर बिम्ब प्रकृति तथा कृषक जीवन से लिए हुए लगते हैं। उनके साहित्य में अनुस्यूत पारिवारिकता का प्रभाव भी इस पर है। दिवा भट्ट ने अपने लेख ‘उद्गम की खोज और सृजन के सूत्र’ में लिखा है- “बारीक रेखाओं से युक्त चित्रों की सजीवता और काव्यमय भाषा की कोमल-मधुर ध्वनियों के साथ लाक्षणिक तथा व्यंजना मिश्रित अभिव्यक्तियाँ छोटी-छोटी घटनाओं-संवेदनाओं को भी विशेष बनाकर चित्त पर अंकित कर देती हैं। कहानी-उपन्यासों में काव्य-माधुर्य की यह खुशबू उन्हें पहाड़ों की मिट्टी से मिली है; यहां के लोक मानस, लोक साहित्य तथा लोक भाषा से; जिनके बिंब शैशव काल से उनके मन पर अंकित होते रहे। अपनी धरती के इस प्रदान को वह कृतज्ञ भाव से स्वीकार करते थे।”¹⁶

‘चिट्ठी रसैन’ उपन्यास के बिम्बों की लेखक के आंचलिक साहित्य के संदर्भ में चर्चा होती है। इनमें उत्तराखंड का सहज जनजीवन प्रदर्शित हुआ है। इसे कुछ उदाहरणों के माध्यम से समझा जा सकता है- “साबुली रोने लगी” अरी पहाड़न, तेरी हिया कैसा, कि रुद्रपुर जैसी जगह से छाती में बर्फ की परतें जमा लाई और पहाड़ की ठण्डी हवा में उसे पिघला रही है।” (पृष्ठ सं. 33) “कढ़ाई में भुन रहे धानों सी खिलाती साबुली चली गई।” (पृष्ठ सं. 42) “पनार का पानी घुटनों से उतर गया होगा। मगर मेरा मन हमेशा तेरी याद में गहरे ताल की मछली सा डूबा रहता है। जब घर से निकला था तेरी याद को मेरे मन में चिड़िया के अण्डे के बरोबर समझ ले। मन मेरा पापी घोंसला बन गया। याद तेरी भली अंडे से चिड़िया बन गई।” (पृष्ठ सं. 51) “समय पर लगे पंछी सा उड़ता रहा।” (पृष्ठ सं. 55) “रमौती को लगता है, सन्यासी चला गया है, अपनी याद का चिमटा उसे थमा गया है और जरा सा मन हिला नहीं, कि चिमटा छणाक-छणाक बजने लगता है। पर वह चिमटा किस काम का ? इससे कीड़े निकलने के बजाय और कुलबुलाते हैं।” (पृष्ठ सं. 70) “रमौती को लगा, सन्यासी का चिमटा फिर राख उखेल, उखेल कर अंगारे निकालने लगा है। ओबा, इस बन में ये बुरुश किसने बोये होंगे।” (पृष्ठ सं. 73) “पर जैसे बिन खम्भे की लता जमीन पर ज्यादा फैलती है और उसके ओर छोर अपेक्षित बाड़-घेर न हो, तो आते जाते जानवर मुँह मार जाते हैं। ठीक ऐसी ही स्थिति रमौती की होने लगी थी।” (पृष्ठ सं. 74) “मैं ठहरी मिट्टी की हांडी, एक बार जूठी हुई नहीं, कि-कहीं कुछ ऊँच नीच हुआ नहीं कि किसी को मुँह दिखाने लायक नहीं रहूँगी।” (पृष्ठ सं. 83) “बुरुश इस साल, शायद रमौती का बहुत ज्यादा फूला था। क्यों न फूलता ? एक फगुनिया- उमर, और कुसुमियाँ- पिंड (फूल या शरीर) रमौती का, उस पर चैत के महीने के चहकने वाले कफू पंछी की कफू कफू-कफू की जैसी एक रट मोहन सींग की याद के सन्यासी के चिमटे की जैसा छणाक-छणाक ‘रमौ-रमौ-रमौ और तीसरा शनि वैशाखी पवन सा पापी मिट्टी के तन को झकझोर गया पीताम्बर चिट्ठी रसैन “रमौती भौजी केले के पातल में परोसी खीर का आनन्द खाने वाला ही जानता है।” (पृष्ठ सं. 117)

‘चौथी मुट्ठी’ उपन्यास में छोटे-छोटे वाक्यों में सुन्दर बिम्ब चित्रित किए गए हैं- ‘अनाज की भरी कुथली जैसी आँखें खाली नहीं हो पाती थीं।’ (पृष्ठ- 49) ‘सासू, भरे हुए कलश जैसे लेकर कहाँ वापस जा रही हो ? आओ, एक घुटुक चहा तो पी जा ओगी।’ (पृष्ठ- 49) ‘पगडंडी छोड़ के चौड़ी सड़क पकड़ने का इरादा तो नहीं है ?’ (पृष्ठ- 81)

उपन्यासों की तरह ही उनकी कहानियों में भी बिम्बों की प्रचुरता है। ‘दो दुखों का एक सुख’ कहानी में इसकी बानगी देखी जा सकती है- ‘नीत्शी। - चट्टानों पर हवा साँय-साँय करती, हौले-हौले बर्फ के विछौने पर गीत गाती नीत्शी की तरह करवटें बदलने लगेगी।’ (पृष्ठ- 394, संपूर्ण कहानियाँ-1) ‘और गाड़ी की सड़क के तले किनारे बैठे करमियाँ को लग रहा था- मिरदुला कानी अपने गले की मिठास और बचनों की तिखास से उसकी सारी देह की मंजीर की तरह झन-झना दे रही है- अंखियन देखा जोवना, दिल में लागी आग ।’ (पृष्ठ- 394, संपूर्ण कहानियाँ-1) ‘उसे लगा करमिया के गाने की आवाज सचमुच एक जलते कोयले की तरह उसके कानों में प्रविष्ट हो गई है।’ ‘सुना है, चाँदनी रात में सारे संसार में उजियाली छा जाती है- सरसों की पियराई मूठ जैसी सुनहरी उजियाली।’ (पृष्ठ- 395, संपूर्ण कहानियाँ-1) ‘छोटे बच्चों की मुस्कराहट ऐसी होती है जैसे गलाई हुई चाँदी का कटोरा छल-छला जाये’ (पृष्ठ- 394, संपूर्ण कहानियाँ-1)

लेखक की कहानी ‘माता’ के बिम्ब भी ध्यान देने योग्य हैं- ‘चौदह वर्षों की कन्या थी, तब घर गृहस्थी में पाँव पड़े थे, उन्नीसवाँ लग गया था, लोगों के देखने को देह तरुणा गई थी, मगर मन के शूल सन्तापों ने अलकनन्दा लहर जैसी उछलती आत्मा को ऐसा बैरागी बना दिया कि जिस घर गृहस्थी में कपास की तरह फूलने, बेरी की तरह फलने का सपना देखा था उसी को आखीर त्यागना पड़ा’ (पृष्ठ सं. 294, संपूर्ण कहानियाँ-1) ‘काले भँवरीले केश कमर

से नीचे चवर गाय के पूँछ जैसे झूलते रहते थे, उनसे सिर रीता करना पड़ा।’ (पृष्ठ सं. 295, संपूर्ण कहानियां-1) ‘गले में रुद्राक्ष कण्ठी की तरफ पड़ी हुई बाबा जी की सूखी बाँह मन को विह्वल कर गई।’ (पृष्ठ सं. 306, संपूर्ण कहानियां-1)

‘कठफोड़वा’ कहानी लेखक धरणीधर के विषय में लिखते हैं- ‘देह मुक्ति की कल्पना करते ही धरणीधर जी की आँखों के आगे काठ का लम्बा ताबूत उभर आया और उसके अन्दर पड़ा हुआ अपना शव उन्हें कठौती में भरे पड़े मेंढक जैसा वीभत्स दिखाई दिया।’ (पृष्ठ सं. 458, संपूर्ण कहानियां-1) ‘कभी-कभी धरणीधर जी को अपना शिखाहीन मस्तक ठीक उस चबूतरे की तरह लगने लगता है जिस पर उगा हुआ आम का वृक्ष काट दिया गया हो।’ (पृष्ठ सं. 458, संपूर्ण कहानियां-1) भविष्य कहानी राधे काछी की कहानी है जो जेल से निकलकर अपना जीवन नए सिरे से शुरू करता है और भविष्य के सपने बुनता है। लेखक कहानी में राधे के विषय में लिखते हैं- ‘हम कमीनों के संसार में एक छोटी सी नियामत भी कितनी बड़ी चीज बन जाती है।’ जैसे किसी वाक्य को उसने अपने भीतर केंचुवे की तरह रेंगते हुए पाया और वह एक सांस में दरवाजे के भीतर हो गया।’ (पृष्ठ सं. 311, संपूर्ण कहानियां-3) ‘अपने आपको किसी यक्ष की तरह उठता हुआ सा पाया और उसे लगा, एक अँधेरा अरण्य है, जो उसे किसी जंगली पशु की तरह अपने में समेट रहा है।’ (पृष्ठ सं. 315, संपूर्ण कहानियां-3)

‘दो दुखों का एक सुख’ कहानी संग्रह में संकलित कहानी ‘चुनाव’ के बिम्ब- ‘तब से जड़ से उखाड़ कर हाथ में थामी हुई कमलिनी लता जैसी उदास और भयाक्रान्त कमला की आकृति को देखते-देखते उसकी आँखें दुखने लग गई थी।’ ‘और उसकी आँखों से आँसू अनायास बहे चले जा रहे हैं, जैसे रस्सी पर लटकाए हुए कम्बल से पानी झरता है।’ ‘दूसरी ओर जाति भ्रष्ट कृष्णानन्द तथा सन्दर्भहीन घटना जैसी कमला शिल्पकारनी के बीच सम्बन्ध निर्वाह के प्रारम्भ की भूमिका’ ‘-उसकी स्थिति सिर्फ गिरजाघर की रह गई है।’ ‘पुराने घर की तरह छूटे हुए कल का अतीत, अध-कटी अंगुली की तरह झूलता हुआ वर्तमान और धने कोहरे के नीचे ढकी पहाड़ी घाटी जैसा भविष्य और कब्र के सिरहाने से उखाड़ कर पीठ पर लादे हुए सलीब जैसी कमला शिल्पकारनी।’ ‘मगर आँसुओं के कारण उसकी दृष्टि आँखों की पुतलियों में ही ऐसे थरथरा जाती थी जैसे पानी में डूबा हुआ तिलचट्टा छटपटाता है।’ ‘कन्धे हौले से उचकाती है, तो स्लीवलेस ब्लाउज का सामने का हिस्सा कमल के फूलों को ओढ़ाए गए रेशमी रुमाल की तरह काँपने लगता है। सुख और कृतज्ञता से कृष्णानन्द की आँखें ऊँचे पेड़ पर बैठ कर अपने पंख खुजलाते हुए पक्षी की चोंच की तरह नीचे को झुक जाती हैं।’

‘काला कौवा’ लेखक की प्रसिद्ध कहानी है, जो उनकी संपूर्ण कहानियों के पहले खंड में संकलित है। इसमें प्रयुक्त बिम्ब अपनी आकर्षक हैं- ‘आज कुन्ती के आँखों में पूस की तुषार पर पाँव टिकाते हुए मिहल चौर की बावड़ी की ओर जाते गोपिया का उदास सूरत धान से बाहर फूटे चावल के दाने जैसी अलग उभर रही है।’ (पृष्ठ सं. 473, संपूर्ण कहानियां-3) ‘और उसकी आँखें ऐसी चू पड़ी, जैसे घुइयाँ के पौधे की नली काट देने पर, उसके अन्दर भरा हुआ पानी निथरने लगता है, बूंद-बूंद।’ ‘जोगियों के छल्लेदार चिमटे जैसे बचनों के कलेजे से चारों ओर कोने दबा देता है।’ (पृष्ठ सं. 473, संपूर्ण कहानियां-3) ‘आकाश बेल की तरह आर्थिक अनिश्चितता में टँगा हुआ कुनबा आँखों के आगे खड़ा हो जाता है।’ (पृष्ठ सं. 475, संपूर्ण कहानियां-3)

‘बर्फ की चट्टानें’ कहानी में बिम्ब- ‘कोहरा छत जाने के बाद ओस चुआती नीबू की फली डाल जैसी ठुकुरानी।’ ‘यों रुद्र कलश जैसी क्यों फूट रही है भला?’ ‘मुझे लगता है कि दो पातियों के बीच में नदी की तरह अटक गई हूँ।’

(ख) प्रतीक

चिट्ठी रसैन उपन्यास में भी सुन्दर प्रतीक विधान रचते हुए लेखक लिखते हैं – “पीताम्बर पोस्ट मैन के प्यार की सुनहली मछली रमौती के उदर पनार में समा गई हैं।”¹⁷ “फूल तुम्हारा बुरुश का, मोहनसींग महर।”¹⁸ “चिट्ठी रसैन सैप, लौकी के लगिल (बेल) का तो ठाँगर (आधार खम्भ) उजाड़ के फेंक ही दिया तुमने।”¹⁹ लेखक रमौती के विषय में लिखते हैं- “पर रमौती का मन-बुरुश था, उसकी फगुनियाँ-सरसों सी उमर थी, एक चैतिया याद मोहनसींग की थी, तीसरी बैशाखी पवन सी पीताम्बर चिट्ठी रसैन फर फरा गया, जिससे कच्ची फसल भी पकने लगी थी।”²⁰ “अरे घर के ठेकी वर्तनों के दूध दही को घर की बिल्लियाँ मुख मारती हैं, नाम बदनाम बन ढडुवों का करना पड़ता है। मैं कोई ऐसी विशरम-निर्लज तो थी नहीं, कि अराए-पराए गों के किसी बैग (पुरुष) से पिण्ड अपवित्र कर वाती।”²¹ “आदमी को पहले अपने घर का पलस्तर ठीक करना चाहिए और फिर औरों के घर की दरारों पर नजर डालनी चाहिए।”²²

हौलदार उपन्यास में अनेक स्थानों पर प्रतीकों का प्रयोग कर अपनी बात को अधिक प्रभावी बना दिया है। उदाहरणार्थ- ‘हाथ पैरों में तो चूहे बिल्ली ढूँढने लगे हैं’²³ ‘यों दुकानदार चनरसिंह और थोकदार जमनसिंह के कुटुंब धौलछीना गाँव की ज्योटी (नाभि) में कस्तूरी मृग की नाभि की कस्तूरी जैसे बसे हुए थे’²⁴ ‘भौजी वे, दूद के दो नाले तो तेरे पास ही है, तू ठंडा पानी क्यों पीती है?’²⁵

‘चौथी मुट्ठी’ उपन्यास में भी प्रतीकों से परिपूर्ण भाषा देखी जा सकती है- “सतर बरस की उमर में बाल विधवा बन गई। आकाश उड़ते चील कौवों से अपनी माँस की बोटी बचानी कितनी मुश्किल होती है।”²⁶ ‘ऊपर से मिरदुला की एकदम बारीक और खरल में घुंटी हुई जैसी आवाज आई- और जोर-जोर से पीट अपने पपीतों को।’²⁷

‘किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई’ बम्बई के वेश्या जीवन पर लिखा उपन्यास है। नर्मदा के विषय में लेखक ने लिखा है- ‘उसके रूप यौवन की नर्मदा को सहज स्वाभाविक विकास नहीं मिला था। वह ऐसे मैदान की ओर मोड़ दी गई थी, जहाँ उसके चरों ओर रेत ही रेत बिछी थी। अपने बहाव से रेतों के टीले बनाते बनाते जब वह थक जाती तब वह लीक छोड़कर बहने लगती। पर परती धरती पर बहे जाने से मिला क्या?’²⁸

शैलेश मटियानी की भाषा में प्रतीकों के प्रयोग को समझने के लिए कुछ कहानियों की भाषा को देखना उपयुक्त होगा। अपनी कहानी ‘कठफोड़वा’ में वे लिखते हैं- “कोई भी पुरुष अपने ही आरोपित आचरण से अपने ही मूल संस्कार के आम्र वृक्ष को नहीं ढंक पाता है। अपने अन्दर ही दबाया हुआ, दफन किया हुआ वह हर संस्कार घूरे पर पड़ी आम की गुठली की तरह फूट-फूट आता है और वृक्ष और हर एक वृक्ष पर कठफोड़वा की कुट-कुट सुनाई देने लगती है और अपने ही अन्दर एक बियावान जंगल की अनुभूति होने लगती है।” इस कहानी में ‘कठफोड़वा’ रुढ़िवादी मानसिकता तथा दकियानूसी विचारों का प्रतीक है। उसके द्वारा की जाने वाली आवाज पण्डित धरणीधर को पुराने

संस्कारों की याद दिलाती रहती है। इसी तरह ‘मौत का सामान’, ‘चीथड़े छोटी मछली: बड़ी मछली’, ‘एक शब्दहीन नदी’ तथा ‘सूखा सागर’ जैसी कहानियां प्रतीकात्मक हैं।

‘एक शब्दहीन नदी’, कहानी में लेखक लिखते हैं- “जब से यह आश्वासन मिला है, शंकर सिंह को समय अपनी आँखों में तुलसी के बिरवे पर फैल आए कद्दू की बेल के जाल जैसा भारी लगने लगा है और उसे एकदम जल्दी-जल्दी हटाने के प्रयत्नों में उसकी आत्मा एकदम थक-थक कर तेज धूप में खूँटे से बंधे उछल-कूद मचाने वाले लैरुआ बछड़े की तरह हांफ-हांफ उठती है।”²⁹ कहानी का शीर्षक ‘शब्द हीन नदी’ पति से अलग हुई पत्नी का प्रतीक है।

‘डरेवाले’ कहानी में सत्तार मियां कहते हैं- हाँ, नीच कौम तो बड़ी ठहरान वाली धरती जैसा हुआ करती है। ऊँची कौम और नीची कौम- आप हिंदू लोगों ने तो इन दोनों में छत की ऊंचाई और गड्ढे की गहराई जितना फर्क रखा हुआ है।”³⁰ ‘छोटी मछली: बड़ी मछली’ कहानी भी महाराज सत्यकेतु के राज्य में फैले भ्रष्टाचार और शोषण पर केन्द्रित है। यहाँ ‘छोटी मछली’ गरीब शोषित जनता और ‘बड़ी मछली’ सत्ता में बैठे लोगों की प्रतीक है। कौशल नरेश शंखधर, सत्यकेतु से कहते हैं- ‘शोषण के दावानल में आत्मा की आम्रमंजरी नहीं झूम सकती।’ (पृष्ठ 126, संपूर्ण कहानियां-1) ‘मिसेज ग्रीन वुड’ कहानी में काफल के गाछ को कठफोड़वा द्वारा कुट कुटाने की आवाज, मिसेज ग्रीनवुड को ग्रीनवुड की याद दिलाती है। इस कहानी को लेखक ने प्रतीकों के आधार पर ही बना है।

5.2.3. उपमाएं

शैलेश मटियानी भाषा के प्रति अत्यंत सजग और भाषा तत्वों का समुचित प्रयोग करने वाले रचनाकार हैं। अभिव्यक्ति के भावावेग में भी वे प्रतीकों, बिम्बों का उचित स्थान प्रयोग और भाषा को रोचक बनाये रखने का पूरा प्रयास करते हैं। उनके कथा साहित्य में उपमाओं की भरमार है। क्षितिज शर्मा ने इस संबंध में लिखा है- “मटियानी जी की भाषा के सौंदर्य में उपमाओं का प्रयोग बेजोड़ है, जो रचना के अर्थ में दोहे जैसी गहराई भर देता है। उनकी उपमाओं-समानांतर प्रतीकों के कुछ उदाहरणों की पंक्ति दर पंक्ति देखें तो, कहानी अपने पाठ से बाहर, जहाँ से भी जीवन और जगत को झाँकने का मौका मिलेगा, लपक लेने को तत्पर दिखाई देगी।”³¹

मुख सरोवर के हंस- हिम शिखर सी महाश्वेता, बुरुश फूल सा मुख, पाप की जड़ दूब की जड़ सी न फूटे, बूढ़ा गिद्ध जैसी लम्टुरिया गरदन, तताये तांबे जैसी तरुणाई, हरित विल्वपत्र सी नवोन्मेषी

दूसरों के लिए- विपरीत दिशाओं की ओर मुँह किए बैठे कपोतों की जोड़ी जैसे कंधे, गदराई हुई पीठ के ऊपर सांपिन सी लोटती लटी, आनन्दी के नारीतत्व ने उसे ठीक ऐसे लपेट रखा है जैसे छाछ विलौने वाला रस्सी रई के काठ को लपेटे रहती है, जैसे दही के डकौले के अन्दर बिना रस्सी की रई कभी सीधी नहीं टिक सकती, शंख के अन्दर फंसे हुए

केकड़े जैसी उसकी आत्मा निरन्तर बैचेन होती चली गई, ऐसे ही उसके बिना वह भी अपनी जिन्दगी में कभी नहीं टिक सकेगा, भुनते धानों की चटकती खीलों की तरह वह एक दम तेजी से खिलखिला उठती थी, जब कुन्तुली हिसालू के पत्तों पर रेंगने वाले रेशम के कीड़े की तरह अपने छोटे से घर के आँगन में सरका करती थी, प्राण भी ऐसे उड़ मरा जैसे ठीक सबेरे को बेला घोंसले में से पंछी उड़ जाता है, खिमानन्द का तो हाल यह था जैसे भारी थनों वाली गाय के पीछे उसके गले की बिना खूंट की रस्सी घिसती चली जाती है।

दो दुखों का एक सुख- वह घर गृहस्थी का घेरा नहीं मिला जहाँ काया का सुख अंकुरों जैसा फूट कर गाछों जैसा पनपता रहता है, मन के शूल सन्तापों ने अलकनन्दा की लहर जैसी उछलती आत्मा को ऐसी वैरागी बना दिया कि जिस पर गृहस्थी में कपास की तरह फूलते बेरों की तरह फलने का सपना देखा था, जिस छाती में घर गृहस्थी के सपनों का सुख केले के चौड़े पत्तों जैसा फूट रहा था, कपाल की सुलच्छिनी रेखाओं जैसे खेतों में बैठी हुई धरती बड़ी प्यारी लगती है, भगवती माता ने अपनी माँज कर धूप में रखी हुई पीतल की कलशों जैसी मुंडी पर से पसीना पोंछते हुए दुबारा नीचे सुयालघाटी की ओर देखा, छत और दीवारों के पत्थरों के जोड़ जोड़ से बरसाती वनस्पतियाँ ऐसी फूटी हुई थी, भगवती चोट खाई गर्भिणी सापिन सी आगे को सरक जाती थी, उसने अपने हाथ पाँवों को एक तेज झटके के साथ ऐसा हिलाया जैसे गर्दन कटा हुआ बकरा बड़ी देर तक जमीन पर छटपटाता रहता है, पापी संसार की माया ममता तेरी आत्मा के चारों कोनों से आकाश बेल जैसी लिपटी हुई है, भौंसले न गर्दन के पिछले हिस्से को इतनी जोर से दबाया जैसे किसी उखड़े हुए तख्ते पर कील को ठोक रहा हो, कटोरे जैसे कलेजे को पाथरों पर पटकती रहती, खीमसिंह घोड़ा मार्का बीड़ी की पूँक खींचते हुए होठों के किसी बहुत पुरानी खिड़की की कपाटों की तरह आपस में मिलाते हुए नक छेदों से बाहर को धुओं फैकता जा रहा था,

सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ- उसके अन्दर पड़ा हुआ अपना शव उन्हें कठौती में मरे पड़े मैंढक जैसा वीभत्स दिखाई दिया, गेहूँ की फसल नाक की सोन-नथुली जैसी पियरा उठी, कुन्ती गोपिया के सिर के बालों को ऐसे सुरसुराती जैसे धान मिले चावल बीन रही हों, उसकी आँखें ऐसी चू पड़ी जैसे घुइयाँ के पौधे की नली काट देने पर, उसके अन्दर भरा हुआ पानी निथरने लगता है बूंद-बूंद, नींद की खुमारी में चिकने पत्थर पर सरकते हुए चिप चिपे घोंघे जैसे संतों मास्टरनी के होठों को अपनी पीठ पर महसूस करते ही, आँसू ऐसे पुतलियों में ही थहरा गए जैसे एकदम गरम तवे पर पानी की बूंदे भर भर कर पिरा जाती हैं, जब-जब हंसा याद आती है, आँखों की काली पुतलियाँ शिलाजीत की चट्टानों की तरह पसीजती चली जाती हैं, कन्ती के नाक की सोनफल्ली भी प्यूली जैसी फूल उठी, उतार में चमड़े की जूती ऐसे फिसल जाती है जैसे जवान औरत की पीठ पर रेशम का फुन्ना फिसल-फिसल जाता है, सोने की नथ में चन्दक जैसी तू लाखों में एक है बहू, लछिमा की तिमिल के पत्तों के दोने में भरे हुए पानी जैसी छल छलाती आँखें भी उसके सन्तुलन को बिगाड़ रही है, घाटी में बसे हुए गाँव की पेड़ पर लटकी हुई नागिन जैसी संकरी सड़क पर उतरते हुए, उसकी यह चुप्पी रतनसिंह की आत्मा को धीरे-धीरे सुलग कर अंगुलियों को पकड़ कर जला देने वाली सिगरेट की तरह जलाती रहती हैं, उसकी आँखों में जो आत्मबल केवड़े के किशतीनुमा पत्तों में अटकी ओस की बूंदों की तरह थरथरा रहा है और बेर-बेर पुतलियाँ रहट के खोखों की तरह बाहर को घूमने के बावजूद अन्दर की ओर छलछला जाती हैं और आँसू बूंद-बूंद अन्तर्गुहा में जलते दीपकों की लौ पर गिरते, हैं।

पापमुक्ति तथा अन्य कहानियाँ- ताँबे की नई कलशी जैसी चमचमाती उमर, शिवलिंग जैसा अकेला छूटा हुआ है, मरद जात की चरड़ी भैंस कहाँ थनों पर हाथ लगाने देती है, औरत और नदी की गति और स्वभाव एक जैसा होता है, आकाश बेल की तरह आर्थिक अनिश्चितता में टँगा हुआ कुनवा आँखों के आगे बड़ा हो जाता है, कमर के बाँये सिरे पर बँधी हुई कटहल जैसी बनावर की घाघरे की गुनी, नन्दादेवी के मन्दिर के आस-पास चक्कर काटने वाले साँड़ के ऊंचे जूड़े की तरह अलग ही हिलती रहती थी, आंचल ऐसा भरपूर हो गया था, सिरहाने बैठी महतारी ने अपनी धँसी हुई आँखों पर झूलती पलकों को ऐसे उधाड़ा जैसे बारीक चारा चुगने में गौरया अपनी चोंच उधाड़ती है, खीमसींग होटल वाले के लफजों में छाछ विलोती सी चलती थी गोपुली, पाँव में खणमण खणमण करते कंकर भरे चाँदी के झाँवर। उतार में चलते समय जलतरंग सी बजाती चलती थी गोपुली, बोलने लगी बुढ़िया तो उसके चेहरे की सारी झुर्रियाँ उसके होठों पर सिमट आई,

5.3. शैलेश मटियानी के कथा साहित्य की भाषा का सांस्कृतिक अध्ययन

साहित्य के दर्पण में समाज की विविधता, आंतरिक संरचना, उसमें निर्धारित पदानुक्रम जैसे सभी लक्षण दृष्टिगत होते हैं। महानगरों के गुण-दोष वहाँ प्रचलित भाषा से प्रकट हो जाते हैं। समाज के विभेद भाषा में भी तोड़-फोड़ करते हैं और प्रत्येक वर्ग की भाषा की उसकी अपनी विशेषताएं परिलक्षित होती हैं। मुंबई में देश भर के लोग रहते हैं। विभिन्न मुहल्लों में वहाँ के निवासियों के मूल स्थान की भाषा का प्रभाव है। विशेषता यह है कि यह भाषा लोगों की सामाजिक अवस्थिति एवं उनके आर्थिक वर्ग की जानकारी देती है। यदि मटियानी जी के इसका कथ्य पर ध्यान न भी दिया जाये तो उनकी भाषा के अध्ययन से ही तत्कालीन मुंबई के विपन्न समाज की समस्याओं से परिचित हुआ जा सकता है। शैलेश मटियानी का लेखक एक खुले दिमाग ही नहीं, खुले आँख-कान वाला लेखक है जो सिर्फ चिंतन ही नहीं करता बल्कि सब कुछ देखता और सुनता है। वह जो उजागर है उसको भी और जो कुछ छुपे तौर पर हो रहा है उसको भी।

लेखक ने महानगरों में लंबे समय तक भीषण संघर्ष किया। अभिजात्य वर्ग से लेकर फुटपाथों पर जीवन बिताने वाले लोगों से तक उनका संबंध रहा। लोक की गहरी जानकारी तथा महानगरों की भाषा, दोनों से उन्होंने अपना मुहावरा विकसित हुआ। शेखर जोशी ने उनकी भाषा के संबंध में लिखा है- “जीवन की विपरीत परिस्थितियों के कारण जिनको अपनी माटी से बिछुड़ना पड़ता है, जिनके लिए अपनी दुद् बोली के शब्द अश्रुत हो जाते हैं, उन्हें उस बोली-बानी के लिए कैसी ललक रहती है यह वही समझ सकता है जिसने ऐसी स्थितियों का अनुभव किया हो। शैलेश मटियानी की रचनाओं का परिवेश ही नहीं उनकी भाषा में स्थानीय शब्दों, मुहावरों की छौंक प्रवासी मन के लिए एक विशेष अर्थ रखती है। मैं इन रचनाओं का ऐसा ही उत्सुक पाठक था, जिसे बचपन में अपनी जन्मभूमि कूर्माचल से विस्थापित होना पड़ा था।”³²

5.3.1. शैलेश मटियानी की शब्दावली

शैलेश मटियानी की शब्दावली बहुत व्यापक और विविधतापूर्ण है। अपनी रचनाओं में वे अभिजात्य वर्ग से लेकर फुटपार्थों तक की भाषा प्रयोग करते हैं। इन दोनों वर्गों के बीच के विभिन्न सामाजिक स्तरों पर प्रयोग की जाने वाली भाषा में विभेद भी उनकी रचनाओं में स्पष्ट होता है। उनकी रचनाओं की भाषा का अध्ययन कर हम यह जान सकते हैं कि सामाजिक व्यवहार के संचालन में भाषा की कितनी बड़ी भूमिका होती है। एक ओर इसका उपयोग समन्वय स्थापित करने और अधिक सुसंस्कृत बनने में किया जा सकता है, वहीं दूसरी ओर यह घृणा, हिंसा के लिए भी प्रयोग की जा सकती है। वे अपने आंचलिक उपन्यासों में उत्तराखंड के पहाड़ी समाज की एक सांस्कृतिक झांकी हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं। वे अनेक उत्सवों, वहां होने वाले नृत्यों जैसे- झोड़े, चांचरी, नंदा देवी तथा चितई के मेलों, लोक देवताओं आदि का चित्रण करते हैं। एक उदहारण से इसे समझा जा सकता है- “शैलकन्या की पीड़ा को कोई पहाड़ी ही समझ सकता है, जिसने जौल मुरली के रंझों में उनकी वेदना, विवशता के गीत जगाये हों, जिसने बुरूशी फूलों की लाली, चमेली के फूल की महक देखी हो, जिसने जागेश्वर-विनसर की उपत्यकाओं में गमकते हुडके, झमकते झोड़े सुने हों, जिसने दूध जैसी मुस्कान के सलमे सितारों से कढ़ा साटन का पिछौड़ा देखा हो...”³³, वहीं दूसरी ओर वे महानगरों की विसंगतियों तथा अभावग्रस्त जीवन की समस्याओं को संबंधित वर्ग से सम्बद्ध भाषा के माध्यम से प्रकट करते हैं। वे जिस क्षेत्र की कथा कहते हैं, वहां के जनजीवन की भाषा को समझते और आत्मसात करते थे। फिर उसी भाषा का प्रयोग वे कथा साहित्य में करते थे। इलाहाबाद की पृष्ठभूमि पर लिखा उपन्यास ‘सवित्तरी’ के संवाद देखिये- “बहूजी हमार नाम पुकार लिहिन- ‘शिवचरन!’ मुला हम धन्यवाद हो गए। सबेरे बाबूजी बहुत कहत रहे ‘शिबचरन-शिबचरन’- बात कुछ बनी नहीं। हमारी जो बिटिया सवित्तरी है ना, साहेब! हमका चिढ़ावे के खातिर- अभी भी कह देती है कि ‘देखो, बेटा शिबचरन, दढ़मौगी खाने का काम न करो।’”³⁴ शैलेश मटियानी अपनी रचनाओं के शीर्षकों के चुनाव में अत्यंत सतर्कता बरतते थे। कई बार पसंद न आने पर प्रकाशन के बाद भी पुस्तकों के शीर्षक नए संस्करणों में बदल दिया करते थे। इस कारण उनके शीर्षक गहरे अर्थों वाले हैं, जिनको पढ़कर पुस्तक की विषयवस्तु के विषय में अनुमान लगाया जा सकता है। ‘कबूतरखाना’, ‘भागे हुए लोग’, ‘आकाश कितना अनंत है’, ‘बावन नदियों का संगम’ ऐसे ही विषय हैं। उनके साहित्य में अभिजात्य वर्ग की भाषा से लेकर भूलेश्वर और गोलपीठा की गलियों में बोली जाने वाली भाषा भी मिलती है। ‘कबूतर खाना’ उपन्यास में वेश्यालयों में गणपत रामा बसुन्धरा बाई से अपने अवैध सम्बन्धों की चर्चा करता है। गणपत रामा पिल हाउस के नाका के ऊपर पड़ा है। वह कहता है- “पिल हाउस-गोलपीठा-कमाठी पुरा, मुबई शहर का जिसम ऊपर का कोढ़, सरकार का जिसम ऊपर का कोढ़।...हम गरीब लोग का मजबूर माँ-बहन लोग इधर, रोटी का वास्ते, जिसम का बोटी-बोटी नुचवाने के। सरकार का राज, बोले तो, राम राज। राम राज। साहिब राम-राज।”³⁵ इस एक वाक्य में वे महानगरों में वंचित जीवन जी रहे लोगों की दुर्दशा, व्यवस्था से उनका मोहभंग तथा शासन की आलोचना आदि सभी कुछ है। विशेष बात यह है कि यह बात कोई बौद्धिक पात्र नहीं बल्कि घरों में काम करने वाला नौकर कह रहा है।

लेखक अपने राजनीतिक विचार, समझ इन्हीं पात्रों से माध्यम से संप्रेषित करते हैं। यही गणपत रामा कहता है- ‘दारू हमारा बाप पिया, हम पिआ, और सेठानी बसुन्धरा बेन, बसन्तीबेन..... याने किसी भी डेमिश औरत से हमारा पैदा होने वाला बेटा भी पियेगा।’³⁶ लेखक की कथ्य की भाषा के विश्लेषण से पहले उनकी नगर केन्द्रित शब्दावली पर दृष्टिपात करना उपयुक्त होगा-

- मुंबई महानगर में विभिन्न व्यवसायों से जुड़े लोगों के लिए प्रचलित शब्द- ठोला (पुलिस), रामा (नौकर), भाऊ, दादा, मवाली, साहिब लोग, जमेदार(जमादार), घाटन (घरों में काम करने वाली स्त्रियाँ), वस्ताद, पाकिटमार, पोपट, सेठ, मिस्त्री, बेगमें, गुरु आदि
- दूसरों को अपमानित करने या नीचा दिखाने के लिए भी अनेक शब्दों का प्रयोग बम्बई में होता है, जिनका उल्लेख शैलेश ने अपनी रचनाओं में किया है, जैसे- मामा (पुलिस), फुटकलिए, हरामखोर, चोड़ा, साला डेमिश, कमीना आदि
- अल्मोड़ा शहर में मांस बेचने का व्यवसाय करने के कारण उनको बूचड़ का बेटा कहा गया। लेखक के चाचा को जुआ खेलने का व्यसन था इसलिए उन्हें जुआरी का भतीजा कहकर भी अपमानित किया जाता था

लेखक की भाषा अपनी सांकेतिकता, लाक्षणिक क्षमता तथा महानगरीय जीवन का यथार्थ प्रकट करने वाली भाषा है। उनकी भाषा से अभिव्यक्ति पाते विभिन्न सन्दर्भों को जानना उचित होगा-

5.3.2. महानगरों का वर्ग विभेद

शैलेश मटियानी की भाषा विविधतापूर्ण तथा समाज की संरचना का ठीक-ठीक पता देने वाली है। उसके माध्यम से महानगरों के हर गली-मोहल्ले के जीवन, वहां की समस्याओं का पता चल सकता है। नगरों का सबसे बड़ा संकट वहां व्याप्त विषमता है। धनिक वर्ग अकूत संपदा का स्वामी है और वंचित वर्ग के लोगों को आजीविका के लिए भी कठिन संघर्ष करना पड़ रहा है। लेखक के पात्र तो समाज के सबसे निचले आर्थिक स्तर के लोग हैं। महानगरों की चकाचौंध में वे जल के बीच प्यासी मीन की तरह जीवन जी रहे हैं। उनकी चिंताएं, सरोकार मध्य वर्ग के सरोकारों से भिन्न हैं। लेखक के प्रसिद्ध उपन्यास ‘किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई’ की भूमिका से इसका पता चल जाता है। बम्बई के परिचय की यह सच्चाई बयान करती किंतु व्यंग्यात्मक शैली लिए हुए है- “न सात समन्दर-पार का, न राजा इन्दर के दरबार का, और न शहजादे शहरयार या साढ़े तीन यार का- यह किस्सा है, गांठिया-पापड़ी, ऊसल-पाव-मसाला डोसा, बटाटा बड़ा, चालू स्पेशल चा और भेलपुरी के देश बम्बई का।”³⁷ यहाँ ऊसल पाव, गांठिया पापड़ी से संकेत एक ऐसे भोजन के रूप में भी है, जो सस्ता होने के कारण गरीबों का सहारा बनता है। असंगठित रोजगारों में बेहद कम वेतन पाने वाले लोगों के लिए ये खाद्य पदार्थ बड़े सहायक होते हैं। स्वादिष्ट व्यंजनों के नगर में ऊसल पाव का भूख मिटाने में सहायक होना यहाँ की विषमता आधारित समाज की ओर इंगित करती है।

विपन्नता का जीवन जीने वाले लोग भी उदारता और परदुःखकातरता का भाव लिए हुए हैं। मिट्टी कहानी में गरीबी और बेरोजगारी के कारण भीख मांगकर अपना गुजरा करने वाला लालमन कहता है- “हाथों का लूला जन्म से ही था। पाँव रेलवे लाइन पार करने में जाते रहे। माँ होश आने से पहले ही मर गई, बाबा की बस इतनी सी याददाश्त रह गई कि चौपाइयाँ बहुत बाँचा करते थे... जो मैं गाता हूँ। गनेशी! हम अपंग-अपाहिजों की जिंदगी तो ढोर-जानवरों की तरह ही कटती है, मेरी भी कट गई... यकीन मान, जो ये तेरे दो बच्चे हैं न, मेरे मर जाने पर मेरे गोशत से भी इनकी भलाई हो, तो लालमन चूँ नहीं करेगा।”³⁸ लालमन की बातें एक मजबूर लेकिन दयावान व्यक्ति का प्रलाप है, जो समाज को कुछ देना चाहता है किंतु देने की स्थिति में नहीं है।

आर्थिक रूप से अत्यंत विपन्न कुछ स्त्रियाँ अपने शरीर को वासना तृप्ति के लिए बेच कर अवैध सन्तानों को जन्म देती हैं और कोई शरणस्थली तक न होने के कारण फुटपाथों पर छोड़ देती हैं। बम्बई में ‘वस्ताद’ कहे जाने वाले आपराधिक प्रवृत्ति के व्यक्ति ऐसे बच्चों को पालकर सभी प्रकार के कुकृत्यों में बाल्यकाल से ही दक्ष बनाकर ‘पोपट’ के नाम से अभिहित करता है और इनसे अपना उल्लू सीधा करवाता है। लेखक ने अनेक स्थानों पर इन वस्ताद तथा पोपटों का वार्तालाप उद्धृत किया है। इन संवादों की भाषा बम्बई महानगर की अनेक सच्चाइयों से परिचित कराती है। नशे के व्यसन में डूबे वस्ताद-पोपट का वर्णन करते हुए लेखक लिखते हैं- ‘चरस की चिलम के चरों ओर लंगोटी के चीथड़े की गीली साफी लपेटकर आँख को चरस की चिलम के साथ ऊपर उठाते हुए, वस्ताद लटका भरता है- “लगे दम, मिटे गम...”’

डिरामे की चौपड़ी के वस्ताद के ‘कुर्बान जाऊँ’ वाले पेज को पलटकर, पोपट चट से चिलम अपने हाथ में थाम लेता है- “सटक, या अली, जिसने न उठाई चरस की कलि- उस मरद से तिरिया भली!” लेखक की भाषा में हास्य का पुट है, लेकिन वे विविध प्रकार के व्यसन में डूबे इन पोपटों के भविष्य के प्रति चिंता भी व्यक्त करते हैं। इस तरह के निराश्रित और अपराधियों के हाथ में पड़ चुके बच्चों के वर्णन की भाषा भी पाठक को असहज कर देने वाली है। वे इन शब्दों से महानगरों में गरीबों, विशेष रूप से गरीब स्त्रियों की बेबसी उजागर कर देते हैं- ‘पोपट, जिसने देश की लाखों गरीब संतानों की तरह न माँ-बाप का दुलार पाया, न भाई बहनों का नेह-बंधन। जो माँ के अमिय-पयोधरों को दूधिल कर देने की उम्र में, वस्ताद के हाथ के बासी पाव-चालू चा में पला।... पोपट, जिसकी माँ पेट भर अन्न के लिए सेठों के गोरखा पठान वाचमैनो को अपना जिस्म बांटती रही और जब अनचाहे- व्यभिचार की पूँजी पोपट के रूप में फुटपाथ पर गिरी, तो वह केवल एक बार उसके अबोले अधरों की ऊष्मा पान कर, सदा के लिए ठंडी पड़ गई।’³⁹

‘कबूरतखाना’ उपन्यास में लेखक निर्धनता की वजह से शोषित हो रही स्त्रियों के विषय में लिखते हैं- ‘जो अति निर्धन हैं वे विवश हैं- अपनी माँ बहनों की अस्मत् की रखवाली उनसे नहीं हो पाती।’⁴⁰ ‘भाई इतना मजबूर है कि वह बहन को वेश्या बनने से बचा नहीं पाता। इसी तरह यहाँ मानवीयता के सारे नाते रिश्ते अपवित्र-असम्बद्ध होनेके लिए मजबूर हो जाते हैं।’ ‘दूसरी ओर जिनके पास आवश्यकता से अधिक धन है, वे नारी को भोग-विलास का माध्यम मानते हैं- इससे ऊँचा स्थान वे नारी को देना नहीं चाहते। इस प्रकार नारी की अवस्था, दोनों स्थितियों में शोचनीय होती जा रही है- यह भी समाज का आन्तरिक कोढ़ है।’ ‘आर्थिक असमानता का जितना गहरा दल-दल बम्बई जैसे जन संकुल शहरों में है, अन्यत्र नहीं। यहाँ एक ओर हजारों वैश्यायें हैं, जिनके भाव आटा चावल की तरह बँधे हुए हैं, दूसरी ओर प्रच्छन्न रूपा वाराँगनायें हैं, जो प्रत्यक्ष रूप से गृहस्थी बसाए रहती हैं। और हजारों ऐसी अभावपीड़िता भी हैं, जो दुअन्नी चवन्नी में ही अपना शरीर किसी को सौंप देती हैं।’⁴¹

इस उपन्यास के पात्रों में अमीर-गरीब की असमानता को देखते हुए आन्तरिक विद्रोह प्रारम्भ होने लगा है, श्रमिकों द्वारा इतना परिश्रम करने के बाद भी इतना आर्थिक वैषम्य आखिर क्यों ? “मतलब, मूण जे इन्सान का जिन्दगी। जिन्दगी, बोले तो, सब की एक सरीखी चा हमरे को दो आँखी, तो देसाई सेठ को चार आँखी नहीं। गरीब को तो दो टाँगो, तो सेठ को चार किधर कू। पण, गरीब को, बोले तो, आकखी जिन्दगी भर सजा।”⁴²

अर्थाभाव के कारण शोषण का शिकार होती महिलाओं पर लेखक ने ‘सवित्तरी’ नामक उपन्यास लिखा है। उपन्यास में ‘सवित्तरी’ एक गरीब रिक्शा चालाक शिवचरण की बेटी है। दिखने में वह सुंदर, जवान और स्वाभिमानी लड़की है। घर की आर्थिक विपन्नता के कारण अपनी छोटी बहन गणेशी को लेकर वह पाँच-छह घंटों महरी काम किया करती है। जिस घर में वह जाती है, वहाँ उसे मर्दों की बुरी नज़रों का सामना करना पड़ता है। ब्राह्मण पंडित जनार्दन की पत्नी को अपनी शारीरिक अस्वस्थता के कारण कई दिनों के लिए अस्पताल में भर्ती होना पड़ा था। उसकी अनुपस्थिति में सवित्तरी में ‘सवित्तरी’ घर का सारा काम योग्य तरह से करती थी। एक दिन सवित्तरी को देखकर अपनी पत्नी मीता की अनुपस्थिति में जनार्दन अपना संतुलन खोकर सवित्तरी को अपनी बाँहों में भर लेता है। किंतु अपनी परिस्थिति से परिचित सवित्तरी उसे झिड़ककर सचेत कर अपने को छुड़ाकर कहती है, “बाबू साहेब, ये सब अच्छी बात नहीं। आप तो देवता आदमी हैं। इस जैसी नाचीज औरत को छूना आपको शोभा नहीं देता।”⁴³

जनार्दन तो सुसंस्कृत था, अपने किये पर बाद में अपनी पत्नी से कहकर इस तरह पछताने भी लगा कि उसे सवित्तरी शरीफ आदमी समझती रही और उसकी हरकत उसको एकाएक ‘शाक’ लगा होगा। उसके विश्वास को चोट लगी होगी और सवित्तरी को यह भी लगा होगा कि गरीब-बीमार रिक्शेवाले की बेटी न होकर, वह अच्छे, भरे-पूरे परिवार की बेटी होती, तो इन परायों के घरों में महरी का काम न करती और न ही उसे छेड़ने की कोई हिम्मत करता। “उसे मेरा छेड़ना अनुराग में छेड़ना न लगा होगा, गरीब लड़की के साथ मालिक की गन्दी हरकत मालूम पड़ा होगा। यह सचमुच कितना बड़ा पाप है कि हमें किसी भी गरीब बेटी में अपनी बहन-बेटी का प्रतिरूप दिखाई दे, बल्कि इस विकार के मारे हमें उचित-अनुचित कुछ सूझे नहीं कि यह गरीब है, बेसहारा है इसे दबाया जा सकता हा, फुसलाया जा सकता है।”⁴⁴

‘मेरी तैंतीस कहानियां’ में भी इसी तरह की भाषा का प्रयोग करते हुए वे लिखते हैं- ‘जहाँ सेठ लोग वैभव विलास में ऊँची अट्टालिकाओं में निवास करते हैं वहाँ एक निर्धन, श्रमिक वर्ग ऐसा भी है जिनका जीवन लावारिसों की तरह फुटपाथों पर बीतता है। बम्बई के हजारों लावारिसों की तरह ‘विट्टल’ की जिन्दगी भी फुट पाथ से शुरू हुई थी। कब शुरू हुई- यह तो विट्टल नहीं जानता।’ (‘विट्टल’ पृष्ठ सं. 74) ‘फुटपाथों पर रहने वाली बाइयाँ भी अनैतिक कर्म द्वारा जीविकोपार्जन के लिए धन संचय करती हैं, ‘पहिली से दस तक जिन दिनों सरकारी खजाना बँटता है -फुटपाथों वाली बाइयाँ, जो बावजूद हजार तकलीफों के, अपनी जवानी सलामत रख सकी हैं- रेलवे पुलिसों, टिकट चेकरों, और गवर्नमेण्ट आफिसों में काम करने वाले नटुवा क्लकों की जिन्दगी आबाद करती है। फुटपाथों वाली बाइयों के लिए यह मौसम बहार का होता है।’ (‘एक कोप चा दो खारी बिस्किट’ पृष्ठ सं. 81) गट्टर में रहने वालों का जीवन ‘दादर के पास बड़े-बड़े पाइप बिना घर के जोरू खसमों के लिए आसरा बने हुए हैं। बगैर लाइसेंस के रेलवे कुली, भिखमगे आदि

सरकार की, लावारिश औलादें यहाँ अपनी 'गोल्डन नाइट' बिताती और 'हनीमून' मनाती हैं। इन पाइपों में होता हुआ बम्बई का सारा गन्दा पानी बरली के गटरों तक पहुँचता था। अब ये लावारिश जिन्दगानियों के लिए कब्र और सेज दोनों का काम दे रहे हैं। भिखमंगों का बुढ़ापा इनके अन्दर आखीरी करवट बदलता है, तो गैर जिम्मेदारी की सौगातें भी यहाँ पहिली किलकारी भरती हैं।' ('एक कोप चा दो खारी बिस्किट' पृष्ठ सं. 81)

पुलिस स्टेशन में रहने के दौरान लेखक का सामना एक भिन्न प्रकार के परिवेश से हुआ, जिसका ब्यौरा उन्होंने अपने संस्मरणों में दिया है। वहाँ उन्होंने एक भिन्न प्रकार की भाषा के चलन को भी देखा। सुबह शौच के लिए लगने वाली लंबी कतारों को देखकर लेखक लिखते हैं- "कितना विचित्र था वह आदमी को जानवरों की तरह गोबर करने की सी उतावली में देखना। कोई आवाज दे रहा है-निकल बे सनीमा देख रिया क्या अन्दर ?...कोई संडास की बगल में मूतता खड़ा है, तो कोई कुछ इस मुद्रा में बीड़ी-फूँकता, जैसे अन्तरिक्ष में जाने की तैयारी कर रहा हो। 'लाइन' अपने तक आ चुकी थी। मात्र टट्टी करना भी इतनी जद्दोजहद का काम हो सकता है, इसकी कल्पना पहले कहाँ थी।"⁴⁵

हवालात में जाने पर लेखक डरे हुए थे। किंतु भत्ते की आशा से स्वयं छोटा-मोटा अपराध कर आने वाले कैदियों को कोई चिंता नहीं। उनके पास खोने को कुछ नहीं इसलिए वे भविष्य की योजना भी नहीं बमाते। लेखक का एक साथी कैदी कहता है- "अरे घोंचू, मतलब क्या पूछने का ? फिंगरप्रिन्ट बोले तो, फिंगरप्रिन्ट... पुलिस की चोपड़ी के अन्दर डाव्या-सव्या, दोनों हाथ का छापा उतारने का। समझा क्या, आंगुल छापा !...ये छापा पिछू सी.आई.डी. ऑफिस जाइंगा ! दादर में उनका जाँच होइंगा...और स्साले लोग, अगर अन्दर में निकला कि पहले का जूना सजा काटेला खडूस है, तो मामा लोग पहले दफा चौवन...और पिछू..."⁴⁶

पुलिस स्टेशन से बाहर निकलने के बाद बुरी सोहबत के प्रभाववश लेखक भी चोरी करने लगे। एक जगह चोरी के समय सिलसिला शुरू हुआ तो देर तक चला। चोरी-चकारी में पकड़े जाने का डर भीतर बजता सा जान पड़ता, लेकिन साथी का गणित भी कमजोर नहीं था। उसका तर्क हुआ करता था कि- "देको, अइसी चोटी-चोटी चोरी में कुच्च नहीं होता। ज्यास्ती से ज्यास्ती दो-चार लाफा पड़िगा। बोले तो, अपने बदन में फुर्ती को चीता की मापिक रखने का- दफा चौपन में मामा लोग हमको बहुत दपे पकड़ा होइंगा, मगर चोरी ऊपर कब्भी नको।"⁴⁷

5.3.3. स्त्रियों की दुर्दशा तथा वेश्या समस्या

पुरुषवर्चस्व पर आधारित होने के कारण समाज ने महिलाओं को अपमानित करने के लिए अनेक अपशब्द गढ़े हैं। जैसे- 'औरत की जात और बम्बई की बरसात, इन दोनों का कोई भरोसा नहीं।' लेखक महिलाओं के प्रति इस अमानवीय दृष्टिकोण के विरोधी थे। वे अपने स्त्री पात्रों से अन्याय का प्रतिकार करवाते हैं। 'गोपुली गफूरन' में ठाकुर भीम सिंह द्वारा गोपुली के साथ अभद्र व्यवहार करने की कोशिश के सन्दर्भ में गोपुली का निम्न कथन ऊँची जाती के दोहरेपन को विस्तार से सामने रखता है- 'ये ठाकुर लोग वदन से छुए को पानी छिड़केंगे मगर थूक का परहेज नहीं इन्हें'⁴⁸

स्त्री की गरिमा का सम्मान न करने की प्रवृत्ति के कारण ऐसी स्थितियाँ बन गई हैं जिनमें किसी स्त्री के सम्मान से खिलवाड़ बड़ी सामान्य सी बात हो गई है। पिछली सदी के साठ के दशक से, जब लेखक यह उपन्यास

लिख रहे थे, ये स्थितियां बननी आरंभ हो गई थीं। 'किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई' उपन्यास के आमुख में लेखक बम्बई में वेश्याओं को लेकर होने वाली बातें लिखते हैं- "जहाँ पारले की औरेंज की बाटली फकत पांच आने में और ग्लूको कोला की बाटली फकत चार आने में- लेकिन इन दोनों से से भी कहीं मीठी कसैली दो बेगमें- एक भारत के उत्तरी ध्रुव कश्मीर की, दूसरी दक्षिणी ध्रुव बैंगलोर- मंगलोर की- सिर्फ आठ आने में।"⁴⁹

लेखक की विशेषता यह है कि वे अपने पात्रों में मानसिक रूप से परकाया प्रवेश कर, उनकी वेदना की समानुभूति कर उसी भाषा में लेखन करते हैं, जो उनके पात्रों की भाषा है। जैसे- 'डेरेंवाले' उपन्यास में बूढ़ी वेश्याएं युवा लड़कियों को अपने व्यवसाय के सिद्धांत सिखाते हुए कहती हैं- "यह संसार विचित्र है चेली, यहाँ पर तू यूँ समझ ले कि फूल तो सैंकड़ों जाती के होते हैं मगर उन पर मंडराने वाले भौरों की जाति एक सी होती है।...हम मिरासियों की जात क्या है। वह तो एक निराधार बेल है, जैसे वन के बेल पर कौन जात का पक्षी आकर बैठता है, ठीक ऐसे ही हम मिरासियों के यहाँ न जाने कौन जात का मर्द आकर बैठता है। ब्राह्मण आए, बनिया आए, चाहे ठाकुर आए या डोमड़ा आकर बैठे, मिरासियों के पास तो हर कोई जात एक ही किस्म की हविश लेकर आते हैं।...इनसे बहुत होशियारी से निपटना होता है।"⁵⁰

'कबूतरखाना' उपन्यास में धनिक वर्ग के प्रति रामा आक्रोश प्रकट करता है। 'सईदन' नामक वेश्या, जिसे गणपत रामा अपनी बहन मानता था, की मृत्यु पर कहता है, "तिलक- चन्दन धारण करने वाले, बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण करवाने वाले इन सेठों को कोई पूछे- प्याज-लहसुन से तक परहेज करने वाले ये, अहिंसा के नाती पोते ये- हजारों सीता सावित्रियों का माँस कैसे खा लेते हैं ? हजारों माँ बहनों का रक्त कैसे पी जाते हैं ? हजारों-लाखों भाइयों के कलेजे कैसे चीर कर चबा लेते हैं। ये शाकाहारी पूँजीपति- रावण-कुम्भकर्ण-कंस के इन वंशधरों को कोई क्या कहे ? रंडियाँ जिन्हें कहते हैं ये- उनसे कहीं ज्यादा बेशरम हैं ये। रंडियों में बेबसी की बेशरमी होती है- मगर ये तो बेहया होते हैं, बेईमान होते हैं- बस.. पैसा पैसा पैसा"⁵¹

वेश्याओं के लिए आजीविका का स्थान त्रिभुवन रोड किसी के लिए अय्याशी तो किसी के लिए त्रासद स्मृति से जुड़ा है। 'कबूतरखाना' उपन्यास में इसके वर्णन में सारगर्भित भाषा और प्रकृतिवादी शैली में किया है- 'इसी त्रिभुवन रोड और इसकी मौसरी बहन पाव वाला स्ट्रीट में कई हीरोइनें एक्स्ट्रा बनते बनते पैशन पर आ गई हैं और अब ढलती उमर में तन का सौदा करके रोटियां जुटा रही हैं। इसी त्रिभुवन रोड पर मक्खन की टिकियाँ सी पारसी लड़कियाँ भी है, जिनका अधिकांश समय साड़ी- सैडिल और 'बॉय फ्रेंड' के चुनाव में बीतता है, और भाई बाप मुर्गी के अण्डे, शहद और चन्दन की लकड़ी लेकर पारसी टैम्पलों के आगे बैठे रहते हैं।' (पृष्ठ सं. 65)

स्त्री पात्रों को लेकर रचे अपने उपन्यासों में वे अनमेल विवाह की चर्चा भी करते हैं। 'रामकली' उपन्यास की नायिका रामकली बाईस वर्ष की थी और पति बयालीस वर्ष का। उम्र के बाईस साल में दो बच्चों की माँ बन चुकी थी। अर्थाभाव के कारण उसका पति अधेड़ में ही बूढ़ा होने लगा था। इस कारण से रामकली का दाम्पत्य जीवन ठीक तरह से चल नहीं पा रहा था। इस विषय को लेकर उसकी जो सोच थी, उसके संबंध में लेखक कहते हैं, "यह सचमुच कितना विचित्र है कि बसंतलाल के साथ की गृहस्थी के अभाव रामकली को अब धीरे-धीरे ज्यादा चुभने लगे हैं। जबकि शादी हुए दस वर्ष हो चुके। अब दो बच्चों की माँ बन चुकने के बाद ही यह भी ज्यादा होने लगा है कि वह बसंतलाल को अपनी उम्र और अपने जिस्म के साथ तौलकर देखने लगी है।"⁵² इसी वजह से रामकली दो बच्चों की माँ होकर भी यौवन के दहलीज पर आकर भटक गई थी। हरगुन पंडित के गठीले बदन और उसके व्यक्तित्व पर रामकली मोहित हो गयी थी। लेकिन समाज के डर से और अपने पेशे की वजह से पंडित होशियारी बरतने लगा और

इससे निराश रामकली कमला पहलवान की तरफ आकर्षित हो गई। कमला पहलवान डेयरी चलाता था, जहाँ वह रोज दूध लेने जाती थी। रामकली उसकी मीठी-मीठी बातों में आकर अपना घर-बार छोड़कर उसके यहाँ जाकर बैठ गई। घर छोड़ते समय अपने पति बसंतलाल से उसने यह कहा कि “मैं बच्चों को भी साथ लेती जाऊँ?” 14 शांत बैठे बसंतलाल की आँखें पत्थरों जैसी सख्त हो गईं और उसने निहायत सख्त आवाज में कहा, “रामकली, तू तो अपने बाप की धरोहर थी, तुझे मैंने बंधनों से मुक्त किया। जो तुझे अच्छा लगे, कभी तेरे आड़े आऊँगा नहीं। मगर ये बच्चे तो मेरे हैं, मेरे मरने से पहले तो इन्हें कोई मुझसे जुदा कर नहीं सकता।”⁵³

‘त्रिभुवन रोड की रूपसियाँ जब मराठी साड़ियाँ पहने बाहर घूमने निकलती हैं, कोई कल्पना भी नहीं कर सकता कि ये अबलाएँ अपने पति, भाई और पिता के पोषण के लिए अपने पवित्र गात का सौदा करने जा रही हैं।’ (पृष्ठ सं. 65)

‘इस बम्बई को कोई क्या कहे, जब भाई बहन को साथ लेकर उसकी पवित्रता का सौदा करने जाता है। जहाँ पिता अपनी कन्या की पावनता को रक्त सा पी जाता है, जहाँ सैकड़ों मुसटण्डे केवल नारी की कमाई पर पलते हैं-पलते नहीं, ऐय्याशी करते हैं।’ (पृष्ठ सं. 66)

स्त्रियों का वर्णन करते समय लेखक उनकी मनःस्थिति का भी चित्रण करते हैं। इन स्त्रियों के जीवन में संघर्ष, अर्थाभाव और अनादर है लेकिन इन सब स्थितियों के बीच ही उनमें रागात्मक संबंध भी पनपते हैं। ‘किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई’ में ‘कृष्ण’ नर्मदाबेन की आंगिक चेष्टाओं एवं मुख मुद्रा से उसका मनोवैज्ञानिक विश्लेषण कर उसे ही बताता है- “वैसे मैं एक अदना आदमी हूँ। एक बिल्कुल ही मामूली और बेकार लड़का- और दर असल मेरी यह गरीबी बेकारी ही मुझे आप तक खींच लाई। पर ऐसा लगता है आपके मन में जो अप्रत्याशित भाव विपर्यय होते हैं मैंने देखा है, उसका कहीं कुछ सम्बन्ध मुझसे भी है। क्यों ? ऐसा मुझे लगता है, आप मुझ से कुछ कहना चाहती हैं, पर दुविधा वश कह नहीं पाती हैं, मुझे बड़ा विस्मय है, सेठानी! जो मुझे लेकर आप इतना उलझ क्यों गई हैं ?”⁵⁴ नारी मनोविज्ञान पर प्रकाश डालता हुआ ‘कृष्णा’ कहता है, “नारी और नदी का यह कैसा स्वभाव है कि एक पथभ्रष्ट पुरुष की स्मृति में भी आत्मीयता के सौ-सौ आँसू रो देती है। निष्ठुर मन वाले तन को भी युगों- युगों तक आत्मस्थ किए रहना चाहती है। और दूसरी जहाँ बड़ी-बड़ी चट्टानें हों, जहाँ बड़े-बड़े पत्थर हो वहाँ और हहराती हहराती और उनसे केलिकिल्लोल करती बहती है।”⁵⁵

5.4.4. राजनीतिक चेतना को प्रदर्शित करती भाषा-

शैलेश मटियानी के कथा साहित्य में राजनीतिक चेतना से परिपूर्ण अनेक पात्र मिलते हैं। उनकी पक्षधरता भी स्पष्ट रूप से गरीब और वंचित तबके के प्रति दिखाई देती है। दरअसल सरकार, प्रशासन की एक भाषा होती है, जिसमें सरकारी आदेश, योजनाएं आदि प्रकाशित होते हैं। यह भाषा न तो सामान्य जन के समझ में आती है और न उनके सरोकार इसमें होते हैं। इस भाषा की लेखक आलोचना करते हैं और जन के लिए, जन की भाषा निर्मित करने का लोकांत्रिक कार्य करते हैं। हौलदार उपन्यास का एक उदहारण है- “डंगुरिया, अपने भाई का चोट खाना कौन पसंद

करता है, मगर तूने जो इतने कम टैम में अपनी कौम की खिदमत में जान लड़ाई है, उस पर हम दोनों भाइयों को फखर है गौरव है- क्योंकि तूने कौम, और जिसे तूने अभी-अभी मदर कंटरी कहा है, उसके लिए अपनी जान लड़ाई है”⁵⁶

‘मुठभेड़’ उपन्यास में अब्बा चाय पीते हुए कहते हैं- “कंडेलगंज के लोग इंदिरा बिटिया को पुन्नी की दुकान पर कड़ी देख लें, इससे बड़ी जागीर क्या! हम तो नादान थे, मन ही में यों कही कि बुढ़ऊ, सट्रेहिंदुस्तान को ‘इंदिरा बिटिया’ कहे ले रहे हो, जैसे मोती पंडित के चचाजाद भाई की औलाद हो, ये ही कौन कम जागीर है? जियाउल हक को कोई नाऊ ‘जियाउल बेटा’ कहे, तो जबान कलम हो जाए!”⁵⁷

‘कबूतरखाना’ उपन्यास में लेखक बम्बई के एक सामान्य व्यक्ति के राजनीति पर विचारों का वर्णन कर रहे हैं। बिल्कुल जनसामान्य की यह भाषा आंचलिक परिवेश का मूर्तन करती है- ‘नेहरु जी, बोले तो हमारे राम राजा।’

‘अपना देसाई-चहान साहिब भी बोले तो लक्ष्मण-भरत सरीखे। हम गरीब लोग के माँ-बाप। कासम भाई के माफिक बोले तो, परवरदिगारे आलम। बादशाहे नियामत। हुजुरे वाला। पण, सच्ची बोले तो सब के सब एकदम कसाई च नेहरु जी बोले तो राम सरीखे- लेकिन उनकी च राजधानी में इंसान का जिंदगी कुतरा का माफिक गट्टर में जाने को- गट्टर बोले तो-नरक।’⁵⁸

शैलेश मटियानी राजनीति पर बेबाकी से लिखने वाले लेखक हैं। हालांकि उनमें सभी विचारधाराओं के प्रति नकार का भाव है और वे किसी के पक्ष में खड़े नहीं दिखाई देते। फिर भी उनकी रचनाओं को पढ़कर तत्कालीन राजनीति पर एक नए दृष्टिकोण से सोचने की प्रेरणा मिलती है। उनका उपन्यास ‘सर्पगंधा’ दलित समाज में राजनीतिक जागरूकता पर केन्द्रित है। ‘सर्पगंधा’ में वर्णित क्षेत्र का दलित समाज सुशिक्षित और सचेत है। दलित जाति की समस्याओं को स्पष्ट करते हुए लेखक अपना मत प्रकट करते हैं कि आज का दलित वर्ग किसी प्रकार के अन्याय और जातिगत भेदभाव को स्वीकार नहीं करेगा। इस उपन्यास के माध्यम से लेखक उस समय समाज में आकर ले रहे दलित नेतृत्व, आंबेडकर तथा ज्योतिबा फुले की विचारधारा से प्रभावित जागरूक दलित वर्ग का चित्रण करते हैं।

भ्रष्ट राजनेताओं के चरित्र को उजागर करने के लिए वे अपने उपन्यास ‘बावन नदियों का संगम’ में एक नेता और पत्रकार की बहस का चित्रण करते हैं। नेताजी कहते हैं- “देखो मिस्टर पत्रकार, तू जो यह पूछते हो कि इन चकलाघरों को बचाए रखने की और क्या वजह हो सकती है?”⁵⁹ मंत्री जी के प्रश्न का जो उत्तर पत्रकार ने दिया है लेखक उसके पक्ष में खड़े दिखाई देते हैं। पत्रकार कहता है- “महात्मा बुद्ध आजकल के नेताओं की तरह चकलाघरों से चौथ नहीं वसूलते थे, वे आम्रपाली और यशोधरा को एक मनोभाव से दीक्षित करते थे। गाँधीजी को लगता है कि आप लोग उतरन धारण करने में ही आस्था रखते हैं, विचार जानने में नहीं, और आपके ये जो लोकनायक हैं, ये पूँजीपतियों के खड़े किए गए पुतले हैं। इनकी सारी संपूर्ण क्रांति एक हवाई नृत्य है। क्रांति क्या कोई रासायनिक खाद है? जो अनेक तरह का कूड़ा-करकट डालने से संपूर्ण होती है?... श्रीमती गाँधी सत्ताप्रेमी तत्त्व हैं स्त्री नहीं।”⁶⁰

‘छोटे-छोटे पक्षी’ उपन्यास में तत्कालीन सरकार के प्रति तीखा आक्रोश व्यक्त करते हुए वे लिखते हैं- “आप लोग सुनें, साहब, यह सरकार ही ससुरी भेंगी है। टाटा ने कहा था कि रेलवे हमें दे दीजिए, हम पूरे रेलवे की ‘अर्निंग’ का दूना सरकार को देंगे और जनता को भी पूरी सुविधाएं दे देंगे। सारी गाड़ियाँ ठीक समय पर चलेंगी और जनता की सारी परेशानियाँ दूर हो जाएंगी।...लेकिन हमारे देश की जनता का क्या कहिए, साहब इसे तो राष्ट्रीयकरण चाहिए। सरकार हमारी ऐसी निकम्मी है कि जिस चीज़ को हाथ में लेती है, उसी का भट्टा बिठा देती है।”⁶¹

5.4.5. अस्थिर संबंध तथा कुंठाएं

महानगरों में अस्थिर संबंधों तथा संचार माध्यमों से कामुकता के प्रचार के कारण लोगों में अनेक प्रकार की कुंठाएं देखी जा सकती हैं। ‘कबूतरखाना’ उपन्यास में लेखक लिखते हैं- “सेठ लोग अपने नपुंसकत्व के कारण अपनी पत्नी से मालिश तक नहीं करा पाते। मालिश कराने के लिए बगीचों में जाते हैं, एक रुपया वाली मालिश रात को होती है-सेठ लोग की। घर में औरत से मालिश कराने को ये लोग डरते हैं, क्योंकि औरत उन्हीं पर चढ़ बैठती है और इनसे कुछ बनता नहीं। इसलिए ये लोग इधर बगीचों में हम से मालिश करावते हैं- और घर पर नौकर लोग सेठानियों के साथ सोते हैं।”⁶² बम्बई में सेठ लोग अपनी पत्नी की वासना तृप्ति में स्वयं असमर्थ होकर रामा लोगों को अपने घर में अपनी पत्नी की वासना पूर्ति के लिए ही रखते हैं। कबूतरखाना में कासम भाई कहता है- हमारे से, रामा गणपत से पूछो, क्या सेठ लोग के घर में जितना भांडा घिसा होगा उतना ही सेठानी लोग की बदौलत मजा भी मारा होगा। तभीच हम बोलता है- मुंबई के अच्छे-अच्छे खानदानों के पेट अन्दर का नक्शा देखने का होगा, तो भांडा घसने वाले रामालोग से पूछो, बंगलों में रहने वालों की हिस्ट्री पूछो, गुरखा-पठान वाचमैन लोग से, कार का ड्राइवर लोग से।”⁶³

लेखक के पहले कहानी संग्रह की कहानी ‘विट्ठल’ धनिक स्त्रियों द्वारा शोषित लड़के की कहानी है। ‘विट्ठल’ की नौकरी रुस्तम सेठ जी के यहाँ लगती है, वहाँ जहाँ वह ‘सेठ जी की मालिश करता है। सेठ की पत्नी द्वारा संबंध बनाने के दबाव से विट्ठल तंग आ जाता है। एक बार अवसर पाकर जैसे ही बाजार से लौटते समय सेठ जी से पगार चुकता करवाकर चल देने की बात सोच रहा था वैसे ही सेठ जी की कन्या रुस्तमा ने ‘विट्ठल’ को अपने कमरे में बुलाकर उसके गले में बाँहें डाल कर अपनी ओर खींच लिया। कहने लगी- ‘तो मैं कहाँ तुझ पर इलजाम लगा रही हूँ। रुस्तमा उससे लिपट गई- पिछले बरस भी पापाजी रत्नगिरी से एक ‘रामा’ लेकर आए थे, वह पापा जी, बड़ी बाई और मेरे को तीनों को सँभालता था।’⁶⁴ लेखक इस पर लिखते हैं कि ‘बम्बई उस कोठी की तरह है, जिसके मुँह पर कोढ़ के लक्षण न फूटे हों, और शरीर का जो सारा कोढ़ कीमती दुशाले से ढके रहता हो।’⁶⁵

मात्र महानगरों में ही नहीं कस्बों और छोटे नगरों में भी संबंधों का विघटन एक बड़ी समस्या है। संबंध मधुर न रह पाने से कई प्रकार की कुंठाएं और ग्रंथियां जन्म लेती हैं। लेखक ‘चौथी मुट्ठी’ की कौशिला की मनोस्थिति का चित्रण करते हैं। ‘चौथी मुट्ठी’ की कौशिला पति, सास एवं ससुर सभी के द्वारा उपेक्षित एवं तिरस्कृत है। वह प्रेम व स्नेह की भूखी है। पति, सास व ससुर का उसके प्रति किया गया अन्याय व तिरस्कार कुंठा बनकर उसके मस्तिष्क में समा गया है। इस कुंठा के परिष्कार व रेचन के लिए वह घात डालने गोल्ल देवता के दरबार में चितई जाती है। वहां वह प्रार्थना करती है- “गोल्ल देवता हो। तुम्हारे ही दरबार में हाजिर होने की तैयारी कर रही हूँ। बस अब मुझ दुखियारी और

होते हुए खसम-बेटों के लावारिस औरत का तुम्हारे सिवा कोई पालनहार है भी नहीं। कर देना परमेश्वर, बाल चीरकर इन्साफ कर देना।”⁶⁶

5.4.6. शैलेश मटियानी की भाषिक विशिष्टताएं

शैलेश मटियानी की भाषा उनकी सर्जना का सबसे महत्वपूर्ण आयाम है। अपने कथा साहित्य में उन्होंने अनेक भाषिक प्रयोग किए और लीक से हटकर शैली अपनाई। संक्षेप में उनके भाषिक विशिष्टताएं निम्नलिखित हैं-

- शैलेश मटियानी के कथा साहित्य की भाषा, उनकी समृद्ध शब्दावली के कारण अधिक प्रभावशाली लगती है। उनकी भाषा में तत्सम शब्दों से लेकर विभिन्न क्षेत्रीय और आंचलिक भाषाओं के शब्द भी मौजूद हैं। संघर्ष के दिनों में देश के विभिन्न भागों में रहने से हुए सांस्कृतिक आदान-प्रदान की प्रक्रिया में उन्होंने भाषा को विशेष रूचि से सीखा है।
- उनके अनुभव का संसार व्यापक है। उत्तराखंड के सुदूर पहाड़ी क्षेत्रों से लेकर महानगरों तक के प्रवास में हुए अनुभवों को वे अपनी रचनाओं में व्यक्त करते हैं। गहरे अनुभवों के कारण वे नया और अनूठा बिम्ब विधान गढ़ते हैं, जिसकी चर्चा पिछले उपविषय में हुई है।
- लोक का स्पर्श उनकी भाषा को लालित्य और नैसर्गिकता प्रदान करता है। कभी-कभी वे किसी लोकगीत की कोई पंक्ति, कथावस्तु में प्रयोग करते हैं तो उसका सौंदर्य बढ़ जाता है।
- एक अन्य विशेषता है- उनकी प्रकृतिवादी शैली, जिसमें वे बेबाकी से अपने अनुभवों को व्यक्त करते हैं। कई बार उन अनुभवों को पढ़ना पाठकों को रुचिकर नहीं लगता, किंतु वे सच्चाई से साक्षात्कार तो कराते ही हैं।
- उनकी अधिकतर रचनाएं संवाद शैली में लिखी गई हैं। दरअसल शैलेश के अवचेतन मस्तिष्क पर लोकगाथाओं की छाप थी। उन्हीं लोकगाथाओं की शैली को उन्होंने अपनाया जिसमें संवाद एक अनिवार्य तत्व होता है।
- पात्रानुकूल तथा प्रसंगानुकूल भाषा भी उनके साहित्य की पठनीयता का कारण है। वे एक ही पृष्ठ पर दो भिन्न प्रकार के वातावरण निर्मित करने की क्षमता रखते हैं। प्रसंग का ध्यान रखते हुए, वे अपनी शब्दावली और कहाँ का ढंग भी चुनते हैं।

संदर्भ सूची-

- ¹ शैलेश मटियानी (1989), गोविन्द मिश्र के नाम पत्र, विजय कुमार देव (सं.), अक्षरा (नवंबर-दिसंबर 2001), भोपाल, पृष्ठ सं. 60,
- ² शैलेश मटियानी (1987), लेखक की हैसियत से, विकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 7
- ³ शैलेश मटियानी (1987), लेखक की हैसियत से, विकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 14
- ⁴ शैलेश मटियानी (1987), लेखक की हैसियत से, विकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 15
- ⁵ शैलेश मटियानी (1987), लेखक की हैसियत से, विकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 91
- ⁶ शैलेश मटियानी (1979), आकाश कितना अनंत है, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 226
- ⁷ शैलेश मटियानी (1985), यदा-कदा, अलोक इंडस्ट्रीज, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 36
- ⁸ शैलेश मटियानी (1987), लेखक की हैसियत से, विकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 15
- ⁹ शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियां, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 25
- ¹⁰ गिरिराज किशोर (1983), संवाद सेतु, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी दिल्ली, पृष्ठ सं. 29
- ¹¹ शैलेश मटियानी (1961), हौलदार, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 47
- ¹² शैलेश मटियानी (1961), हौलदार, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 6
- ¹³ शैलेश मटियानी (1961), हौलदार, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 6
- ¹⁴ शैलेश मटियानी (1961), हौलदार, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 32
- ¹⁵ शैलेश मटियानी (1961), हौलदार, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 64
- ¹⁶ दिवा भट्ट (2004), उद्गम की खोज और सृजन के सूत्र, जन कथाकार: शैलेश मटियानी, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, पृष्ठ सं. 83
- ¹⁷ शैलेश मटियानी (1961), चिट्ठीरसैन, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 2
- ¹⁸ शैलेश मटियानी (1961), चिट्ठीरसैन, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 53
- ¹⁹ शैलेश मटियानी (1961), चिट्ठीरसैन, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 72
- ²⁰ शैलेश मटियानी (1961), चिट्ठीरसैन, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 116
- ²¹ शैलेश मटियानी (1961), चिट्ठीरसैन, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 124
- ²² शैलेश मटियानी (1961), चिट्ठीरसैन, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 193
- ²³ शैलेश मटियानी (1961), हौलदार, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 6
- ²⁴ शैलेश मटियानी (1961), हौलदार, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 16
- ²⁵ शैलेश मटियानी (1961), हौलदार, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 142
- ²⁶ शैलेश मटियानी (1962), चौथी मुट्ठी, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 14
- ²⁷ शैलेश मटियानी (1962), चौथी मुट्ठी, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 27
- ²⁸ शैलेश मटियानी (1961), किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 47

-
- ²⁹ शैलेश मटियानी (2004), डेरैवाले, शैलेश मटियानी की संपूर्ण कहानियां भाग- 4, राकेश मटियानी (सं.), प्रकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ सं. 501
- ³⁰ शैलेश मटियानी (2004), डेरैवाले, शैलेश मटियानी की संपूर्ण कहानियां भाग- 4, राकेश मटियानी (सं.), प्रकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृष्ठ सं. 324
- ³¹ क्षितिज शर्मा (2001), पर्वत से सागर तक की कहानियां, जन कथाकार: शैलेश मटियानी, प्रकाशन विभाग, दिल्ली, पृष्ठ सं. 108
- ³² शेखर जोशी (2014), स्मृति में रहे वे, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 61
- ³³ शैलेश मटियानी (1959), बोरीवली से बोरीबंदर तक, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 118-119
- ³⁴ शैलेश मटियानी, सवित्तरी, हिन्द पॉकेट बुक्स, गुडगाँव, 2019, पृष्ठ सं. 13
- ³⁵ शैलेश मटियानी (1960), कबूतरखाना, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 122
- ³⁶ शैलेश मटियानी (1960), कबूतरखाना, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 122
- ³⁷ शैलेश मटियानी (1961), आमुख, किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 1
- ³⁸ शैलेश मटियानी (2006), दस प्रतिनिधि कहानियां, किताबघर प्रकाशन किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, पृष्ठ सं. 113
- ³⁹ शैलेश मटियानी (1961), आमुख, किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 2-3
- ⁴⁰ शैलेश मटियानी (1961), आमुख, किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 67
- ⁴¹ शैलेश मटियानी (1960), कबूतरखाना, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 67-68
- ⁴² शैलेश मटियानी (1961), आमुख, किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 95-96
- ⁴³ शैलेश मटियानी (1981), सवित्तरी, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 157
- ⁴⁴ शैलेश मटियानी (1981), सवित्तरी, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 157
- ⁴⁵ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 39
- ⁴⁶ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 40
- ⁴⁷ शैलेश मटियानी (2000), पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 62
- ⁴⁸ शैलेश मटियानी (1981), गोपुली गफूरन, सरस्वती विहार, दिल्ली, पृष्ठ सं. 13
- ⁴⁹ शैलेश मटियानी (1961), हौलदार, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 1
- ⁵⁰ शैलेश मटियानी (1980), डेरैवाले, सरस्वती विहार प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं. 74
- ⁵¹ शैलेश मटियानी (1960), कबूतरखाना, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 46-47
- ⁵² शैलेश मटियानी (1978), रामकली, सरस्वती विहार प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं. 17
- ⁵³ शैलेश मटियानी (1978), रामकली, सरस्वती विहार प्रकाशन, दिल्ली, पृष्ठ सं. 44
- ⁵⁴ शैलेश मटियानी (1961), किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 53
- ⁵⁵ शैलेश मटियानी (1961), आमुख, किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 76
- ⁵⁶ शैलेश मटियानी (1961), हौलदार, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 62

-
- ⁵⁷ शैलेश मटियानी (1993), मुठभेड़, प्रकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 27
- ⁵⁸ शैलेश मटियानी (1960), कबूतरखाना, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 93-94
- ⁵⁹ शैलेश मटियानी (1981), बावन नदियों का संगम, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 24
- ⁶⁰ शैलेश मटियानी (1981), बावन नदियों का संगम, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 152
- ⁶¹ शैलेश मटियानी (1995), छोटे-छोटे पक्षी, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, पृष्ठ सं. 72
- ⁶² शैलेश मटियानी (1960), कबूतरखाना, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 35
- ⁶³ शैलेश मटियानी (1960), कबूतरखाना, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 13-14
- ⁶⁴ शैलेश मटियानी (1961), मेरी तैंतीस कहानियां, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 79-80
- ⁶⁵ शैलेश मटियानी (1960), कबूतरखाना, आत्माराम एंड संस, दिल्ली, पृष्ठ सं. 65-66
- ⁶⁶ शैलेश मटियानी (1962), चौथी मुट्ठी, आत्माराम एंड संस, दिल्ली पृष्ठ सं. 5-6

उपसंहार

‘शैलेश मटियानी के साहित्य में महानगरीय यथार्थ’, इस विषय में तीन महत्वपूर्ण बीज शब्द सम्मिलित हैं- महानगरीय यथार्थ, शैलेश मटियानी का साहित्य तथा शैलेश मटियानी के साहित्य में महानगरीय यथार्थ। अतः यह महानगरीय यथार्थ की अवधारणा को समझकर, शैलेश मटियानी के साहित्य में उसकी परिणतियों को रेखांकित करने का क्रमबद्ध अध्ययन है। वर्तमान महानगरों की दिशा और दशा को, उनके बनने की प्रक्रिया के अध्ययन के बिना नहीं समझा जा सकता। महानगरों के बनने की प्रक्रिया के अध्ययन वर्तमान महानगरों में उपभोक्तावादी संस्कृति के विस्तार से जो एकरूपता, यांत्रिकता फैली है उससे बहुत कुछ नष्ट भी होता जा रहा है। सुविधाओं और विलासिता की वस्तुओं के अंबार लगाने में व्यस्त मनुष्य प्रकृति की चिंता भी नहीं कर रहा। यह इस भौतिक विकास का भयावह पहलू है। इससे बचने को दुनिया भर के विचारक विकास के वैकल्पिक मॉडल की ओर ध्यान देने की बात कर रहे हैं।

महानगर भौतिक उन्नति और यांत्रिक विकास के केंद्र होते हैं। लेकिन संसाधनों के केंद्रीकृत होने से असंतुलित विकास और विषमता का प्रसार होता है। इन नगरों के दायरे तेज गति से बढ़ते हैं, जिससे आसपास के क्षेत्र इनकी परिधि में आते रहते हैं। वर्तमान महानगरों में सुविधापूर्ण जीवन की कीमत गाँव के लोग चुका रहे हैं। पूँजी तथा शक्ति पर टिकी महानगरीय समाज की संरचना में अनेक दोष हैं। इस संदर्भ में विजातीयता, अकेलेपन, विघटन, मूल्यभ्रंशता आदि की भी चर्चा की जा सकती है। इन सब कारणों से महानगरों के व्यापक समुदाय में, मुख्यतः हाशिये के समाज में समृद्धि और प्रसन्नता दिखाई नहीं देती। महानगर, जो पूँजीपति वर्ग के लिए धन का प्राचुर्य प्रदान करता है, गरीब के प्रति अत्यंत अनुदार दिखता है। उपर्युक्त सामाजिक संरचना के कारण महानगरों के परिवार एकल हो रहे हैं, रिश्तेदारियाँ और नातेदारियाँ सीमित हो रही हैं, बुजुर्ग अपमानित हो रहे हैं और संबंधों में विघटन हो रहा है। भारतीय महानगरों पर बढ़ते दबाव के कारण कोलकाता, दिल्ली, मुंबई, अहमदाबाद, चेन्नई, जैसे महानगरों में लाखों की संख्या में लोग इन बस्तियों में रहते हैं। इन शहरों के विलासिता और चकाचौंध भरे जीवन, ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं के बीच गंदी, अभावग्रस्त मलिन बस्तियाँ महानगरों के दोषपूर्ण नियोजन, शहरी गरीबी, आर्थिक विषमता, ग्रामीण क्षेत्रों में घटते रोजगार और असंगठित क्षेत्र के रोजगारों में आर्थिक-सामाजिक सुरक्षा नीतियों की कमी की द्योतक हैं।

प्रेमचंद के पश्चात हिन्दी कथा-साहित्य का विकास, मनोवैज्ञानिक, समाजवादी, ऐतिहासिक तथा आंचलिक आदि अनेक धाराओं में हुआ किन्तु कमोबेश सभी धाराओं में महानगरीय बोध का चित्रण यथार्थपरक ढंग से हुआ। स्वतंत्र भारत में जैसे-जैसे महानगरों का विकास हुआ, साहित्य में नगरीय जीवन का चित्रण भी उत्तरोत्तर बढ़ता रहा। नई कहानी के केंद्र में भी शहरीकरण से उपजे संकट- विषमता, पूँजीवाद, सांस्कृतिक अवमूल्यन ही रहे। सत्तर और अस्सी के दशक के लगभग सभी महत्वपूर्ण कथाकारों ने महानगरीय जीवन को केंद्र में रख कहानियाँ अथवा उपन्यास लिखे। 1990 के दशक में कई बड़े आर्थिक-राजनीतिक परिवर्तन देश तथा दुनिया में घटित हुए। साम्यवाद का पराभव हुआ तथा उदारीकरण की नीतियाँ परवान चढ़ीं। हिंदी कहानी की सुदीर्घ यात्रा में नई कहानी, अकहानी, सचेतन कहानी, समान्तर कहानी, जनवादी कहानी जैसे आंदोलन चले। किंतु अस्सी के दशक के बाद से हिंदी साहित्य में कोई बड़ा

आंदोलन नहीं हुआ। इन चार दशकों से अधिक की कालावधि में भूमंडलीकरण सबसे बड़ी घटना है, जिससे विश्व का सामाजिक-आर्थिक तथा राजनीतिक परिदृश्य तो प्रभावित हुआ ही है, साहित्य पर भी इसका गहरा असर पड़ा है। इस कारण भूमंडलीकरण के बाद के समय की हिंदी कहानी को भूमंडलोत्तर हिंदी कहानी कहा गया है। महानगरीय जीवन तथा उसकी समस्याओं, जटिलताओं पर केन्द्रित रचनाएं, हिंदी कथा साहित्य में पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध हैं, जिनका एक संक्षिप्त परिचय पूर्व के अध्याय में दिया गया है।

भारतीय महानगरों में दिल्ली, मुंबई तथा कलकत्ता हिंदी साहित्य में चित्रित होते रहे हैं। हालाँकि इनसे सम्बद्ध साहित्य के कथ्य में विविधता देखने को मिलती है। इसका कारण यह है कि भिन्न-भिन्न महानगरों का चरित्र एक-दूसरे से सर्वथा अलग है। अनेक समर्थ कहानीकारों ने महानगरीय जीवन की विद्रूपताओं और विडम्बनाओं को अभिव्यक्ति दी है। कथ्य के परिवर्तन के साथ-साथ इस समय की कहानियों में शैल्पिक विशिष्टता भी देखी जा सकती है। आज की कहानी में विचारधाराओं का शोर और लेखक संगठनों का दबाव नहीं है। अधिक सूचनासम्पन्नता, वैज्ञानिक चेतना और अंधश्रद्धा निर्मूलन की भावना से ओतप्रोत, पुरानी भावुक शैली के स्थान पर अधिक यथार्थपरक शैली, नैतिकताओं के आग्रह की उपेक्षा कर, परंपराओं के नए और आधुनिक पाठ से युक्त, विषय की संश्लिष्टता को समझकर आज कहानी लिखी जा रही है।

शैलेश मटियानी का बचपन अल्मोड़ा में बीता लेकिन माता-पिता की असमय मृत्यु, अन्य परिजनों द्वारा किए जाने वाले दुर्व्यवहार तथा घोर अर्थाभाव के कारण 1951 में 20 वर्ष की अवस्था में उन्होंने घर छोड़ दिया और दिल्ली चले गए। इसके बाद लगभग 5 वर्ष वे विभिन्न शहरों में मजदूर और घरेलू नौकर के रूप में काम करते रहे। यहाँ तक कि अपने प्रारंभिक दो उपन्यास 'बोरीवली से बोरीबंदर तक', 'कबूतरखाना' तथा अनेक कहानियां उन्होंने मुंबई में एक चाट की दुकान 'कृष्णापुरी चाट हाउस' में जूठी प्लेटें धोने का काम करने के दौरान लिखे थे।

इस भीषण संघर्ष के समय में उन्होंने महानगरों की समस्याओं को सिर्फ देखा ही नहीं बल्कि भोगा भी। महानगरों पर केन्द्रित कथा साहित्य में मटियानी जी ने आर्थिक असमानता, असंगठित कर्मचारियों तथा शहरों में आजीविका कमाने के उद्देश्य से आए लोगों की दुर्दशा, देहव्यापार में धकेल दी गई स्त्रियों के त्रासद जीवन, धनाढ्य तथा शक्ति संपन्न वर्ग के पाखंड, फिल्म निर्माण तथा पत्रकारिता जैसे चकाचौंध और दूर से आकर्षक लगने वाले व्यवसायों की आंतरिक विसंगतियों पर अनेक आयामों से लेखन किया। उनके छोटे-बड़े कुल 30 उपन्यासों में से 16 उपन्यास तथा लगभग 200 कहानियों में से आधे से अधिक महानगरीय जीवन पर केंद्रित हैं। मटियानी जी ने अपने कथा साहित्य में सिर्फ अपने देखे-भोगे को शब्दबद्ध ही नहीं किया और न ही उनका लेखन उपेक्षित वर्ग के दुखों का वर्णन मात्र है बल्कि उनका सम्पूर्ण कथा साहित्य चिंतन की ठोस आधारभूमि पर सृजित है। यह हाशिये पर पड़े लोगों से उनके गहरे समानुभूतिपूर्ण जुड़ाव से उपजा साहित्य है। यह विशिष्टता ही उनके साहित्य को अर्थवत्ता और प्रमाणिकता प्रदान करती है। लोक से निकटता उनकी भाषा को प्रभावशाली बनाती है।

मटियानी जी ने महानगरीय जीवन पर केन्द्रित लेखन का आरंभ बीसवीं शती के छठे दशक में किया था। देश की राजनीति में यह प्रधानमंत्री नेहरू का युग था। देश दासता की धूल को झाड़-पोंछकर अपने बल-बूते खड़ा हो रहा था। विकास की अनेक परियोजनाएं चल रही थीं। प्रधानमंत्री नेहरू ने बांधों को आधुनिक भारत के मंदिर कहा था। लेकिन मटियानी जी ने महानगरों में उस वर्ग की वेदना को महसूस किया जो स्वतंत्र भारत में भी गुलामी की जंजीरों से जकड़ा

हुआ था। जो विकास की परियोजनाओं से कोसों दूर था। मटियानी जी विकास की उस गति के समानांतर हाशिये पर पड़े लोगों का एक विमर्श रचते हैं जिनके लिए दो जून की रोटी का जुगाड़ हो जाना ही विकास है। उनके पास महानगरों के फुटपार्थों पर पलने वाली जिंदगी के अनुभव थे। गुंडे, मवाली, झोपड़पट्टी की वेश्याएं, भिखमंगे, कोढ़ी, जेबकतरे, चाकूबाज लोगों से उनका वास्ता खूब पड़ा था। इस दृष्टि से देखें तो उनके पास जो अनुभव है, वह आतंकित और भयभीत करने वाला है। उन बुरी परिस्थितियों से गुजरने के बाद भी उनके मन में मानवता और मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था है, इससे उनके प्रतिबद्ध लेखक होने का प्रमाण मिलता है। उनकी कहानियों में शुरू से ही ऐसे पात्रों की उपस्थिति आकृष्ट करती है जो आमतौर पर अच्छे आदमी नहीं समझे जाते और सामाजिक विषमताओं एवं उत्पीड़न का शिकार होने के कारण एक असामाजिक अपराधी दुनिया में शरण पाए हुए हैं। लेखक विशेष आग्रह के साथ इस तथ्य को रेखांकित करता दिखाई देता है कि समाज के ऊंचे, बड़े और अभिजात समझे जाने वाले लोगों की अपेक्षा इनमें कहीं अधिक करुणा और मानवीय सद्भाव बचा हुआ है। उनकी विकृति और अपराध की ऊपरी परतों को हटा देने मात्र से उनमें करुणा, सहानुभूति और अंतरंगता की धारा प्रवाहित होती दिखती है। उपन्यास तथा कहानियों के अतिरिक्त उन्होंने महानगरों की समस्याओं पर केन्द्रित अनेक वैचारिक लेख भी लिखे। हंस में धारावाहिक प्रकाशित उनकी लेख श्रृंखला 'मुंबई: खराद पर' काफी चर्चित रही थी।

कथा साहित्य के अतिरिक्त शैलेश मटियानी का कथेतर गद्य भी उल्लेखनीय महत्व का है। उन्होंने रचनात्मक जीवन के आरंभिक दो दशकों में मुख्यतः उपन्यास तथा कहानियाँ ही लिखीं। मुंबई में श्रमिक का कार्य करते हुए, वे साहित्यिक विमर्शों, वाद-विवादों से दूर रहे। किंतु इलाहाबाद आने के बाद उन्होंने निबंध, संस्मरण तथा बाल साहित्य का सृजन किया। मसिजीवी होने के कारण उन्हें इलाहाबाद में चिंतन तथा लेखन के लिए अधिक समय मिला। इलाहाबाद के इन वर्षों में उन्होंने अपने लेखों तथा व्याख्यानों के माध्यम से साहित्यिक विमर्श में सार्थक हस्तक्षेप किया।

अपने संस्मरणों में मटियानी जी ने महानगरों की उन जीवनस्थितियों का वर्णन किया है जो साहित्य में दुर्लभ हैं क्योंकि उनसे गुजरने वाले लोग अपने अनुभवों को रचनात्मक रूप में व्यक्त करने के योग्य नहीं होते। शैलेश मटियानी के संस्मरण इसलिए महत्वपूर्ण हैं क्योंकि इनमें भूख, अपमान, अभाव, जेल जीवन के जो ब्यौरे दर्ज हैं, वे अन्यत्र दुर्लभ हैं। समूचे विश्व साहित्य में ऐसे विवरण कुछ ही लेखकों के साहित्य में मिलते हैं इसलिए राजेन्द्र यादव ने शैलेश मटियानी के दुर्धर्ष जीवन संघर्ष और साहित्य की तुलना में गोर्की, जैक लंदन और ज्यां जेने को याद किया है।

महानगरों में इस प्रकार की तनावपूर्ण परिस्थितियों के कारण एक बड़ा वर्ग भयंकर कष्टों का सामना करते हुए अपना जीवन बिताता है। दरअसल एक व्यवस्थित और सुचारू रूप से चलने वाला समाज अपने मूल्यों, आदर्शों, मान्यताओं के साथ जीवित रहता है। एक संगठित समाज सामाजिक संबंधों, नीतियों तथा लोकाचार से बंधा होता है किंतु आर्थिक विकास और प्रगति की तीव्रता समाज में संक्रमण की अवस्था उत्पन्न करती है। चीजें उलटने-पलटने लगती हैं। व्यक्ति की सोच व मानसिकता में बदलाव आने लगता है औद्योगिक क्रांति और यांत्रिक पूंजीवाद ने आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक ढांचे को परिवर्तित कर दिया है। नगरों की परिस्थिति का परिदृश्य विरोधाभासों से युक्त है। एक तरफ ऊँची-ऊँची अट्टालिकाएं, दूसरी और बदबूदार नारकीय मलिन बस्तियां, बेरोजगारों की भीड़। तरह-तरह के अपराध। यौन शोषण के संगठित संगठन। शराब के अड्डे। भ्रष्ट व्यावसायिक व्यवस्था में पनपता भ्रष्टाचार। प्रत्येक व्यक्ति का धनी

बनने का सपना चाहे जैसे भी हो वह धनि बनना चाहता है। इसलिए यहाँ अपराध, आदत और व्यवसाय के रूप में गोपनीय, पर सुचारू और संगठित रूप में पनपता है। मटियानी जी राजनीतिक संरक्षण प्राप्त ऐसे ठेकेदार दादाओं का जिक्र करते हैं जो गरीबों का जीना और मुहाल किये रहते हैं। नगरीय परिस्थितियों का यह अजीब ढंग महानगरों की देन है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि नगरीकरण की प्रक्रिया से समाज के ढांचे और व्यवस्था में असंतुलन उत्पन्न होता है। एक संक्रमणकालीन और आदर्श शून्यता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। महानगर की पेचीदा और जटिल संस्कृति में भ्रम की अनेक स्थितियां होती हैं जो व्यक्ति पर प्रतिकूल प्रभाव डालती हैं। महानगरों की जिन समस्याओं के प्रति उन्होंने पिछली शती के सातवें-आठवें दशक में आगाह किया था और उनके उत्तरोत्तर बढ़ते जाने का खतरा जताया था वे आज विकराल रूप धारण किए समाज के सामने खड़ी हैं। अपने कथा साहित्य के माध्यम से उन्होंने मानव तस्करी, जुआं, सट्टा, नशीली दवाओं के व्यापार आदि गहिरे कार्यों के प्रति सावधान होने का आह्वान किया था। आज यह समस्याएं इतनी अधिक बढ़ चुकी हैं कि इनसे निपटने के लिए पुलिस की एक अलग इकाई गठित की गई है। अपने संस्मरणों पर उन्होंने इन समस्याओं के बारे में बहुत विस्तार से लिखा है।

शैलेश मटियानी के कथा साहित्य की भाषा अपनी जीवंत और विविधतापूर्ण शब्दावली के कारण रोचक और पठनीय लगती है। अपने पात्रों और परिवेश से शैलेश मटियानी के गहरे जुड़ाव के कारण उनकी कहानियां, कथाभूमि के नागरिकों और वहां के जीवन का शाब्दिक अनुवाद सी लगती हैं। दूसरे रचनाकारों के प्रभाव से स्वयं को मुक्त रखने के प्रयास में उनकी कहानियां अनगढ़ता और स्वाभाविकता लिए हुए हैं। उन्होंने अपने परिवेश को बहुत गहराई के साथ संपूर्णता में देखा। इस गहन अनुभूति की अनुगूंजें उनके साहित्य में सुनी जा सकती हैं। ‘सींखचों पर अटका अतीत’, ‘छोटा सा आकाश’, ‘खंडित सुख की मंजिल’, ‘नीच कौम की सड़क’, ‘दो दुखों का एक सुख’ जैसे शीर्षकों से ही उनकी रचनाओं में वर्णित कथावस्तु का अनुमान लगाया जा सकता है। उनके साहित्य को पढ़ते हुए जितनी बेचैनी और कौतूहल पैदा करने वाला उनका कथ्य होता है उतना ही ध्यान भाषा की और भी जाता है जो पात्रों के वर्गीय यथार्थ के साथ उनकी सामाजिक अवस्थिति बताती है। अच्छी प्रेम कहानियां लिखने के लिए जाने जाने वाले शैलेश इब्बू मलंग जैसी कहानी लिखते हैं जिसमें वे शब्दों के माध्यम से वीभत्स परिवेश को चित्रित करते हैं। इससे उनकी रचना सामर्थ्य का पता चलता है। लोक से निकटता की सुगंध लिए, अनूठे बिम्बात्मक भाषिक विधान वाली उनकी भाषा, उनकी सबसे बड़ी मजबूती रही। उत्तराखंड के आंचलिक परिवेश पर केन्द्रित कथा साहित्य में वे लोक मर्मज्ञ की तरह भाषा का प्रयोग करते हैं जिसमें पूरे पहाड़ को अपना कुटुंब समझने का बोध रहता है। महानगरों पर केन्द्रित कथा साहित्य में वे वहाँ की मिश्रित संस्कृति की भाषा का प्रयोग करते हैं, जो उस समाज का आईना बन जाती है।

इस प्रकार प्रस्तुत शोध महानगरों के उद्भव और विकास, उसकी समस्याओं का परिचय प्राप्त करता हुआ शैलेश मटियानी के साहित्य में प्रवेश करता है। शैलेश द्वारा वर्णित दिल्ली, मुंबई तथा इलाहाबाद के नगरीय परिवेश का विश्लेषण कर महानगरीय संस्कृति के अतीत और उसमें आ रहे परिवर्तनों को समझने का प्रयास इस शोध में किया गया है।

संदर्भग्रंथ :-

शैलेश मटियानी द्वारा लिखित पुस्तकें:-

(1) उपन्यास

1. बोरीवली से बोरीबंदर तक - अनामिका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1959
2. कबूतरखाना - आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, 1960
3. हौलदार - आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1960
4. किस्सा नर्मदाबेन गंगूबाई - आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1961
5. चिट्ठीरसैन - आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, 1961
6. मुख सरोवर के हंस, आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, 1962
7. चौथी मुट्ठी - आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, 1962
8. एक मूठ सरसों - आत्माराम एंड सन्स, दिल्ली, 1963
9. मंजिल दर मंजिल, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1966
10. पुनर्जन्म के बाद, विकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, 1970
11. मायासरोवर, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973
12. भागे हुए लोग- किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1976
13. आकाश कितना अनंत है- विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 1976
14. नागवल्लरी, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1978 .
15. डेरे वाले - सरस्वती विहार, शाहदरा, दिल्ली, 1980
16. बावन नदियों का संगम - विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1981
17. सवित्तरी- विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1981
18. उगते सूरज की किरण-आशु प्रकाशन, इलाहाबाद, 1993
19. मुठभेड़- प्रकल्प प्रकाशन, हल्द्वानी, 1993
20. उगते सूरज की किरण, आशु प्रकाशन, इलाहाबाद, 1993
21. चंद औरतों का शहर, प्रकल्प प्रकाशन, हल्द्वानी, 1993
22. छोटे-छोटे पक्षी, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1995
23. उत्तरकाण्ड- विभोर प्रकाशन, इलाहाबाद, 1996
24. कोई अजनबी नहीं, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, 2009
25. बर्फ गिर चुकने के बाद, प्रकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, 2009
26. रामकली, हिंद पॉकेट बुक्स, गुडगाँव, 2019

27. गोपुली गफूरन, हिंद पॉकेट बुक्स, गुडगाँव, 2019
28. अर्द्धकुंभ की यात्रा, हिंद पॉकेट बुक्स, गुडगाँव, 2019

(2) कहानी संग्रह

1. मेरी तैंतीस कहानियाँ- आत्माराम एंड संस, दिल्ली 1961
2. शैलेश मटियानी की संपूर्ण कहानियाँ(1-5 भाग), संपा.- राकेश मटियानी, प्रकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 2008
3. तीसरा सुख- प्रतिभा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1972
4. सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ-विकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, 1967
5. दूसरो के लिए- आत्माराम एंड संस, दिल्ली, 1967
6. पापमुक्ति तथा अन्य कहानियाँ- आशु प्रकाशन, इलाहाबाद, 1973
7. अहिंसा तथा अन्य कहानियाँ- साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 1977

(3) विविध साहित्य

8. जनता और साहित्य, परिमल प्रकाशन, इलाहाबाद, 1976
9. लेखक की हैसियत से- विकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद, 1987
10. लेखक और संवेदना, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण, 1987
11. मुख्यधारा का सवाल, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, 1997
12. मुख्यधारा का सवाल, साहित्य भण्डार, इलाहाबाद, 1997
13. त्रिज्या, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998
14. पर्वत से सागर तक, राजपाल एंड संस, दिल्ली, 2000
15. मुड़-मुड़ कर मत देख, विभा प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2001
16. विकल्प साहित्यिक पत्रिका, विकल्प प्रकाशन, इलाहाबाद 1967-75
17. जनपक्ष-विचार पत्रिका, विकल्प प्रकाशन इलाहाबाद, 1977

सहायक ग्रंथ :-

1. हिन्दी उपन्यास और यथार्थवाद- डॉ. त्रिभुवन सिंह, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, 1965
2. आज का हिन्दी साहित्य संवेदना और दृष्टि- रामदरश मिश्र, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1967
3. मुर्दाघर, जगदंबाप्रसाद, दीक्षित, राधाकृष्ण, प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, 1974
4. हिंदी उपन्यास- सामाजिक चेतना- कुंवरपाल सिंह, पाण्डुलिपि प्रकाशन, दिल्ली, 1976
5. स्वातंत्र्योत्तर आंचलिक उपन्यास - सुभाषिनी शर्मा, संजीव प्रकाशन, दिल्ली, 1976
6. संवाद सेतु - गिरिराज किशोर, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1983
7. जिंदगी सभ्यता के हाशिये पर, सच्चिदानंद सिन्हा, अभिव्यंजना, नई दिल्ली, 1987
8. शैलेश मटियानी के आंचलिक उपन्यास - प्रेमकुमारी सिंह, भावना प्रकाशन, दिल्ली, 1992
9. उपन्यास की शर्त- जगदीश नारायण श्रीवास्तव, किताबघर, नई दिल्ली, 1993
10. बाम्बे: द सिटी ऑफ ड्रीम्स, डॉ. एम. डी. डेविड, हिमालया पब्लिशिंग हाउस, मुंबई, 1995
11. भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि, ए. आर. देसाई, मैकमिलन इंडिया लिमिटेड, मुंबई, 1996
12. आधुनिकता के पहलू, बिपिनकुमार अग्रवाल, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 1998
13. सामाजिक समस्याएँ- राम आहूजा, रावत पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 2000
14. हिन्दी उपन्यास का इतिहास- गोपाल राय, राजकमल प्रकाशन, 2002
15. मैं और मेरी रचना प्रक्रिया (लेख) - शैलेश मटियानी - (संपा0) - कैलाशचंद्र पंत, मध्यप्रदेश हिंदी अकादमी
16. समकालीन हिंदी उपन्यास- कृष्णदत्त पालीवाल, हरियाणा साहित्य अकादमी पंचकूला, 2004
17. शैलेश मटियानी: व्यक्तित्व और कृतित्व, उर्बीशचंद्र मिश्र, साहित्य भंडार, द्वितीय संस्करण, 2004
18. शैलेश मटियानी: व्यक्तित्व और कृतित्व, उर्बीशचंद्र मिश्र, साहित्य भंडार, द्वितीय संस्करण, 2004
19. भारतीय साहित्य के निर्माता: शैलेश मटियानी (मोनोग्राफ), साहित्य अकादमी, नई दिल्ली, 2018
20. आधुनिक उपन्यासों में महानगर – डॉ. कुसुम अंसल, अभिव्यंजना प्रकाशन, नई दिल्ली
21. शैलेश मटियानी के उपन्यास: परिवेश और रचना संदर्भ- डॉ. हेमंत सोनाले, प्रकाशन संस्थान, नई दिल्ली, 2014
22. कहानी: विचारधारा और यथार्थ- वैभव सिंह, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, 2020
23. नगरीय समाजशास्त्र, वी.एन. सिंह, रावत पब्लिकेशन, नई दिल्ली, 2020
24. हिंदी कहानी: रचना और परिस्थिति (सं.- उदयशंकर), सुरेन्द्र चौधरी, अंतिका प्रकाशन, गाज़ियाबाद
25. समकालीन कहानी का समाजशास्त्र- देवेन्द्र चौबे, प्रकाशन संस्थान, 2001
26. शहर जो खो गया है- विजय कुमार, सेतु प्रकाशन, नोएडा, 2023
27. भारतीय सभ्यता की निर्मिति- भगवान सिंह, साहित्य उपक्रम, 2007
28. एक बड़े लेखक की नियति- बटरोही, अंकित प्रकाशन, 2015

29. साठोत्तर हिंदी कहानी: मूल्यों की तलाश- डॉ. वासुदेव शर्मा, शारदा प्रकाशन, नई दिल्ली, 1986
30. भूमंडलोत्तर कहानी- राकेश बिहारी, आधार प्रकाशन, पंचकूला, 2020

पत्र-पत्रिकाएँ-

- 1 'अक्षरा' विशेषांक, संपा. गोविंद मिश्र, नवम्बर-दिसंबर, 2001
- 2 'पहाड़'-13 विशेषांक, सं. शेखर पाठक, 2001
- 3 हंस, सं. राजेंद्र यादव, सितंबर-2005
- 4 आजकल, अक्टूबर 2001
- 5 अकार, सं.- गिरिराज किशोर, मार्च 2007
- 6 दस्तावेज, संपा.- विश्वनाथ प्रसाद तिवारी, अक्टूबर-मार्च 2008
- 7 उद्भावना, कहानी विशेषांक (अतिथि संपादक- हरियश राय), जनवरी-मार्च 2021

वेबसाइट

1. Samalochan.com
2. Hindisamay.com
3. Worldpopulationreview.com
4. www.hindwi.org